वेदनीय कर्म
मोहनीय कर्म
आयुष्य कर्म
नाम कर्म
गोत्र कर्म
अन्तराय कर्म
सर्वांग विवेचन
व्याख्याकार –
मरुधर केसरी प्रवर्तक
मुनिश्री मिश्रीमल जी
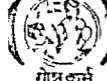
श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

शतक नामक

कर्मग्रन्थ [पंचम भाग]

[मूल, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा अनेक परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

श्री मरुधरकेसरी साहित्यमाला का ४० वां पुष्प

पुस्तक कर्मग्रन्थ [पंचम भाग]

पृष्ठ ५१२

सम्प्रेरक . विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति वीर निर्वाण संवत् २५०२
वि० सं० २०३३, चैत्र
ईस्वी सन् १९७६ अप्रेल

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

मूल्य : १५) पन्द्रह रुपये मात्र

पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्रमणसूर्य
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एव रचनात्मक उद्देश्य है — जैनधम एव दशन से सम्बधित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मागदशक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी महाराज स्वय एक महान विद्वान्, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्ही के मागदशन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तिया चल रही हैं। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अव तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्था का प्रकाशन किया है। अव विद्वानो एव तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कमग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे ह।

कमग्रन्थ जैनदशन का एक महान ग्रन्थ है। इसमे जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एव उनके सहयोगी श्री दवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एव विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट काय समय पर सुन्दर ढग से सम्पन्न हो रहा है। हम सभी विद्वाना, मुनिवरा एव सहयोगी उदार गृहस्था के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते ह कि अतिशीघ्र क्रमश अन्य भागो म हम सम्पूण कमग्रन्थ विवेचन युक्त पाठका की सेवा मे प्रस्तुत करगे। प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुथ भाग कुछ समय पूव ही पाठकों के हाथा मे पहुँच चुके है। विद्वाना एव जिनासु पाठका ने उनका स्वागत किया है। अव यह पचम भाग पाठका के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

—श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

प्रकाशकीय

जैनदर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा; और आत्माओं की विविध दशाओं, स्वरूपो का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिए जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' का समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थो मे 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते है। जैन-साहित्य मे इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्म-ग्रन्थो को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते है।

कर्मग्रन्थो की संस्कृत टीकाएं वडी महत्त्वपूर्ण है। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके है। हिन्दी मे कर्मग्रन्थो का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्राय. दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थो का आधुनिक शैली मे विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निर्देशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य वडी गति के साथ आगे वढता गया। श्री देवकुमारजी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन मे अनेक प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारो, विवेचन कर्ताओ तथा विशेषत प० सुखलालजी के ग्रन्था का सहयोग प्राप्त हुआ और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य वन सका। मैं उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज का समय-समय पर माग दर्शन, श्री रजतमुनिजी एव सुकनमुनिजी को प्रेरणा एव साहित्य समिति के अधिकारिया का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूण प्रेरणा व महकार से ग्रन्थ के सपादन प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह मवथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उमके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हस बुद्धि पाठका से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूवक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एव प्रमादपरिहार मे सहयोगी वनन वाले अभिनन्दनीय होत हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आमुख

जैनदर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दु ख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा मे संसार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दु ख के चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दु.खी, दरिद्र के रूप मे संसार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दु ख का कारण जहा ईश्वर को माना है, वहां जैनदर्शन ने समस्त सुख-दु ख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वयं मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसंपन्न बन जाते है कि कर्त्ता को भी अपने बंधन मे बाध लेते है, मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की बडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे

होते हैं ? यह बडा गम्भीर विपय है। जैनदर्शन मे कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वणन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव मस्कृत भापा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकडा मे कमसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वणन प्राचीन आचार्यों ने गूथा है, कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कमसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्था मे कमग्रन्थ का महत्त्वपूण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाच भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदशन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मागणा, जीव, अजीव के भेद प्रभेद आदि समस्त जैनदशन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भापा मे है और इसकी मस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भापा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीपी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वप पूव तयार किया था।

वतमान मे कमग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था फिर इस ममय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवतन आ गया। अनेक तत्त्वजिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरीजी महाराज माहब से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कमग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जस ममय शास्त्रज्ञ विद्वान एव महास्थविर मत ही इस अत्यन्त श्रममाध्य एव व्ययमाध्य काय को सम्पन्न करा सकत हैं। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकपण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक सस्थाओ व कायक्रमो का आयोजन। व्यस्त जीवन मे आप १० १२ घटा मे अधिक समय तक आज भी शास्त्रस्वाध्याय, साहित्य-सजन आदि मे लीन रहते हैं। गतवप गुरुदेव श्री ने इस काय को आगे बढाने का सकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भापा

शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण, संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारो से अतिनिकट सम्पर्क मे हैं। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्वसाधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन से एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एव दार्शनिक निधि नये रूप मे मिल रही है, यह प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय मे रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओ को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भाग के पश्चात् यह पंचम भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के चार भाग जिज्ञासु पाठको ने पसन्द किये है, उनके तत्त्व-ज्ञान-वृद्धि मे वे सहायक बने है, ऐसी सूचनाएं मिली है। यह पंचम भाग पहले के चार भागो से भी अधिक विस्तृत बना है, विषय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है, विद्वान् संपादक बंधुओ ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थो के पर्यालोचन से विषय का तलस्पर्शी विवेचन किया है। आशा है वह जिज्ञासु पाठको की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

—सुकन मुनि

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

कर्मसिद्धान्त का आशय

कर्मसिद्धान्त भारतीय चिन्तकों एवं ऋषियों के चिन्तन का नवनीत है। यथार्थ में आस्तिक दर्शनों का भव्य प्रासाद कर्मसिद्धान्त पर आधारित है। इसको यों भी कह सकते हैं कि आस्तिक दर्शनों की नींव ही कर्मसिद्धान्त है। भले ही कर्म के स्वरूप-निर्णय में मतैक्य न हो, पर अध्यात्मसिद्धि कर्ममुक्ति के बिन्दु पर फलित होती है। इसमें मतभिन्नता नहीं है। प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा की है। जैनदर्शन में इसका चिन्तन बहुत ही विस्तार और सूक्ष्मता से किया गया है।

संसार के सभी प्राणधारियों में अनेक प्रकार की विषमतायें और विविधतायें दिखाई देती हैं। इसके कारण के रूप में सभी आत्मवादी दर्शनों ने कर्मसिद्धान्त को माना है। अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कर्मसिद्धान्त को मानने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि—

'सभी जीव अपने कर्मों से ही फल का भोग करते हैं, सभी जीव अपने कर्मों के आप मालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म ही से ऊँचे और नीचे हुए हैं।'[1]

आचार्य जयन्त ने भी यह बात बताई है—

जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादि भेदतः।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः॥

१—मिलिन्दप्रश्न पृ० ८०—८१

अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घट दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥[1]

अर्थात्—ससार मे कोई सुखी है तो कोई दुखी है। खेती, नौकरी वगैरह करने पर भी किसी को विशेष लाभ होता है और किसी को नुकसान उठाना पडता है। किसी को अकस्मात सम्पत्ति मिल जाती है और किसी पर बैठे बिठाये बिजली गिर पडती है। किसी को बिना प्रयत्न किये ही फल-प्राप्ति हो जाती है और किसी को यत्न करने पर भी फल-प्राप्ति नही होती है। ये सब बाते किसी दृष्ट कारण की वजह से नही होती। अत इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

इसी तरह ईश्वरवादी भी प्राय इसमे एक मत है कि—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

अर्थात् —प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। मोटे तौर पर यही कर्मसिद्धान्त का आशय है।

कर्म का स्वरूप

उपर्युक्त प्रकार से कर्मसिद्धान्त के बारे मे ईश्वरवादियो और अनीश्वरवादियो, आत्मवादियो और अनात्मवादियो मे मतैक्य होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध मे मौलिक मतभेद है।

लौकिक भाषा मे तो साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते है। जैसे खाना-पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना इत्यादि। लेकिन कर्म का सिर्फ इतना ही अर्थ नही है। इसीलिये परलोकवादी दार्शनिको ने कर्म का विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया है। उनका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा और बुरा कार्य अपना एक सस्कार छोड जाता है। जिसे नैया-

---

1—न्यायमजरी पृ० ४२ (उत्तरभाग)

यिक और वैशेषिक धर्माधर्म कहते हैं। योग उसे आशय और बौद्ध अनुशय नाम से संबोधित करते हैं। कर्म के अर्थ को स्पष्ट करने वाले उक्त नामों में भिन्नता है लेकिन उनका तात्पर्य यह है कि जन्म जरा मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या, मिथ्यात्व से आलिप्त हैं। जिसके कारण वे संसार का वास्तविक स्वरूप समझने में असमर्थ रहते हैं। अतः उनका जो भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है उसमें रागद्वेष का अभिनिवेश—दुराग्रह लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बंधन का कारण होता है।

यदि उन दार्शनिकों के मंतव्यों का सारांश निकाला जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अभिमतानुसार कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में रागद्वेष रहते हैं। यद्यपि यह प्रवृत्ति क्षणिक होती है किन्तु उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। जिसका परिणाम यह होता है कि संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा चलती रहती है और इसी का नाम संसार है। किन्तु जैनदर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से भिन्न है।

जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म केवल संस्कारमात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुल मिल जाता है जैसे दूध में पानी। यद्यपि यह पदार्थ है तो भौतिक किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण आकृष्ट होकर वह जीव के साथ बंध जाता है। ये पदार्थ [illegible] से गृहीत जीव प्रदेश के क्षेत्र में स्थित, सूक्ष्म कर्मप्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से बना हुआ है। आत्मा अपने सब प्रदेशों, सर्वांग से कर्मों को आकृष्ट करती है। प्रत्येक कर्मस्कंध का सभी आत्मप्रदेशों के साथ बंध होता है और वे कर्मस्कंध ज्ञानावरण आदि भिन्न भिन्न प्रकृतियों में विभक्त होते हैं। इस तरह आत्मप्रदेशों पर अनन्तानन्त कर्म पुद्गलस्कंधों का [illegible] रहता है।

इस कथन का आशय यह है कि जहाँ भाव रूप राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के कारण होने

पर भी तज्जन्य सस्कारो को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन का मंतव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा मे आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामो का निमित्त पाकर आत्मा के साथ वध जाता है। कालान्तर मे यही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है।

जैनदर्शन ने रागद्वेषमय आत्मपरिणति और उसके सम्बन्ध मे आकृष्ट सश्लिष्ट भौतिक द्रव्य को क्रमश भावकर्म और द्रव्यकर्म नाम दिया है। उनमे से भावकर्म की तुलना योगदर्शन की वृत्ति एव न्यायदर्शन की प्रवृत्ति से की जा सकती है परन्तु जैनदर्शन के कर्म स्वरूप मे तथा अन्य दर्शनो के कर्म स्वरूप मानने मे अन्तर है। जैनदर्शन मे द्रव्यकर्म के बारे मे माना है कि अपने चारो ओर जो कुछ भी हम अपने चर्म-चक्षुओ से देखते है, वह पुद्‌गल द्रव्य है। यह पुद्‌गल द्रव्य तेईस प्रकार की वर्गणाओ मे विभाजित है और उन वर्गणाओ मे एक कार्मणवर्गणा है, जो समस्त ससार मे व्याप्त है। यह कार्मणवर्गणा ही जीव के भावो का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि॥

अर्थात्—जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामो मे लगती है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप मे उसमे प्रवेश करता है। जो जीव के साथ वध को प्राप्त हो जाता है।

अमूर्त का मूर्त के साथ बंध

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक है। ऐसी दशा मे उन दोनो का वन्ध ही सभव नही है। क्योकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का वन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का वन्ध कैसे सभव है ?

इसका समाधान यह है कि अन्य दर्शनो की तरह जैनदर्शन ने जीव और कर्मप्रवाह को अनादि माना है। ऐसी मान्यता नही है कि जीव पूर्व मे सर्वत शुद्ध था और वाद मे उसके साथ कर्मो का वन्ध हुआ। क्योकि इस मान्यता मे अनेक प्रकार की विसगतिया हैं और शकायें पैदा होती है। जीव और कर्म

के अनादि सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने सयुक्तिक समाधान किया है जो इस प्रकार है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदि॥

अर्थात्—जो जीव संसार में स्थित है यानि जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बंधते हैं और उन कर्मों के बंध से गतियों में जन्म लेना पड़ता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक संसारी जीव अनादि काल से राग-द्वेषयुक्त है। उस राग-द्वेषयुक्तता के कारण कर्म बंधते हैं। जिसके फल स्वरूप विभिन्न गतियों में पुनः पुनः जन्म, मरण होते रहने से नवीन कर्मों का बंध और उस बंध से जन्म मरण संसार का चक्र अबाधगति से चलता रहता है।

जब जन्म लेने से नवीन गति की प्राप्ति होती है तो उसके बाद के क्रम का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य कहते हैं कि—

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायन्ते।
तहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो व॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

जन्म लेने पर शरीर होता है, शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण करने से राग व द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस संसार-चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बंधा हुआ है। जब आत्मा मूर्तिक कर्मों से बंधा है तब [illegible] नवीन कर्म बंधते हैं व कर्म जीव के निमित्त से मूर्तिक कर्मों के साथ ही बंधते हैं। क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ संयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक से

द्वारा ही दिया जाता है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। परन्तु यहाँ यह जानना चाहिये कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्णमृत्तिका की तरह अनादि-सान्त है। जैसे अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वर्ण को विशुद्ध किया जा सकता है, वैसे ही शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

आत्मा के साथ कर्मबन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की है—१—प्रकृतिबन्ध, २—स्थितिबन्ध, ३—अनुभागबन्ध, ४—प्रदेशबध । ग्रहण के समय कर्मपुद्गल एकरूप होते है। किन्तु बन्धकाल मे उनमे आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणो को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है। इसे प्रकृतिबध कहते है। उनमे समय की मर्यादा का निर्धारण होना स्थितिबध है। आत्मपरिणामो की तीव्रता और मदता के अनुरूप कर्मबन्धन मे तीव्र रस और मद रस का होना, अनुभाग बध कहलाता है और कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ एकीभाव या कर्मप्रदेशो की सख्या का निर्धारण होना प्रदेशबध है। प्रथम कर्मग्रन्थ मे मोदक के दृष्टान्त द्वारा कर्मबन्ध के इन चारो प्रकारो को बहुत ही सुन्दर रीति से स्पष्ट किया गया है। जैसे—मोदक पित्तनाशक है या कफनाशक है, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है, वह मोदक कितने काल तक अपने स्वभाव रूप मे बना रहेगा, यह उसकी स्थिति है। उसकी मधुरता या कटुता का तारतम्य रस पर अवलम्बित है और मोदक का वजन कितना है, यह उसके परमाणुओ पर निर्भर है। इस प्रकार मोदक का यह रूपक कर्मबन्धन की प्रक्रिया का यथार्थ निर्देशन कर देता है।

उक्त प्रकृतिबध आदि बध के चार प्रकारो मे से आत्मा की योग शक्ति प्रकृति और प्रदेशबध की कारण है और स्थिति एव अनुभाग बध के कारण कापायिक परिणाम हैं। कर्मबधन दो तरह का होता है—१—साम्परायिक, एव २—ईर्यापथिक बध। सकषायी का बध साम्परायिक होता है। यह अनन्त ससार का कारण है और अकषायी का बध ईर्यापथिक होता है, जिसमे प्रथम समय मे कर्म परमाणु आत्मा के साथ बंधते है और दूसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाते हैं। यह बन्ध आत्मा पर अपना कुछ भी प्रभाव नही दिखलाता है।

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व

कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे में सांख्य के सिवाय प्रायः सभी वैदिक दर्शन किसी न किसी रूप से आत्मा को ही कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता मानते हैं। किन्तु सांख्य भोक्ता तो पुरुष को मानता है और कर्त्ता प्रधान प्रकृति को कहता है।

ईश्वर को जगन्नियन्ता मानने वाले वैदिक दर्शन यद्यपि जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र लेकिन उसका फल भोगने में परतन्त्र मानते हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कर्म फल देने की निर्णायक शक्ति ईश्वर है। उसकी आज्ञा निर्णय के अनुसार जीव कर्मफल का भोग करता है। जैसा कि महाभारत में लिखा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात्—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

भगवद्गीता में ईश्वर को प्राणियों के सुख-दुःख और कर्मफल का निर्णायक बताने के लिए लिखा है—

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।

मैं जिसका निश्चय कर देता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है।

इस प्रकार से कर्म का फल ईश्वराधीन होने पर भी ईश्वर फल का निर्णय प्राणियों के सत्-असत्, अच्छे-बुरे कर्मों के अनुरूप ही करता है। जैसा कि भगवद्गीता में लिखा है—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः॥५ १५॥

परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को। अर्थात् प्राणिमात्र को अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार सृष्टि का संचालक ईश्वर परमेश्वर को मानने वाले दर्शन परमेश्वर के सिवाय अन्य को कर्मफल का दाता नहीं मानते हैं।

उक्त मान्यता से विलक्षण जैनदर्शन का दृष्टिकोण है जिसमें कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे में स्पष्ट दिशानिर्देश किया गया है।

वस्तु के निरूपण की जैनदर्शन मे दो दृष्टियाँ है—जिन्हें निश्चयनय और व्यवहारनय कहते है। जो परनिमित के विना वस्तुस्वरूप का कथन करता है उसे निश्चयनय कहते है और परनिमित्त की अपेक्षा से जो वस्तु का कथन करता है, वह व्यवहारनय है। जैनदर्शन मे जीव के कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विचार भी इन दोनो नयो मे किया गया है।

कर्म का स्वरूप पहले वतलाया जा चुका है और यह भी सकेत किया गया है कि कर्म का जीव के साथ अनादि सम्वन्ध है। इन कर्मों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के वारे मे जव हम निश्चय दृष्टि से विचार करते है तो जीव न तो द्रव्य कर्मो का कर्त्ता ही प्रमाणित होता है और न उनके फल का भोक्ता ही। क्योकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं, पुद्गल द्रव्य के विकार है, इसीलिए पर है। उनका कर्त्ता चेतन जीव नही हो सकता है। चेतन का कर्म चैतन्य रूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतन रूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर सकर दोप उपस्थित हो जायेगा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता नही है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि का सम्वन्ध होने से उष्ण हो जाता है। किन्तु इस उष्णता का कर्त्ता जल को नही कहा जा सकता है, क्योकि उष्णता तो अग्नि का धर्म है और वह जल मे अग्नि के सवन्ध से आई है, अत. आरोपित है। अग्नि का सम्वन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावो का निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य कर्म रूप परिणत होते है, उनका कर्त्ता स्वय पुद्गल है, जीव उनका कर्त्ता नही हो सकता है, जीव तो अपने भावो का कर्त्ता है। इसी वात को समयप्राभृत मे स्पष्ट किया है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवोऽपि परिणमदि ॥ ८६ ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हपि ॥ ८७ ॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएणभावेण।
पुग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८८ ॥

जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावो को करता है किन्तु उन भावो का निमित्त पाकर कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल कर्म रूप परिणत हो जाते हैं तथा कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्त को पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनो एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तो भी न तो जीव पुद्गल कर्मों के गुणो का कर्त्ता है और न पुद्गल कर्म जीव के गुणो के कर्त्ता हैं, किन्तु परस्पर मे दोनो एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अत आत्मा अपने भावो का ही कर्त्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावो का कर्त्ता नही है।

उक्त कथन पर यह शका हो सकती है कि जैनदर्शन भी सांख्यदर्शन के पुरुष की तरह आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता और प्रकृति की तरह पुद्गल को ही कर्त्ता मानता है। किन्तु ऐसी बात नही है। सांख्यदर्शन का पुरुष तो सर्वथा अकर्त्ता है किन्तु जैनदर्शन मे आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता नही माना है। वह अपने स्वाभाविक भाव—ज्ञान, दर्शन, सुख आदि तथा वैभाविक भाव—रागद्वेष मोह आदि का कर्त्ता है किन्तु उनके निमित्त से जो पुद्गलो मे कर्म रूप परिणमन होता है, उसका वह कर्त्ता नहीं है। उक्त कथन का साराश यह है कि वास्तव मे उपादान कारण को ही किसी वस्तु का कर्त्ता कहा जा सकता है तथा निमित्तकारण मे जो कर्त्ता का व्यवहार किया जाता है वह व्यावहारिक लौकिक दृष्टि से किया जाता है। कर्तृत्व के बारे मे जो बात कही गई है वही भोक्तृत्व के बारे मे भी जाननी चाहिए। जो जिसका कर्त्ता होता है वही उसका भोक्ता हो सकता है और जो जिसका कर्त्ता ही नही वह उसका भोक्ता कैसे हो सकता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे मे दृष्टिभेद से जैनदर्शन की द्विविध व्याख्या है कि वास्तव मे तो आत्मा अपने ही स्वाभाविक और वैभाविक भावो का कर्त्ता और भोक्ता है लेकिन व्यवहार से उसे स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले सुख-दुःखादि का भोक्ता कहा जाता है।

इसी प्रसग मे यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का नियन्ता नही मानता है अत कर्मफल देने मे भी उसका हाथ नही है कर्म अपना फल स्वय देते हैं। उनके लिए अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता

नही है। जैसे शराब नशा पैदा करती है और दूध ताकत देता है। जो मनुष्य शराब पीता है उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीर में पुष्टता आती है। शराब या दूध पीने के बाद यह आवश्यकता नही रहती है कि उसका फल देने के लिए कोई दूसरी नियामक शक्ति हो। इसी प्रकार जीव के प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्द के द्वारा जो कर्म परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं तथा रागद्वेष का निमित्त पाकर उसमे बध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं मे भी शराब और दूध की तरह शुभ या अशुभ करने की शक्ति रहती है जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव दिखलाती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक और दुखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बधने वाले कर्मपरमाणुओ पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर मे उससे अच्छा फल मिलता है तथा यदि भाव बुरे हों तो बुरा असर पडता है और कालान्तर मे फल भी बुरा ही मिलता है।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाये तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है, वहाँ घातक को दोष का भागी नही होना चाहिए, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वाले को मृत्यु का दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषो के द्वारा अपराधियो को दण्ड दिलाता है, वे पुरुष अपराधी नही कहे जाते, क्योंकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते हैं। इसी तरह किसी का घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है, उसके पूर्वकृत कर्मो का फल भुगतवाता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा नियत की होगी, तभी तो उसका वध किया गया है। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है अत घातक का कार्य ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है तो कहना होगा कि ससार दशा मे कोई भी प्राणी वस्तुत स्वतन्त्र नही, सभी अपने-अपने कर्मो मे बंधे हुए हैं—"कर्मणा बध्यते जन्तु" (महाभारत) और कर्म की अनादि परम्परा है। ऐसी परिस्थिति मे 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' अर्थात—कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है, के न्याया-नुसार किसी भी काम को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नही है।

इस स्थिति में यह कहा जाय कि ऐसी दशा मे तो कोई भी व्यक्ति मुक्ति

लाभ नहीं कर सकता क्योंकि जीव कर्म से बंधा हुआ है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्तिलाभ और कुमार्ग पर चलने से कर्मबंध होता है। ऐसी दशा में बुद्धि के कर्मानुसारिणी होने से मुक्तिलाभ में कोई बाधा नहीं आती है।

आत्मा का स्वातंत्र्य और पारतन्त्र्य

साधारणतया कहा जाता है कि आत्मा कर्मों के कर्तृत्व काल में स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल में परतन्त्र। जैसे कि विष खाने के बारे में मनुष्य स्वतन्त्र है वह खाये या न खाये लेकिन विष खा लेने के बाद मृत्यु से बचना उसके हाथ की बात नहीं है। यह एक स्थूल उदाहरण है क्योंकि उपचार से निर्विष भी हुआ जा सकता है मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा के भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों अवसरों पर स्वातंत्र्य और पारतन्त्र्य फलित होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे करते हैं—

सहजतया आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर पूर्ण विजय प्राप्त करके शुद्ध बन कर मुक्त हो सकती है। किन्तु कभी कभी पूर्वार्जित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह जैसा चाहे वैसा कभी भी नहीं कर सकता है। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर चलना चाहती है किन्तु कर्मोदय की बलवत्ता से उस मार्ग पर चल नहीं पाती है फिसल जाती है। यह है आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा पराधीन—कर्माधीन हो बन जाता है ऐसा नहीं है। उस स्थिति में भी आत्मा का स्वातंत्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है विपाक (फलोदय) का अनुभव कर सकती है, फलोदय को अन्य रूप में परिवर्तित कर सकती है। इसमें आत्मा का स्वातंत्र्य मुख्य है। परतन्त्रता इस दृष्टि से है कि जिन कर्मों का ग्रहण किया है, उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती है।

भले ही सुदीर्घ काल तक भोगे जाने वाले कर्म थोड़े समय के लिए भोगे जायें, किन्तु सबको भोगना ही पडता है।

कर्मभोग के प्रकार

जीव द्वारा कर्म फल के भोग को कर्म की उदयावस्था कहते हैं। उदयावस्था मे कर्म के शुभ या अशुभ फल का जीव द्वारा वेदन किया जाता है। यह कर्मोदय दो प्रकार का है—(१) प्रदेशोदय और (२) विपाकोदय।

जिन कर्मो का भोग सिर्फ प्रदेशो मे होता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं और जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते हैं, वह विपाकोदय है। कर्मो का विपाकोदय ही आत्मा के गुणो को रोकता है और नवीन कर्मबन्ध मे योग देता है। जबकि प्रदेशोदय मे नवीन कर्मो के बन्ध करने की क्षमता नही है और न वह आत्मगुणो को आवृत करता है। कर्मो के द्वारा आत्मगुण प्रकट रूप से आवृत होने पर भी कुछ अशो मे सदा अनावृत ही रहते है, जिससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता रहता है। कर्मावरणो के सघन होने पर भी उन आवरणो मे ऐसी क्षमता नही है जो आत्मा को अनात्मा, चेतन को जड बना दें।

कर्मक्षय की प्रक्रिया

जैनदर्शन की कर्म के बन्ध, उदय की तरह कर्मक्षय की प्रक्रिया भी सयुक्तिक और गम्भीरता लिए हुए है। स्थिति के परिपाक होने पर कर्म उदयकाल मे अपना वेदन करने के बाद झड जाते है। यह तो कर्मो का सहजक्षय है। इसमे कर्मो की परम्परा का प्रवाह नष्ट नही होता है। पूर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं लेकिन साथ ही नवीन कर्मो का बध चालू रहता है। यह कर्मो के क्षय की यथार्थ प्रक्रिया नही है। कर्मो का विशेष रूप मे क्षय करने के लिए जिससे आत्मा अ-कर्म होकर मुक्त हो सके, विशेष प्रयत्न करना पडता है। यह प्रयत्न सयम, तप, त्याग आदि साधनो द्वारा किए जाते हैं। अप्रमत्तसयत नामक सातवें गुणस्थान तक तो उक्त साधनो द्वारा कर्मक्षय विशेष रूप से होता रहता है और सातवे गुणस्थान मे आत्म-शक्ति मे प्रौढता आने के बाद जब आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान की प्राप्ति करती है तो विशेष रूप से कर्मक्षय करने के लिए विशेष प्रकार की प्रक्रिया होती है। वह इस प्रकार है—

(१) अपूव स्थितिघात (२) अपूव रसघात, (३) गुणश्रणि, (४) सक्रमण (५) अपूव स्थितिबध।

उक्त पाचो का सामान्य विवचन इस तरह है—

सव प्रथम आत्मा अपवतनाकरण के द्वारा कर्मों का अन्तमुहूत म स्थापित कर गुणश्रणि का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है कि—उदय कालीन समय को लेकर अन्तमुहूर्त पयन्त प्रथम उदयात्मक समय को छोडकर अन्तमुहूत क शेष जितने समय हैं इनम कमदलिको को क्रमवद्ध श्रेणी रूप से स्थापित किया जाता है। प्रथम समय म स्थापित कमदलिक सबस कम होत है। दूसरे समय स स्थापित कमदलिक प्रथम समय म स्थापित कमदलिको म असख्यात गुणे अधिक तीसर समय म द्वितीय समय स भी असख्यात गुणे अधिक होते है। यह क्रम अन्तमुहूर्त के चरम समय तक जानना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक समय कमदलिको की स्थापना असख्यात गुणी अधिक हान के कारण इसे गुणश्रणि कहा जाता है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति क कर्मों का बधन करता है जसा उसने पहल कभी नही किया है। अत इस अवस्था का बध अपूव स्थितिबध कहलाता है। स्थितिघात और रसघात भी इस समय म अपूव होता है। गुण सक्रमण म अशुभ कर्मों की शुभ कम रूप परिणति होती जाती है।

अष्टम गुणस्थान स लेकर आग के गुणस्थानो म ज्यो ज्यो आत्मा बढती है त्यो त्यो अल्प समय म कमदलिक अधिक मात्रा म क्षय होते जाते हैं।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति म बढती हुई आत्मा जब परमात्मशक्ति का जागृत करने के लिय सन्नद्ध हो जाती है आयु अल्प रहता है एव कमदलिक अधिक रहत हैं तब इन अधिक स्थिति और दलिको वाल कर्मो को आयु के समय के बराबर करन क लिय कवलीसमुद्घात होता है। इस समुद्घात काल म अधिक शक्तिशाली माने जाने वाल कर्मो को आत्मा अपन वीय स पराजित कर दुबल बना देती है। उनकी स्थिति और सख्या, प्रदेश उतन ही रह जात हैं जितन की आयुकम म रहत हैं। एसा होन पर शेष रहे कर्मों का आयुकम की समयस्थिति के साथ ही क्षय हो जान स आत्मा पूण निष्कर्म

होकर सिद्ध-बुद्ध हो जाती है। यही आत्मा का लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने में आत्मा के पुरुषार्थ की सफलता है।

इस प्रकार से जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप से निरूपण किया गया है। जिसमें अनेक उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाया है। विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित किया है और आत्मा में स्वतन्त्रता प्राप्ति का उत्साह जगता है। स्वपुरुषार्थ पर विश्वास करने की प्रेरणा मिलती है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत शतक नामक कर्मग्रन्थ श्री देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्मग्रन्थों में पांचवां कर्मग्रन्थ है। इससे पूर्व के चार कर्मग्रन्थ क्रमश (१) कर्मविपाक (२) कर्मस्तव, (३) बंधस्वामित्व (४) षडशीति नामक इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके है। उन कर्मग्रन्थों की प्रस्तावना में उनके बारे में परिचय दिया गया है। यहाँ उसी क्रम से इस पंचम कर्मग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस पंचम कर्मग्रन्थ में प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन-कौन प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताक, अध्रुवसत्ताक, सर्वदेशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान, अपरावर्तमान, है यह बतलाया है।

इसके बाद उन्ही प्रकृतियों में कौन-कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भव-विपाकी और पुद्गलविपाकी है, यह बताया गया है।

अनन्तर कर्म प्रकृतियों के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध, इन चार प्रकार के बंधों का स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबंध के कथन के प्रसंग में मूल तथा उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बंधों को गिनाया है। स्थितिबंध को बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवों के उसका प्रमाण निकालने की रीति और उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का वर्णन किया है। अनुभाग (रस) बंध को बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियों में तीव्र या मंद रस पड़ने के कारण, शुभाशुभ रस का विशेष स्वरूप, उत्कृष्ट

व जघय अनुभाग बध क स्वामी आदि का वणन किया है। प्रदेशबध का वणन करत हुए वगणाओ का स्वरूप, उनकी अवगाहना बद्धकमदलिका का मूल एव उत्तर प्रकृतिया मे बटवारा कमक्षपण की कारण ग्यारह गुण श्रेणियां, गुणश्रेणी रचना का स्वरूप गुणस्थाना का जघय और उत्कृष्ट अन्तरा प्रसगवश पल्योपम सागरोपम और पुदगलपरावत के भदा का स्वरूप उत्कृष्ट व जघय प्रदेशबध के स्वामी, योगस्थान वगरह का अल्प-बहुत्व और प्रसगवश लाव वगरह का स्वरूप बतलाया है।

अत म उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि का कथन करते हुए ग्रथ का समाप्त किया है।

पचम कमग्रथ की रचना का आधार—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने इन नवीन कमग्रथो के नाम प्राचीन कम ग्रथा के आधार पर ही रखे हैं तथा उनके आधार पर ही इनकी रचना हुई है। इसका प्रमाण यह है कि पचम कमग्रथ की टीका के प्रारम्भ म श्री देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन शतक के प्रणेता श्री शिवशमसूरि का स्मरण किया है और अन्त म लिखा है कि कमप्रकृति पचसग्रह बहतशतक आदि ग्रथा के आधार पर इस शतक की रचना की है। इसके अतिरिक्त इसकी रचना के मुख्य आधार कमप्रकृति और पचसग्रह प्रतीत होते हैं। क्योकि इसकी टीका म अनेक स्थानो म सदभ ग्रथा के रूप म कमप्रकृति चूर्णि कमप्रकृति टीका पचसग्रह और पचसग्रह टीका का उल्लेख किया गया है। इन ग्रथो के अलावा अय ग्रथा का उल्लेख विशेषरूप म नही हुआ है। शतक की अनेक गाथाओ पर पचसग्रह की स्पष्ट छाप है कहीं-कहीं तो थोडा सा ही परिवतन पाया जाता है। शतक की ३६ वी गाथा का विवेचन ग्रथकार ने पहले पच सग्रह के अभिप्रायानुसार किया है और उसके बाद कमप्रकृति के अभिप्राय नुसार। कमप्रकृति और पचसग्रह म कुछ बातो को लेकर मतभेद है। कम प्रकृति का मत प्राचीन प्रतीत होता है फिर भी कहीं-कहीं कमग्रथकार का झुकाव पचसग्रह के मत की ओर विशेष नजर पडता है। यद्यपि उन्होने दोनो मतो को समान भाव से अपने ग्रथ म स्थान दिया है और कमप्रकृति को स्थान-स्थान पर प्रमाण रूप म उपस्थित किया है तो भी पचसग्रह के मत को

उद्धृत करते हुए कही-कही उसे अग्रस्थान देने मे भी वे नही चूके हैं। अतएव यह कहना होगा कि विशेष इन्ही दोनो ग्रन्थो के आधार पर उन्होने शतक की रचना की है।

इस प्रकार से प्राक्कथन के रूप मे कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी कुछ एक पहलुओ पर सक्षिप्त प्रकाश डालने के साथ ग्रन्थ की रूपरेखा बतलाई है। इन विचारो के प्रकाश मे कर्मसाहित्य का विशेष अध्ययन किया जाये तो कर्म-सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान हो सकता है। यद्यपि कर्मसाहित्य अपनी गभीरता के कारण अभ्यासियो को नीरस प्रतीत होता है, लेकिन क्रम-क्रम से इसके अध्ययन को बढाया जाये तो बहुत ही सरलता से समझ मे आ जाता है। इसके लिये आवश्यक है जिज्ञासावृत्ति और सतत अभ्यास करते रहने का अदम्य उत्साह। पाठकगण उक्त सकेत को ध्यान मे रखकर कर्मग्रन्थ का अध्ययन करेगे, यही आकाक्षा है।

सम्पादक—

श्रीचन्द सुराना
देवकुमार जैन

[शतक नामक पचम कर्मग्रन्थ]

श्री वीतरागाय नम

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

शतक

पचम कर्मग्रन्थ

इष्टदेव के नमस्कार पूर्वक ग्रन्थकार ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का निर्देश करते हैं—

नमिय जिण धुवबधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता।
सेयर चउहविवागा वुच्छ बधविह सामी य ।।१।।

शब्दार्थ—नमिय—नमस्कार करके जिण—जिनेन्द्र देव को, धुवबध—ध्रुवबधी उदय—ध्रुव उदयी सत्ता—ध्रुव सत्ता घाइ—घाति (सर्वघाती, देशघाती), पुन—पुण्य प्रकृति परियत्ता—परावर्तमान, सेयर—प्रतिपक्ष सहित, चउह—चार प्रकार से, विवागा—विपाक दिखाने वाली वुच्छ—कहूंगा, बधविह—बध के भेद, सामी—स्वामी (बध के स्वामी) य—उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि।

गाथार्थ—जिनेश्वर भगवान को नमस्कार करके ध्रुवबधी, ध्रुव उदयी, ध्रुव सत्ता, घाती, पुण्य और परावर्तमान तथा इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियां सहित तथा चार प्रकार से विपाक दिखाने वाली प्रकृतियां, बधभेद, उनके स्वामी और उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि का वर्णन करूंगा।

विशेषार्थ—गाथा के तीन भाग है—१. नमस्कारात्मक पद, २. ग्रन्थ के वर्ण्य विषयो का संकेत और ३. उनके कथन करने की प्रतिज्ञा। यानी गाथा मे ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के साथ इस कर्मग्रन्थ मे निरूपण किये जाने वाले विषयो के नाम निर्देश पूर्वक अपने ग्रन्थ की सीमा का संकेत किया है।

'नमिय जिणं' पद से जिनेश्वर देव को नमस्कार किया है। इसका कारण यह है कि जिनेश्वर देव ने उन समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है जिनका वंध, उदय और सत्ता मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व तक संसारी जीवो मे विद्यमान रहती है। साथ ही इस पद से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्म प्रकृतियाँ चाहे कैसी भी स्थिति वाली हो, चाहे उनके विपाकोदय का कैसा भी रूप हो लेकिन उनकी शक्ति जीव की शक्ति, अध्यवसाय के समक्ष हीन है और वे विकासोन्मुखी आत्मा के द्वारा अवश्य ही विजित होती है। ये प्रकृतियाँ तभी तक अपने प्रभाव को प्रदर्शित करती है जब तक जीव आत्मोपलब्धि के लक्ष्य की ओर अग्रसर नही होता है और अपनी शक्ति से अज्ञात रहता है। लेकिन जैसे ही अन्तर मे उन्मेष, स्फूर्ति, उत्साह और स्वदर्शन की वृत्ति जाग्रत होती है वैसे ही वलवान माने जाने वाले कर्म नि.शेप होने की धारा के अनुगामी वन जाते है।

कर्मविजेता जिनेश्वर देव वंध, उदय और सत्ता स्थिति को प्राप्त हुए कर्मों को जीतते है। लेकिन जीव के परिणामो की विविधता से कर्म प्रकृतियो के वंध आदि के ध्रुव, अध्रुव, घाती, अघाती आदि अनेक रूप हो जाते है, जो उनकी अवस्थायें कहलाती है। इन होने वाली अवस्थाओ मे से 'धुववंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता' पद द्वारा ध्रुव-वंध, ध्रुव उदय, ध्रुव सत्ता, घाति, पुण्य, परावर्तमान इन छह का नामोल्लेख करके प्रतिपक्षी छह नामो को समझने के लिये 'सेयर सेतर'

पद दिया है तथा 'चउह विवागा' पद से कमा को चार प्रकार से होने वाली विपाक अवस्थाआ का सकेत किया है । अर्थात् कम प्रकृतिया की निम्नलिखित सोलह अवस्थायें होती ह, जिन्हे जिनेश्वर देव ने जीत कर जिन पद की प्राप्ति की है—

(१) ध्रुव वधिनी, (२) अध्रुव वन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अध्रुवोदया, (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी, (८) अघातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावतमाना, (१२) अपरावतमाना, (१३) क्षेत्र विपाकी, (१४) जीव विपाकी, (१५) भव विपाकी, (१६) पुदगल विपाकी ।

कर्मों की उदय और सत्ता रूप अवस्था होने के लिये यह आवश्यक ह कि उनका जीव के साथ वध हो । जब तक जीव ससार में स्थित है, योग व कपाय परिणति का सबन्ध जुडा हुआ है तब तक कम का वध होता है । योग के द्वारा कम वगणाओ का ग्रहण होता और आत्म गुणा के आच्छादन करने का उन कम पुद्गलो में स्वभाव पडता है तथा कपाय के द्वारा आत्मा के साथ कर्मों के सबद्ध रहने की समय मयादा एव उनम फलोदय के तीव्र, मंद आदि रूप अशा का निर्माण होता है । इस प्रकार से कमवध के चार रूप होते हैं—(१) प्रकृति वध (२) स्थिति वध, (३) अनुभाग वन्ध, (४) प्रदेश वन्ध ।

उक्त चार प्रकार के वध भेदो का स्वामी जीव है । जीव अपने परिणामो द्वारा कम वगणाआ में प्रकृति, स्थिति आदि चार अशो का निर्माण करता है । अतएव प्रकृति, स्थिति बंध आदि चार रूप जैसे कम बंध के हैं वैसे ही उनके स्वामिया के भी हा जाते हैं कि कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वन्ध का स्वामी है ।

इस प्रकार से 'नमिय जिण' से लेकर 'सामी' तक के गाथाश द्वारा कमविजेता जिनेश्वरदेव को नमस्कार पूवक यह स्पष्ट कर दिया है कि

जब तक जीव सकर्मा है, संसार मे परिभ्रमण कर रहा है तब तक वह ध्रुव बन्ध, अध्रुव बंध आदि अवस्था वाले कर्मों से सहित है। अपने मन, वचन, काय प्रवृत्ति एवं कापायिक परिणामो से उनका स्वामी कहलाता है—यानी कर्मग्रहण करने का अधिकारी बना रहता है।

लेकिन जब कर्मों को निःशेष करने लिये सन्नद्ध होता है तब वह कर्म मल की सत्ता के उद्रेक को शमित करने या कर्मों की सत्ता को निःशेपतया क्षय करने रूप दोनो उपायो मे से किसी एक को अपनाता है। कर्मों का उपशम करना उपशम श्रेणि और क्षय करना क्षपक श्रेणि कहलाती है। इन दोनो श्रेणियो का संकेत गाथा मे 'य' शब्द से किया है। उपशम या क्षपक श्रेणि पर आरोहण किये बिना जीव अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन नही कर पाता है। यह बात दूसरी है कि उपशम श्रेणि मे अवस्थित जीव सत्तागत कर्मों के उद्वेलित होने पर आत्मदर्शन के मार्ग से भ्रष्ट होकर अपनी पूर्व दशा को प्राप्त हो जाता है किन्तु क्षपक श्रेणि वाला सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओ का क्षय करके आत्मोपलब्धि द्वारा अनन्त संसार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार से गाथा में कर्ममुक्त आत्मा, कर्ममुक्ति के उपाय—मार्ग और संसारी जीव के होने वाली कर्मों की बंध, उदय आदि अवस्थाओ का संकेत किया गया है कि जब तक जीव संसार में है तब तक कर्म प्रकृतियो की अनेक अवस्थाओ से संयुक्त रहेगा। इन कर्मों से मुक्ति के लिये जीव के उपशम या क्षय रूप आत्मपरिणाम ही कारण है और कर्ममुक्ति के बाद आत्मा परमात्मा पद प्राप्त कर लेती है। इसीलिये इन अवस्थाओ का संकेत करने के लिये गाथा मे ग्रन्थ के वर्ण्य विषय निम्न प्रकार है—

(१) ध्रुवबंधिनी, (२) अध्रुवबन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अध्रु-

वोदया (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी, (८) अघातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावतमाना, (१२) अपरावत माना (१३) क्षेत्रविपाकी, (१४) जीवविपाकी, (१५) भवविपाकी, (१६) पुद्गलविपाकी[1], (१७) प्रकृतिबंध (१८) स्थितिबन्ध, (१९) अनुभागबंध, (२०) प्रदेशबंध, (२१) प्रकृतिबंध स्वामी, (२२) स्थितिबन्ध स्वामी, (२३) अनुभागबंध स्वामी, (२४) प्रदेशबंध स्वामी, (२५) उप शम श्रेणि, (२६) क्षपक श्रेणि।

गाथा में निर्दिष्ट कुछ विषयो की परिभाषायें नीचे लिखे अनु सार है—

(१) ध्रुवबंधिनी प्रकृति—अपने कारण के होने पर जिस कर्म प्रकृति का बंध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबंधिनी प्रकृति कहते है। ऐसी प्रकृति अपने बंधविच्छेद पर्यन्त प्रत्येक जीव को प्रतिसमय बंधती है।[2]

(२) अध्रुवबंधिनी प्रकृति—बंध के कारणों के होने पर भी जो प्रकृति बंधती भी है और नहीं भी बंधती है, उसे अध्रुव बन्धिनी प्रकृति कहते है। ऐसी प्रकृति अपने बन्ध विच्छेद पर्यन्त बंधती भी है और बंधती भी नही है।

---

१ कमग्रन्थ से मिलता-जुलता निर्देश पचसग्रह में निम्न प्रकार है—

> धुवबंधि धुवोदय सव्वघाइ परियत्तमाणअसुभाओ।
> पचवि सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा॥ ३।१४

गाथा में ध्रुवबंधी ध्रुवोदया सर्वघाति परावर्तमान और अशुभ इन पांच के प्रतिपक्षी द्वारा तथा चार प्रकार के विपाकों का संकेत किया है। कुल मिलाकर चौदह नाम होते हैं।

२ नियहेउसंभवेवि हु भयणिज्जो जाण होइ पयडीण।
बधो ता अधुवाओ धुवा अभयणिज्जबधाओ॥

—पचसंग्रह ३।३५

ध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बन्धविच्छेद काल पर्यन्त प्रत्येक समय हरएक जीव को बंध होता रहता है और अध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बंधविच्छेद काल तक में भी सर्वकालावस्थायी बंध नही होता है। यहा ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी रूपता मे सामान्य बंधहेतु की विवक्षा है विशेप बंधहेतु की नही। क्योकि जिस प्रकृति के जो खास बंधहेतु है वे हेतु जब-जब मिले तब तक उस प्रकृति का बंध अवश्य होता है, चाहे वह अध्रुवबन्धिनी भी क्यो न हो। इसलिये अपने सामान्य बन्धहेतु के होने पर भी जिस प्रकृति का बंध हो या न हो वह अध्रुवबन्धिनी है और अवश्य बंध हो वह ध्रुवबन्धिनी है।

(३) **ध्रुवोदया प्रकृति**—जिस प्रकृति का उदय अविच्छिन्न हो अर्थात् अपने उदय काल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिस प्रकृति का उदय बराबर बिना रुके होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते है।

(४) **अध्रुवोदया प्रकृति**—अपने उदय काल के अंत तक जिस प्रकृति का उदय बराबर नही रहता है, कभी उदय होता है और कभी नही होता है, यानी उदयविच्छेद काल तक में भी जिसके उदय का नियम न हो उसे अध्रुवोदया प्रकृति कहते है।[1]

सामान्य से संपूर्ण कर्म प्रकृतियों के पाच उदय हेतु है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव और पांचो के समूह द्वारा समस्त कर्म प्रकृतियो का उदय होता है। एक ही प्रकार के द्रव्यादि हेतु समस्त कर्म प्रकृतियो के उदय मे कारण रूप नही होते है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि हेतु कारण रूप होते है। कोई द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उदय

---

१ अव्वोच्छिन्नो उदओ जाण पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ॥

—पंचसग्रह ३।३७

में कारण रूप होती है और कोई सामग्री किसी के उदय में हेतु रूप होती है। लेकिन यह निश्चित है कि जहा एक भी उदय हेतु है, वहा अन्य सभी हेतु समूह रूप में उपस्थित रहते है।[1]

(५) ध्रुवसत्ताक प्रकृति—अनादि मिथ्यात्वी जीव को जो प्रकृति निरतर सत्ता में होती है, सवदा विद्यमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते ह ।

(६) अध्रुवसत्ताक प्रकृति—मिथ्यात्व दशा में जिस प्रकृति की सत्ता का नियम नहीं यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय सत्ता म न भी हो, उसे अध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते हैं। ध्रुवसत्ताक प्रकृतिया की विच्छेद काल तक प्रत्येक समय प्रत्येक जीव को सत्ता होती है और अध्रुवसत्ताक प्रकृतिया के लिये यह नियम नही है कि विच्छेद काल तक प्रत्येक समय उनकी सत्ता हो।

(७) घातिनी प्रकृति—जो कम प्रकृति आत्मिक गुणा—ज्ञानादि का घात करती है, उसे घातिनी प्रकृति कहते हैं। यह दो प्रकार की है सवघातिनी और देशघातिनी। जो कम प्रकृति ज्ञानादि रूप अपने विषय को सवथा प्रकार से घात करे उसे सवघातिनी और जो प्रकृति अपने विषय के एकदेश का घात करे उसे देशघातिनी प्रकृति कहते हैं।

कर्मों की कुछ प्रकृतिया सवघाति प्रतिभाग रूप होती हैं अर्थात् अघाती होने से स्वय में तो ज्ञानादि आत्मगुणो को दबाने की शक्ति नहीं है किन्तु सवघाती प्रकृतिया के ससग से अपना अति दारुण विपाक बतलाती हैं। वे सवघाती प्रकृतिया के साथ वेदन किये जाने

---

१ दव्व खेत कालो भवो य भावो य हेयवो पच ।
हेउ समासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईण ॥

—पचसग्रह ३।२६

वाले दारुण विपाक को वतलाने वाली होने से उनकी सदृशता को प्राप्त करती है, अत उनको सर्वघाती प्रतिभाग प्रकृतिया कहते है।

(८) **अघातिनी प्रकृति**—जो प्रकृति आत्मिक गुणो का घात नही करती है, उसे अघातिनी प्रकृति कहते है।

(९) **पुण्य प्रकृति**—जिस प्रकृति का विपाक—फल शुभ होता है उसे पुण्य प्रकृति कहते है।

(१०) **पाप प्रकृति**—जिसका फल अशुभ होता है वह पाप प्रकृति है।

(११) **परावर्तमाना प्रकृति**—किसी दूसरी प्रकृति के वन्ध, उदय अथवा दोनो को रोककर जिस प्रकृति का वंध, उदय अथवा दोनो होते है, उसे परावर्तमाना प्रकृति कहते है।

(१२) **अपरावर्तमाना प्रकृति**—किसी दूसरी प्रकृति के वंध, उदय अथवा दोनो को रोके विना जिस प्रकृति के वंध, उदय अथवा दोनों होते है, उसे अपरावर्तमाना प्रकृति कहते है।[1]

(१३) **क्षेत्रविपाकी प्रकृति**—एक गति का शरीर छोड़कर अर्थात् पूर्व गति मे मरण होने के कारण उसके शरीर को छोडकर नई गति का शरीर धारण करने के लिये जव जीव गमन करता है, उस समय विग्रहगति मे जो कर्म प्रकृति उदय मे आती है, अपने फल का अनुभव कराती है उसे क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते है। इस प्रकृति का उदय पूर्व गति को त्यागकर अन्य गति में जाते समय अन्तरालवर्ती काल मे ही होता है, अन्य समय मे नही। इसीलिये इसको क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते है।

(१४) **जीवविपाकी प्रकृति**—जो प्रकृति जीव मे ही अपना फल देती है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते है। इस प्रकृति का विपाक जीव

---

१ विणिवारिय जा गच्छइ वध उदय व अन्न पगईए ।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥ —**पचसग्रह ३।४३**

के ज्ञानादि स्वरूप का उपघातादि करने रूप होता है। अर्थात चाहे शरीर हो या न हो तथा भव या क्षेत्र चाहे जो हो लेकिन जो प्रकृति अपने फल का अनुभव ज्ञानादि गुणों के उपघातादि करने के द्वारा साक्षात् जीव को ही कराती है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते हैं।

(१५) भव विपाकी प्रकृति—जो प्रकृति नर नारकादि भव में ही फल देती है उसे भवविपाकी प्रकृति कहते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान आयु के दो भाग व्यतीत होने के बाद तीसरे आदि भाग में आयु का बंध होने पर भी जब तक पूर्व भव का क्षय होने के द्वारा उत्तर स्वयोग्य भव प्राप्त नहीं होता है, तब तक यह प्रकृति उदय में नहीं आती है, इसीलिये इसको भवविपाकी प्रकृति कहते हैं।

(१६) पुद्गलविपाकी प्रकृति—जो कर्म प्रकृति पुद्गल में फल प्रदान करने के सन्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करे, औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों में जो कर्मप्रकृति अपनी शक्ति को दिखावे, उसे पुद्गल विपाकी प्रकृति कहते हैं। यानी जो प्रकृति शरीर रूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं में अपना विपाक—फल देती है, वह पुद्गलविपाकी प्रकृति है।

इन सोलह प्रकृति द्वारों की परिभाषायें यहाँ बतलाई हैं। शेष प्रकृति, स्थिति आदि दस द्वारों की व्याख्या प्रथम, द्वितीय कर्मग्रन्थ में यथास्थान की गई है। अतः अब आगे की गाथाओं में ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों का क्रमानुसार कथन प्रारम्भ करते हैं।

ध्रुवबंधी प्रकृतियाँ

सर्वप्रथम क्रमानुसार ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की संख्या व नाम बतलाते हैं—

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहु निमिणोवघाय भयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

शब्दार्थ—वन्नचउ—वर्णचतुष्क, तेय—तैजस शरीर, कम्मा—कामण शरीर, अगुरुलहु—अगुरुलघु नामकर्म, निमिण—निर्माण नामकर्म, उवघाय—उपघात नामकर्म, भय - भय मोहनीय, कुच्छा—जुगुप्सा मोहनीय, मिच्छ—मिथ्यात्व मोहनीय, कसाया—कपाय, आवरणा - आवरण— ज्ञानावरण पाच व दर्शनावरण नौ कुल चौदह, विग्घ—पाच अन्तराय धुववधि—ध्रुववधी प्रकृतिया, सगचत्ता—सैंतालीस ।

गाथार्थ—वर्णचतुष्क, तैजस कार्मण शरीर, अगुरुलघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम, भय मोहनीय, जुगुप्सा मोहनीय, मिथ्यात्व, सोलह कपाय, पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, और पाच अन्तराय ये सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुववन्धिनी है ।

विशेषार्थ—गाथा मे ध्रुववन्धिनी प्रकृतियो के नामो का निर्देश किया है । अपने योग्य सामान्य कारणो के होने पर जिन प्रकृतियो का वंध होता है वे ध्रुववन्धिनी प्रकृतिया है ।

कर्म की मूल प्रकृतिया आठ है—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय । इनकी वंधयोग्य उत्तर प्रकृतियाँ क्रमश ५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२० होती है । इन एकसौ वीस प्रकृतियो मे से सैतालीस प्रकृतिया ध्रुववन्धिनी है । जिनके नाम इसप्रकार है—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि मनपर्याय और केवल ज्ञानावरण ।

(२) दर्शनावरण—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि ।

(३) मोहनीय—मिथ्यात्व, अनन्तानुवंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कपाय चतुष्क, भय, जुगुप्सा ।

(४) नामकम—वण, गध, रस, स्पश, तैजस शरीर, कामण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात।

(५) अतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीय अतराय।

ऊपर बतायी गई प्रकृतियो के नामो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानावरण, दशनावरण और अतराय कम की सभी उत्तर प्रकृतिया जिनके क्रमश पाच, नौ और पाच उत्तर भेद ह, ध्रुवबधिनी है। मोहनीय कम के भेद दशनमोह की एक मिथ्यात्व तथा चारित्र मोह की अठारह प्रकृतिया और नामकम की नौ प्रकृतिया ध्रुवबधिनी है। इस प्रकार ज्ञानावरण की ५, दशनावरण की ८, मोहनीय की १८, नाम की ९ और अतराय की ५, कुल मिलाकर सतालीस प्रकृतिया ध्रुवबधिनी है। इन प्रकृतियो के ध्रुवबधिनी होने के कारण को गाथा म कहे गये क्रम के अनुसार स्पष्ट करते है।

वण, गध, रस, स्पश, तैजस, कामण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, नामकम की इन नौ प्रकृतिया को ध्रुवबधिनी मानने का कारण यह है कि तैजस और कामण शरीर तो चारो गतियो के जीवा के अवश्य होते है, इनका अनादि से सम्बन्ध है।[1] एक भव का स्थूल शरीर छोड कर भवातर का अन्य शरीर ग्रहण करने की अन्तराल गति (विग्रह गति) में भी तजस और कामण शरीर सदैव बना रहता है। औदारिक या वैक्रिय शरीरो म से किसी एक का बध होने पर वण, गध, रस, स्पश नामकर्मों का अवश्य बध होता है तथा औदारिक, वैक्रिय शरीर का बध होने पर उनके योग्य पुद्गला से उनका निर्माण होता है। अत निर्माण नामकम का बध भी अवश्यभावी है। इन औदारिक और वक्रिय शरीर के स्थूल होने से अन्य स्थूल पदार्थों से उपघात होता ही है। औदारिक या वैक्रिय शरीर अपनी योग्य वगणाआ को अधिक

---

१ अनादि सबधे च। सवस्य। —तत्वार्थसूत्र २।४२ ४३

भी ग्रहण करे लेकिन ग्रहण करने वालों को न तो वह शरीर लोहे के समान भारी और न आक की रुई के समान हलके प्रतीत होते है। सदैव अगुरुलघु रूप बने रहते है। इसलिए नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ अपने कारणो के होने पर अवश्य ही बंधने से ध्रुवबंधिनी कहलाती है। इनका बंध अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान के चरम समय तक होता है।

भय और जुगुप्सा यह चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां है। इनके बंध की कोई विरोधनी नही है। इसीलिए इन दोनो को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो मे माना है, ये दोनो प्रकृतिया आठवे गुणस्थान के अंत समय तक अपने बन्ध कारणो के रहने से बंधती ही रहती है। मिथ्यात्व, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय मे अवश्य बंधती है। मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व मोहनीय का निरंतर उदय होने से मिथ्यात्व का निरंतर बंध होता रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे के गुण-स्थानो मे बंध नही होता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायो का अपने-अपने उदय रूप कारण के होने तक अवश्य ही बंध होता है। इसीलिए इन सोलह कषायो को ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो मे गिना है।

ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ और अंतराय की पाच ये उन्नीस प्रकृतिया अपने अपने बंधविच्छेद होने के स्थान तक अवश्य बंधती है तथा इनकी विरोधिनी अन्य कोई प्रकृतिया न होने से इनको ध्रुवबंधिनी प्रकृतिया माना है।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान आदि सोलह कषायो और ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की उन्नीस प्रकृतियो के ध्रुवबंधिनी

मानने का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कर्म प्रकृतियों के बंध के लिए यह सामान्य नियम है कि जहा तक मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग इन चारो बंधहेतुओं में से जिस का सद्भाव होता है तथा 'जे वेएइ ते बंधइ' जिस प्रकृति का जिस गुणस्थान तक उदय रहता है, वहा तक उस प्रकृति का बंध अवश्य होता है। इसलिए अनतानुबंधी कषाय चतुष्क और स्त्यानर्द्धित्रिक इन सात प्रकृतियो के बंध में अनन्तानुबंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणाम कारण है और इनका उदय दूसरे सासादन गुणस्थान तक होता है, उससे आगे के गुणस्थानो में अनन्तानुबंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणामो का अभाव होने से बंध नही होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त बंध होता है, आगे के गुणस्थानो में तथाविध उदयजन्य आत्मपरिणाम नही होने से बंध नहीं होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का देशविरति—पाचवे गुणस्थान पर्यन्त बंध होता है। निद्रा और प्रचला का आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय तक बंध होता है। आगे उनके बंधयोग्य परिणाम असभव होने से बंध नही होता है। अनिवृत्तिबादर सपराय गुणस्थान तक सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का बंध होता है। क्योकि बादर कषाय का उदय उनके बंध का हेतु है। जिसका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुण स्थानो में नही। पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण तथा पाच अंतराय इन चौदह प्रकृतियो का बंध दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के चरम समय तक होता है। इस गुणस्थान तक ही इनके बंध में हेतुभूत कषाय का उदय होता है, आगे के गुणस्थानो में नहीं होता है।

इस प्रकार से सतालीस प्रकृतिया जिनमें ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की उन्नीस, नामकर्म की नौ और अत

राय की पाच प्रकृतिया सम्मिलित है, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणो के होने पर सभी जीवो को अवश्य वंधती है, इसीलिये इनको ध्रुवबन्धिनी[1] प्रकृति मानते है।

अब आगे की दो गाथाओ में अध्रुवबंधी प्रकृतियो के नाम और बन्ध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियो के भंग बतलाते है।

अध्रुवबधी प्रकृतियां और बध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियो के भग

> तणुवंगागिइसघयण जाइगइखगइपुव्विजिणुसास।
> उज्जोयायवपरघा तसवीसा गोय वयणिय ॥३॥
> हासाइजुयलदुगवेय आउ तेवुत्तरी अधुवबधा।
> भगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥

शब्दार्थ—तणु—शरीर, (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), उवंगा—तीन अगोपाग, आगिइ—छह संस्थान, सघयण छह सहनन, जाइ—पाच जाति, गइ—चार गति, खगइ—दो विहायोगति, पुव्वि—चार आनुपूर्वी, जिण—जिन नामकर्म, उसासं—श्वासोच्छ्वास नामकर्म, उज्जोय—उद्योत नामकर्म, आयव—आतप नामकर्म, परघा—पराघात नामकर्म, तसवीसा—त्रसादि वीस (त्रस दशक और स्थावर दशक), गोय—दो गोत्र, वयणियं—दो वेदनीय।

---

१ पचसग्रह और गो० कर्मकाड मे ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो को इस प्रकार गिनाया है—

> नाणतरायदसण धुवबधि कसायमिच्छभयकुच्छा।
> अगुरुलघुनिमिणतेय उवघाय वण्णचउकम्म ॥
>
> —पंचसंग्रह ३।१५

> घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिण वण्णचओ।
> सत्तेताल धुवाण……… …
>
> —गो० कर्मकांड १२४

हासाइ—हास्यादिक, जुयलदुग—दो युगल, वेय—तीन वेद आउ—चार आयुकर्म तेवुत्तरी—तिहत्तर अधुवबधा—अध्रुवबधी, भगा—भग, अणाइसाई—अनादि और सादि, अणतसत्तुत्तरा—अनत और सात उत्तर पद से सहित चउरो—चार भग।

गाथार्थ—तीन शरीर, तीन अगोपाग, छह सस्थान, छह सहनन, पाच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, तीर्थंकर नामकर्म, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, उद्योत, आतप, पराघात, त्रसादि बीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, हास्यादि दो युगल, तीन वेद, चार आयु, ये तिहत्तर प्रकृतिया अध्रुवब धिनी है। इनके अनादि और सादि अनन्त और सान्त पद से सहित होने से चार भग होते है।

विशेषार्थ—बधयोग्य १२० प्रकृतिया हैं। उनमें से सतालीस प्रकृतिया ध्रुवबधिनी है और शेष रही तिहत्तर प्रकृतिया अध्रुवबधिनी है। इन दो गाथाओ में अध्रुवबधिनी तिहत्तर प्रकृतिया तथा इनके बनने वाला भगो के नाम बताये है।

इन अध्रुवबधिनी प्रकृतिया में अधिकतर नामकर्म की तथा वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की सभी उत्तर प्रकृतिया व कुछ मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतिया के नाम हैं। जिनका अपने-अपने मूल कर्म के नाम सहित विवरण इस प्रकार है—

(१) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(२) मोहनीय—हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद।

(३) आयु—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु, नरकायु।

(४) नाम—तीन शरीर—औदारिक वैक्रिय, आहारक शरीर, तीन अगोपाग—औदारिक, वैक्रिय, आहारक अगोपाग, छह सस्थान

समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्डक, छह संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलिका, सेवार्त, पाच जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति—देव, मनुष्य, तिर्यच नारक, दो विहायोगति—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी—देवानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी तिर्यचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी, तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, त्रसवीशक (त्रसदशक, स्थावरदशक)।[1]

(५) गोत्र—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

उपर अध्रुवबन्धिनी[2] तिहत्तर प्रकृतियो के नाम बतलाये है।

---

१ तस बायर पज्जत्त पत्तेय थिर सुभ च सुभग च।
मुसराइज्ज जस तसदसग थावरदस तु इमं॥
थावर सुहम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय .. .. ॥
—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, गा० २६, २७.

—त्रस दशक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश कीर्ति।

—स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति।

२ दिगम्बर साहित्य में अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के दो भेद किये हैं—सप्रतिपक्षी और अप्रतिपक्षी। इनमें ग्रहण की गई प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

सेसे तित्थाहार परघादचउक्क सव्व आऊणि।
अप्पडिवक्खा सेसा सप्पडिवक्खा हु वासट्ठी॥ —गो० कर्मकांड १२५

—तीर्थंकर, आहारकद्विक, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, चार आयु ये ग्यारह प्रकृतिया अप्रतिपक्षी है। अर्थात् इनकी कोई विरोधिनी प्रकृति नही है। फिर भी इनका बध कुछ विशेष अवस्था मे होता है, अतः अध्रुवबधिनी कहा जाता है और शेष बासठ प्रकृतियो को सप्रतिपक्षी होने के कारण अध्रुवबधिनी माना है।

इनको अध्रुववधिनी मानने का कारण यह है कि वध के सामाय कारणो के रहने पर भी इनका व ध नियमित रूप से नही होता है अर्थात् कभी वध होता है और कभी नही होता हे। इन प्रकतिया के नियमित रूप से व ध न होने का कारण यह है कि इनमें से कुछ प्रकृतिया का वध तो इसलिए नही होता है कि उनकी विरोधिनी प्रकृतिया उनका स्थान ले लेती ह और कुछ प्रकृतिया अपनी स्वभाव गत विशेपता के कारण कभी बधती ह और कभी नही वधती ह।

इन तिहत्तर प्रकृतिया को अध्रुववधिनी मानने को कारण सहित स्पष्ट करते ह।

शरीर नामकम के पाच भेदो में मे तजस, कामण शरीर का ससारी जीवा के साथ अनादि सव ध होने से ध्रुववधिनी प्रकृतिया म गिना है। शेप औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीर और इन्ही नाम वाले अगोपाग नामकम के तीन भेदा मे से एक जीव का एक समय म एक शरीर और एक अगोपाग का ही वध होता है, दूसर का नही। क्याकि परस्पर विरोधी होने मे एक के वध के समय दूसरे का वध नही हो सकता है। इसीलिए इनका अध्रुववधिनी माना है।

समचतुरस्र आदि छह सस्थान भी परस्पर म विरोधी ह। समचतुरस्र सस्थान कम से यदि शरीर का सस्थान—आकार समचतुरस्र रूप ह तो उसमे अय सस्थान का बध, उदय नही हो सकता है, अत वे भी अध्रुववधिनी प्रकृतिया मे गर्भित किय गये ह।

मनुष्य और तिर्यंच प्रायोग्य प्रकृतिया का वध हाने पर ही वज्र ऋपभनाराच आदि छह सहनना मे से एक समय में एक ही का वध हाता है तथा दव व नारक प्रायोग्य प्रकृतिया का वध होने पर एक भी संहनन का वध नही होता है। अतएव सहनन नामकम अध्रुव वधी ह।

एकेन्द्रियआदि पंचेन्द्रिय जाति पर्यन्त पाँच जातियो मे से एक समय में एक ही जाति का, देवगति आदि चार गतियो मे से एक ही गति का बंध होने से जाति व गति नामकर्म के भेदो को अध्रुवबंधिनी कहा है। इसी प्रकार शुभ या अशुभ विहायोगति मे से एक समय मे एक का ही वन्ध होता है तथा देवानुपूर्वी आदि चार आनुपूर्वियां मे से एक समय मे एक का ही वन्ध होता है। अतः इनको अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहा है।

औदारिक आदि शरीर से लेकर आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेदो तक मे गर्भित तेतीस प्रकृतिया अपनी-अपनी ,प्रतिपक्षिणी–विरोधिनी प्रकृतियो सहित होने के कारण अध्रुवबंधिनी है।

तीर्थंकर नामकर्म का वंध सम्यक्त्व सापेक्ष है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि सम्यक्त्व के होने पर इसका वंध हो ही जाये। सम्यक्त्व के होने पर भी किसी के वंध होता है और किसी के नहीं बंधता है। इसीलिये अध्रुवबंधी है। पर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतियो का बंध होने पर उच्छ्वास नामकर्म का बंध होता है, अपर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतियो के बंध होने पर नही बंधता है। तिर्यंचप्रायोग्य प्रकृतियो के बंध होने पर भी उद्योत नामकर्म का बंध किसी को होता है और किसी को नही होता है, अतएव उच्छ्वास और उद्योत नामकर्म अध्रुवबंधी है।

पृथ्वीकायिक प्रायोग्य प्रकृतियो का बंध होते रहते किसी को आतप नामकर्म का बंध होता है और किसी को नही होता है, अतः अध्रुवबन्धी है। पराघात नामकर्म पर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियो का बंध होने पर किसी-किसी को बंधता है तथा अपर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियो का बंध होने पर तो किसी को भी नहीं बंधता है, अत. वह अध्रुव-बन्धी है।

त्रसदशक और स्थावरदशक की कुल बीस प्रकृतिया परस्पर विरोधिनी ह तथा अपने अपने प्रायोग्य प्रकृतियो के बध होने पर वधती ह। इसलिये इनको अध्रुवबधिनी प्रकृतिया में गिना है।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र परस्पर में विरोधिनी प्रकृतिया ह। उच्च गोत्र का बध होते हुए नीच गोत्र का और नीच गोत्र का बध होते हुए उच्च गोत्र का बध नही होता है। अतएव इन दोना को अध्रुवबधी कहा है। साता वेदनीय और असाता वेदनीय भी परस्पर में एक दूसरे की विरोधी ह, जिसमे इनको अध्रुवबधिनी प्रकृति माना जाता है।

गोत्र कम और वेदनीय कम की प्रकृतिया को अध्रुवबधिनी मानने के साथ-साथ उनके बारे में यह विशेषता भी समझना चाहिये कि छठे गुणस्थान तक ही साता और असाता वेदनीय अध्रुवबधी ह, लेकिन छठे गुणस्थान में असाता वेदनीय का बधविच्छेद हो जान पर आगे सातवें आदि गुणस्थाना में साता वेदनीय कम ध्रुवबधी हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान तक उच्च गोत्र और नीच गोत्र अध्रुवबधी ह, किंतु दूसरे गुणस्थान में नीच गोत्र का बधविच्छेद[1] हो जाने से आगे के गुणस्थाना में उच्च गोत्र ध्रुवबधी हो जाता है।

मोहनीय कम की 'हासाइ जुयलदुग' हास्यादि दो युगल अर्थात् हास्य रति तथा शोक-अरति यह चार प्रकृतिया अध्रुवबधिनी हैं। क्याकि ये दोनो युगल परस्पर विरोधी हैं। जब हास्य रति युगल का बध होता ह तब शोक अरति युगल का बंध नहीं होता ह तथा शोक

---

१ प्रत्यक गुणस्थ न म बधयाग्य और विच्छिन्न हान वाला प्रकृतिया क लिय दूसरा कमग्रन्थ गाथा ४ स १२ दखिय।

अरति युगल के बंध के समय हास्य-रति युगल का बंध संभव नहीं है। इन चार प्रकृतियो का सान्तर बंध होता है।

लेकिन यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि हास्य, रति, अरति, शोक, यह चारो प्रकृतियां छठे गुणस्थान तक ही अध्रुवबन्धिनी है। छठे गुणस्थान में शोक और अरति का बन्धविच्छेद हो जाने पर आगे हास्य और रति का निरंतर बंध होता है, जिससे वे ध्रुवबंधिनी हो जाती हैं।

स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद में से एक समय में किसी एक वेद का बंध होता है। गुणस्थान की अपेक्षा नपुंसक वेद पहले गुणस्थान में, स्त्री वेद दूसरे गुणस्थान तक बंधता है। उसके बाद आगे के गुणस्थानो मे पुरुषवेद का बंध होता है।

आयुकर्म के देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु इन चार भेदो में से एक भव मे एक ही आयु का बंध होता है। इसीलिये इनको अध्रुवबन्धी कहा है।

इस प्रकार तिहत्तर प्रकृतिया अध्रुवबन्धिनी समझना चाहिये। जिनमें वेदनीय की दो, मोहनीय की सात, आयुकर्म की चार, नाम कर्म की अट्ठावन और गोत्रकर्म की दो प्रकृतियां शामिल हैं। बन्ध-योग्य १२० प्रकृतियो मे से ४७ ध्रुवबन्धिनी और ७३ अध्रुवबन्धिनी हैं। ४७+७३ का कुल जोड़ १२० होता है।

बंध, उदय प्रकृतियों के अनादि-अनन्त आदि भंग

ग्रन्थलाघव की दृष्टि से क्रमप्राप्त ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियो के नामो को न बताकर कर्मबंध और कर्मोदय की कितनी दशायें होती हैं, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये पहले भंगों को बतलाते है। जो बंध के भंगो के नाम है, वही उदय के भंगो के भी

नाम होंगे। इसका कारण यह है कि कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबंधिनी अध्रुवबंधिनी होने के कारण जैसे बंध की दशायें बताना आवश्यक है वैसे ही आगे ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या बतलाने के पश्चात उनकी उदय दशायें भी बतलाना होगी। अतएव मध्यमद्वारदीपक न्याय के अनुसार बंध और उदय अवस्था में बनने वाले भंगों के यहां नाम बतलाते हैं। अर्थात् यहां दिये जाने वाले भंगों को बंध में भी लगा लेना चाहिये और उदय में भी। भंगों के नाम इस प्रकार हैं १ अनादि-अनंत, २ अनादि-सान्त, ३ सादि-अनंत, ४ सादि सान्त।[1] यह चारों भंग बंध में भी होते हैं और उदय में भी।

इन भंगों के लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं -

(१) अनादि-अनंत—जिस बंध या उदय की परम्परा या प्रवाह अनादि काल से निराबाध गति से चला आ रहा है, मध्य में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे भी होगा, ऐसे बंध या उदय को अनादि अनंत कहते हैं। ऐसा बंध या उदय अभव्य जीवों को होता है।

(२) अनादि-सान्त—जिस बंध या उदय की परम्परा या प्रवाह अनादि काल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है, लेकिन आगे

---

१ सादि अनन्त भंग विकल्प संभव नहीं होने से पंचसंग्रह में तीन भंग माने हैं—

होइ अणाइअणंतो अणाइसंतो य साइसंतो य।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इइ तिविहो॥

—बंध तीन प्रकार का होता है - अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त। अभव्यों में अनादि अनन्त, भव्यों में अनादि-सान्त और उपशान्त मोह गुणस्थान से च्युत हुए जीवों में सादि-सान्त बंध होता है।

व्युच्छिन्न हो जायेगा, उसे अनादि-सान्त कहते हे। यह भव्य को होता है।

(३) सादि-अनन्त—जो आदि सहित होकर अनंत हो। लेकिन यह भंग किसी भी वंध या उदय प्रकृति में घटित नही होता है। क्योकि जो वंध या उदय आदि सहित होगा वह कभी भी अनन्त नही हो सकता है। इसीलिये इस विकल्प को ग्राह्य नही माना जाता है।

(४) सादि-सान्त—जो वंध या उदय बीच मे रुक कर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तर मे पुन व्युच्छिन्न हो जाता है, उस वंध या उदय को सादि-सान्त कहते है। यह उपशातमोह गुणस्थान से च्युत हुए जीवो मे पाया जाता है।

इस प्रकार से चार भंगो का स्वरूप वतलाकर अव आगे की गाथा मे वन्ध और उदय प्रकृतियो मे उक्त भंगो को घटाते है।

पढमविया धुवउदइसु धुववधिसु तइअवज्जभंगतिगं।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअभंगा ॥५॥

शब्दार्थ—**पढमविया**—पहला और दूसरा भग, **धुवउदइसु**—ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे, **धुववधिसु**—ध्रुववन्धिनी प्रकृतियो मे, **तइअवज्ज**—तीसरे भग के सिवाय, **भगतिग**—तीन भग होते है, **मिच्छम्मि**—मिथ्यात्व में, **तिन्नि**—तीन, **भंगा**—भग **दुहावि**—दोनो प्रकार की, **अधुवा**—अध्रुववधिनी और अध्रुवोदयी मे, **तुरिअभगा**—चौथा भग।

गाथार्थ—ध्रुवोदयी प्रकृतियो मे पहला और दूसरा भंग होता है। ध्रुव-वन्धिनी प्रकृतियो में तीसरे भंग के अलावा

तीन भग तथा मिथ्यात्व में भी तीन भग होते है। दोनो प्रकार की अध्रुव प्रकृतियो में चौथा भग होता है।

विशेषाथ—पूव में अनादि अनन्त, अनादि-सान्त, सादि अनन्त और सादि-सान्त इन चार भगो का सिफ नाम निर्देश किया है। यहा उन भगो में से कौनसा भग ध्रुवबधिनी आदि प्रकृतिया में होता है, यह स्पष्ट करते है।

ये भग ध्रुव, अध्रुव बध और उदय प्रकृतिया में होते है। ध्रुव बधिनी और अध्रुवबधिनी प्रकृतियो के नामो का निर्देश किया जा चुका है और ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतिया के नाम आगे की गाथा में बतलाये जायेंगे। लेकिन यहा सामान्य से तथा पुनरावृत्ति न होने देने की दृष्टि से बध प्रकृतिया के साथ उदय प्रकृतिया में भी भगो के होने के बारे में निर्देश कर दिया है।

सर्वप्रथम 'पढमबिया धुवउदइसु' पद से बतलाया है कि ध्रुवोदयी प्रकृतिया में पहला अनादि-अनन्त और दूसरा अनादि-सान्त यह दो भग होते है। इसका कारण यह है कि अभव्यो के ध्रुवोदयी प्रकृतियो का कभी भी अनुदय नही होता है। अतएव पहला अनादि अनत भंग माना गया है। भव्य का उदय तो अनादि से होता है, किन्तु बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में उनका उदय नहीं हो पाता यानी उदयविच्छेद हो जाता है। इसी कारण ध्रुवोदयी प्रकृतिया में दूसरा अनादि-सात भग माना है।

ध्रुवोदयी प्रकृतिया में पहला और दूसरा भंग बतलाया है। लेकिन उनमें से मिथ्यात्व मोहनीय कम की अपनी विशेषता होने से 'मिच्छम्मि तिन्नि भगा'—मिथ्यात्व में तीन भंग होते हैं—अनादि अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-सान्त। ये भंग इस प्रकार होते हैं कि अभव्य का मिथ्यात्व का उदय अनादि अनत है। उनके न तो कभी मिथ्यात्व का

अभाव हुआ है और न होने वाला है। दूसरा अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि पहले-पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसके मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाता है। लेकिन सम्यक्त्व के छूट जाने व पुन: मिथ्यात्व का उदय होने पर और उसके बाद पुन सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण मिथ्यात्व के उदय का अंत होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व के छूटने के बाद पुन: मिथ्यात्व का उदय होना सादि है और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण उस मिथ्यात्व का उदयविच्छेद होना सान्त है। इस स्थिति मे चौथा भंग सादिसान्त मिथ्यात्व मे घटित होता है।

लेकिन ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो मे तीसरे भंग को छोड शेप तीन भंग होते है—"धुवबंधिसु तइअवज्ज भंगतिगं।" यानी ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो मे पहला—अनादि-अनन्त, दूसरा अनादि-सान्त और चौथा सादि-सान्त यह तीन भंग होते है। ये तीन भंग इस प्रकार है—अभव्य को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो का बन्ध अनादि का है और किसी समय भी अबन्धक नही होता है, अत. पहला अनादि-अनन्त भंग होता है तथा भव्य को भी यद्यपि ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो का बन्ध अनादि का है, परन्तु गुणस्थान क्रमारोहण के साथ-साथ प्रकृतियो का विच्छेद होता जाता है जिससे दूसरा अनादि-सान्त भंग होता है तथा उसी गुणस्थान से आगे के गुणस्थान मे आरोहण करते समय अबन्धक होकर अवरोहण के समय पुन बन्धक हो जाने से सादिबन्ध और पुनः कालान्तर में गुणस्थान क्रमारोहण के समय अबन्धक होगा, इसीलिये उसको चौथा सादि-सान्त भंग होता है।

'दुहावि अध्रुवा तुरिअभंगा' यानी दोनो प्रकार की अध्रुव प्रकृतियो—अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियो—मे चौथा

सादि-सान्त भंग होता है। क्योंकि उनका बंध, उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नहीं होता है। अध्रुवता के कारण ही उनके बंध और उदय की आदि भी है और अन्त भी है।

गो० कर्मकांड में प्रकृतिबंध का निरूपण करते हुए बंध के चार प्रकार बतलाये हैं। सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

> सादी अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादी हु।
> अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ॥१२३॥

जिस कर्म के बंध का अभाव होकर पुनः वही कर्म बंधे उसे सादि बंध कहते हैं। श्रेणि[1] पर जिसने पैर नहीं रखा है, उस जीव के उस प्रकृति का अनादि बंध होता है। अभव्य जीवों को ध्रुव बंध और भव्य जीवों का अध्रुव बंध होता है।

यहां ध्रुव और अध्रुव शब्द का अर्थ क्रमशः अनंत और सान्त ग्रहण किया है। क्योंकि अभव्य का बंध अनंत और भव्य का बंध सान्त होता है।

ध्रुवबंधिनी ४७ प्रकृतियों में उक्त चारों प्रकार के बंध होते हैं तथा शेष अध्रुवबंधिनी ७३ प्रकृतियों में सादि और अध्रुव यह दो बंध हैं।

कर्मग्रन्थ में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में चार भंग और गो० कर्मकांड में [illegible] चार भंग बतलाये हैं। [illegible] है। क्योंकि कर्मग्रन्थ में [illegible] भंगों का [illegible] किया गया है और गो० कर्मकांड में [illegible] भंगों का [illegible] ध्रुव [illegible]

---

1 [illegible]

कर्मग्रन्थ मे सादि-अनन्त भंग न बन सकने के कारण संयोगी तीन भंग माने है और गो० कर्मकाड मे प्रत्येक भंग बन सकने से चार। इसी प्रकार कर्मग्रन्थ मे अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो में एक सादि-सान्त भंग बताया है और गो० कर्मकाड मे सादि और अध्रुव—दो भंग कहे है। लेकिन इसमे भी अन्तर नही है। क्योकि सादि और अध्रुव यानि सान्त को मिलाने से संयोगी सादिसान्त भंग बनता है और दोनो को अलग-अलग गिनने से वे दो हो जाते है। प्रकृतिबंध के भंगों के बारे में कार्मग्रन्थिको मे एकरूपता है, लेकिन कथनशैली की विविधता मे भिन्नता-सी प्रतीत होती है।

इस प्रकार से बंध और उदय प्रकृतियो मे अनादि-अनन्त आदि भंगो का क्रम जानना चाहिये। यह सामान्य से कथन किया है। विशेष कथन ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियो का नाम निर्देश करने के अनन्तर यथास्थान किया जा रहा है।

अब आगे की गाथा मे ध्रुवोदय प्रकृतियों के नामो को बतलाते है।

ध्रुवोदय प्रकृतियाँ

निमिण थिर अथिर अगुरुय सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना।
नाणतराय दंसण मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥६॥

शब्दार्थ—निमिण—निर्माण नामकर्म, थिर—स्थिर नामकर्म, अथिर—अस्थिर नामकर्म, अगुरुय अगुरुलघु नामकर्म, सुह—शुभ नामकर्म, असुह—अशुभ नामकर्म, तेय—तैजस शरीर, कम्म—कार्मण शरीर, चउवन्ना—वर्णचतुष्क, नाणंतराय—ज्ञानावरण अतराय कर्म के भेद, दंसण—चार दर्शनावरण, मिच्छं—मिथ्यात्व मोहनीय, धुवउदय—ध्रुवोदयी, सगवीसा सत्ताईस।

गाथाथ—निमाण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस कामण शरीर, वणचतुष्क, पाच ज्ञानावरण, पाच अतराय, चार दशनावरण और मिथ्यात्व मोहनीय, ये ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतिया है।[1]

विशेषाथ—इस गाथा मे ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतिया के नाम बतलाते ह। इनको ध्रुवोदयी कहने का कारण यह है कि अपने उदय विच्छेद काल तक इनका उदय बना रहता है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उदययोग्य १२२ प्रकृतिया ह—ज्ञानावरण ५, दशनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५। इस प्रकार से ५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२ प्रकृतिया होती हैं। इनमे से २७ प्रकृतिया ध्रुवोदयी ह। जिनका विवरण क्रमश इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल ज्ञानावरण।

(२) दशनावरण—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दशनावरण।

(३) मोहनीय—मिथ्यात्व।

---

१ (क) निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुह।
नाणंतरायदसगं दंसणचउ मिच्छ निच्चुदया।
—पचसग्रह ३।१६

(ख) गो० कमकांड में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को गिनने के प्रसंग मे ध्रुवोदयी प्रकृतियों का निर्देश इस प्रकार किया है—
मिच्छं मुहम्मस्स घादीओ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिण धुवउदया॥
—गो० कमकांड गा० ४०२, ४०३

(४) नामकर्म - निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ।

(५) अंतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय ।

इनका विवेचन गाथागत क्रम के अनुसार करते हैं। नामकर्म की निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण तथा वर्णचतुष्क यह बारह प्रकृतिया ध्रुवोदयी है, क्योंकि चारो गतियो के जीवो मे इनका उदय सर्वदा रहता है। जब तक शरीर है तब तक इनका उदय अवश्य बना रहेगा। तेरहवें गुणस्थान के अंत मे इन बारह प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता है किन्तु वहाँ तक सभी जीवो के इन बारह प्रकृतियो का उदय बना रहता है।

यद्यपि स्थिर, अस्थिर तथा शुभ, अशुभ ये चार प्रकृतियाँ परस्पर विरोधिनी कहलाती है। लेकिन इनका विरोधित्व बंध की अपेक्षा है, क्योकि स्थिर नामकर्म के समय अस्थिर नामकर्म का और शुभ नाम के समय अशुभ नामकर्म का बंध नही हो सकता है, किन्तु उदयापेक्षा इनमें विरोध नही है। स्थिर और अस्थिर का उदय एक साथ हो सकता है। क्योंकि स्थिर नामकर्म के उदय से हाड, दात आदि स्थिर होते है और अस्थिर नामकर्म के उदय से रुधिर आदि अस्थिर होते है, इसी प्रकार शुभ नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ अंग होते है और अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अंग। अतएव ये चारो प्रकृतिया बंध की अपेक्षा विरोधिनी होने पर भी उदयापेक्षा अविरोधिनी मानी गई है।

पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियो का उदय अपने क्षय होने वाले गुणस्थान तक बना रहता है। इनका क्षय बारहवें गुणस्थान के चरम समय मे होता है।[1] अतएव इन्हे

---

1 नाणंतराय दसण चउ छेओ सजोगि बायाला। —द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० २०

ध्रुवादय कहा ह। मोहनीय कम की मिथ्यात्व प्रकृति का उदयविच्छेद पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अत मे होता है। अत पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व का उदय ध्रुव होता है। इसीलिये यह ध्रुवोदय प्रकृति है।

इस प्रकार गाथा क्रमानुसार नामकम की १२, ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दशनावरण की ४ और मोहनीय की १, कुल सत्ताईस प्रकृतिया ध्रुवोदय है। अब आगे की गाथा मे अध्रुवोदय प्रकृतियो के नाम बतलाते है।

अध्रुवोदय प्रकतिया

थिर सुभियर विणु अधुवबधी मिच्छ विणु मोहधुवबधी।
निद्दोवघाय मोस सम्म पणनवइ अधुवुदया ॥७॥

शब्दार्थ—थिर सुभियर—स्थिर शुभ तथा उनस इतर नाम कम, विणु—विना, अधुवबधी—अध्रुवबधी प्रकृति, मिच्छ विणु—मिथ्यात्व क अलावा, मोहधुवबधी—मोहनीय कम की शेप ध्रुवबधिनी प्रकृतिया निद्दा पाच निद्रायें उवघाय -उपघात मोस—मिश्र मोहनीय सम्म—सम्यक्त्व मोहनीय, पणनवइ—पचानव, अधुवुदया—अध्रुवोदया।

गाथाथ—स्थिर, शुभ और उनसे इतर अस्थिर और अशुभ के सिवाय शेप अध्रुवबधिनी (६६) प्रकृतिया, मिथ्यात्व के विना मोहनीय कम की ध्रुवबधिनी १८ प्रकृतिया, पाच निद्रा, उपघात, मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय कुल य ८५ प्रकृतिया अध्रुवोदया ह।

विशेषाथ—पूव गाथा मे २७ ध्रुवोदया प्रकृतिया के नाम बतलाये ह अत उदययोग्य १२२ प्रकृतिया में मे उक्त २७ प्रकृतियो को कम

कर देने पर शेप ६५ प्रकृतिया अध्रुवोदया है। जिनका संकेत इस गाथा मे किया गया है। इन पंचानवें प्रकृतियो को अध्रुवोदया मानने का सामान्य कारण तो यह है कि बहुत सी प्रकृतिया परस्पर विरोधी है और तीर्थंकर आदि कितनीक प्रकृतियो का सदैव उदय होता नही है तथा जिस गुणस्थान तक जितनी प्रकृतियो का गुणप्रत्यय मे विच्छेद नही वतलाया है, वहां तक उन प्रकृतियो के रहने पर भी उसी गुणस्थान मे वह प्रकृति द्रव्य आदि की अपेक्षा उदय मे आये भी और न भी आये, इसीलिये उनको अध्रुवोदय प्रकृतियो में माना है। इनका विशेप स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व मे अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियो के नाम वतलाये जा चुके है। उनमें से स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ इन चार प्रकृतियों के सिवाय शेप ६९ प्रकृतिया अध्रुवोदया हैं। इन उनहत्तर प्रकृतियो मे से तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात इन पाच प्रकृतियों का उदय किसी जीव को होता है और किसी जीव को नही होता है तथा शेप ६४ प्रकृतिया जैसे बन्धावस्था मे विरोधिनी है, वैसे ही उदय दशा मे विरोधनी है। इसीलिये इनको अध्रुवोदया कहा है।

मोहनीय कर्म की ध्रुवबंधिनी उन्नीस प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व को छोड़कर शेप सोलह कपाय, भय और जुगुप्सा ये अठारह ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां अध्रुवोदया है। क्योकि ये उदय मे परस्पर विरोधी है। क्रोध का उदय होने पर मान आदि अन्य कपायो का उदय नही होता है, इसी प्रकार मान आदि के उदय के समय क्रोध आदि के बारे मे भी जानना चाहिये। इसलिये बंध की अपेक्षा विरोधिनी नही होने पर भी उदय की अपेक्षा क्रोधादि कपाये विरोधिनी है। इसी विरोधरूपता के कारण कपायो को अध्रुवोदया कहा है। भय और जुगुप्सा का उदय भी कादाचित्क है। किसी के किसी समय इनका उदय होता है और

किसी के किसी समय नही भी होता है। अतएव इन दोना को अध्रुवोदया माना है।

दशनावरण कम के भेद निद्रा आदि पाच निद्रायें अध्रुवोदया इसलिये मानी जाती ह कि इनका उदय कभी होता है और कभी नही होता है तथा ये निद्राय परस्पर मे विरोधी ह। यानी एक समय मे एक ही निद्रा का उदय होता है। उपघात नामकम का उदय किसी जीव को कभी-कभी होता है। अत वह अध्रुवोदयी है।

मिश्र प्रकृति को अध्रुवोदयी इसलिय माना जाता है कि इसकी उदयविरोधिनी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय है, जिनके काल मे इसका उदय नही होता ह। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि को होता है और वेदक सम्यक्त्व का उदय काल जघन्य अन्तमुहूत और उत्कृष्ट ६६ सागर अधिक चार पूव कोटि है। अत यह अध्रुवोदया है। इस प्रकार ८५ प्रकृतिया अध्रुवोदया ह। इनके उदय का विच्छेद होने पर भी पुन उदय हो सकता है।

मिथ्यात्व मोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानन का कारण यह ह कि मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे सतत रहता है, एक क्षण के लिय भी नही रुकता है। जबकि अध्रुवोदया प्रकृतिया का उदयविच्छेद न होन तक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त स कभी उदय होता है और कभी नही होता है। इसीलिये उनको अध्रुवोदया माना ह।

बध एव उदय प्रकृतियो में अनादि अनन्त आदि भगों का स्पष्टीकरण

बधयोग्य १२० प्रकृतिया मे स ४७ ध्रुवबधिनी और ७३ अध्रुवबधिनी तथा उदययोग्य १२२ प्रकृतिया मे स २७ ध्रुवोदया तथा ८५ अध्रुवोदया ह। इस प्रकार स बध एव उदय प्रकृतिया के ध्रुव, अध्रुव दो

रूप होने से प्रश्न होता है कि ध्रुव प्रकृतियो का सदैव अनादि से अनन्त काल तक बंध, उदय होता रहेगा और अध्रुव प्रकृतियो का सादिसान्त बंध, उदय होना है। इसलिये अनादि-अनंत और सादि-सान्त यह दो भंग मानना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि संसारी जीव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। अनादि से अनन्तकाल तक यह क्रम चलता है। लेकिन जो जीव भव्य है—मुक्तिप्राप्ति की योग्यता वाले है तथा अभव्य—मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता वाले नही है, उनकी अपेक्षा से अनादि-अनत आदि चार भंग होते है। जिनका बध और उदय प्रकृतियो मे स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

कर्म प्रकृतियो मे होने वाले चार भंगो के नाम पूर्व मे बतलाये जा चुके है। उनमे से ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो मे तीसरे भंग के सिवाय शेष अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-सात यह तीन भग होते है—जो इस प्रकार है—

पहला अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवो की अपेक्षा से होता है। क्योकि अभव्य जीवो के ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो का बंध अनादि-अनंत होता है। अनादि-सान्त दूसरा भंग भव्य जीवो की अपेक्षा घटित होता है। क्योकि पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियो के बंध की अनादि सन्तान जब दसवे गुणस्थान मे विच्छिन्न हो जाती है तब अनादि-सान्त भंग होता है तथा ग्यारहवे उपशान्तमोह गुणस्थान मे उक्त चौदह प्रकृतियो का बंध न करके मरण हो जाने अथवा ग्यारहवें गुणस्थान का समय पूरा हो जाने के कारण कोई जीव ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियो का बंध करता है और दसवे गुणस्थान मे पुन उनका बंध-विच्छेद करता है तब सादि-सान्त नामक चतुर्थ भंग घटित होता है।

सज्वलन कपाय के बध का निरोध जब कोई जीव नौवें गुणस्थान मे करता है तब अनादि-सान्त भग घटित होता है और जब वही जीव नाव गुणस्थान से च्युत होकर पुन सज्वलन कपाय का बध करता है तथा पुन नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने पर उसका निरोध करता है तब सादि-सान्त चौथा भग होता है।

निद्रा, प्रचला, तजस, कामण, वणचतुष्क, अगुरलघु, उपघात, निर्माण, भय और जुगुप्सा ये तेरह प्रकृतिया आठव गुणस्थान मे विच्छिन हो जाती ह तब इनका अनादि सान्त भंग होता है और आठवें गुणस्थान से पतन होने के बाद जब उनका बध होता है तो वह सादि बध है तथा पुन आठवें गुणस्थान मे पहुँचने पर जब उनका बध विच्छेद हो जाता है तो वह बध सान्त कहलाता है। इस प्रकार उनमे सादि-सान्त यह चौथा भग घटित होता है।

प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का बध पाचवें गुणस्थान तक अनादि ह किन्तु छठे गुणस्थान मे उसका अभाव हो जाने से सान्त होता है। अत अनादि-सान्त भग होता है। छठे गुणस्थान से गिरने पर जब पुन बध होने लगता है और छठे गुणस्थान के प्राप्त करने पर उसका अभाव हो जाता है तब चौथा सादि-सान्त भग घटित होता है। अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क का बध चौथे गुणस्थान तक अनादि है, लेकिन पाचवें गुणस्थान मे उसका अन्त हो जाता ह अत दूसरा अनादि-सान्त भग बनता ह तथा पाचवें गुणस्थान से गिरने पर पुन बध और जब पाचवें गुणस्थान के प्राप्त होन पर अबध करने लगता है तब सादि-सान्त चौथा भग होता है।

मिथ्यात्व, स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबधी कपाय चतुष्क का अनादि बंधक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उनका बध नही करता है तब दूसरा अनादि-सान्त भग और पुन मिथ्यात्व मे गिर

कर उक्त प्रकृतियों का बंध करने और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर बंध नहीं करने पर चौथा सादि-सान्त भंग होता है। इस प्रकार ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में तीसरे सादि-अनंत भंग के सिवाय शेष अनादि-अनंत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन भंग होते हैं।

अब ध्रुवोदया प्रकृतियों में भंगों को घटित करते हैं। ध्रुवोदया प्रकृतियों में पहला अनादि-अनंत और दूसरा अनादि-सान्त यह दो भंग होते हैं। ध्रुवोदया २७ प्रकृतियों के नाम यथास्थान बतलाये जा चुके हैं। उनमें से मिथ्यात्व प्रकृति में विशेषता है। इसलिए उसके भंगों के बारे में अलग से कथन किये जाने से शेष छब्बीस प्रकृतियों के बारे में स्पष्टीकरण करते हैं।

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन छब्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि अभव्य जीवों के ध्रुवोदया प्रकृतियों के उदय का न तो आदि है और न अंत ही होता है।

दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक तो जीवों को अनादि काल से है, लेकिन बारहवें गुणस्थान के अंत में जब इनका विच्छेद हो जाता है तब वह उदय अनादि-सान्त कहा जाता है। इसी प्रकार निर्माण, स्थिर, अस्थिर आदि शेष बची हुई बारह प्रकृतियों का अनादि उदय तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान के अंत में विच्छिन्न हो जाता है तब उनका उदय अनादि-सांत कहलाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिवाय शेष ध्रुवोदया प्रकृतियों में केवल दो ही भंग घटित होते हैं—अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त

और भव्य जीवा की अपेक्षा अनादि-सान्त। शेप दो भग—सादि अनत और सादि-सान्त घटित नही होते ह। क्याकि किसी प्रकृति के उदय का विच्छेद होने के पश्चात पुन उदय होने लगता हो तो वह उदय सादि कहलाता है। लेकिन उक्त ध्रुवादयी प्रकृतिया का उदयविच्छेद बारहवें, तेरहवें गुणस्थान के अत मे हो जाने पर पुन उनका उदय नही होता ह और उन गुणस्थानो के प्राप्त हो जाने के बाद जीव नीचे के गुणस्थाना मे नही आकर मुक्ति को ही प्राप्त करता है। अत उक्त प्रकृतिया का सादि उदय नही होता है। इसलिए शेप दो भग भी नही होते हैं।

छब्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतिया मे आदि के दो भग होते हैं, लेकिन मिथ्यात्व मे अनादि अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त यह तीन भंग होते ह। अनादि-अनत भग अभव्य जीवा की अपेक्षा से, अनादि सान्त भग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवा की अपेक्षा से घटित होता है। अनादि-अनत भग अभव्य जीवा की अपक्षा से मानने का कारण यह है कि उनके मिथ्यात्व के उदय का अभाव न तो कभी हुआ है और न होगा। भव्य जीवा की अपक्षा अनादि-सात भग इसलिए माना जाता है कि पहले पहल सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर उनके अनादि कालीन मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। चौथा सादि सान्त भग भी उस भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है जो सम्यक्त्व के छूट जाने के पश्चात पुन मिथ्यात्व को प्राप्त करके भी पुन सम्यक्त्व को पाकर उसका अभाव कर देता है। इस प्रकार ध्रुवादया मिथ्यात्व प्रकृति मे तीन भंग घटित होते हैं।

अध्रुवबधिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतिया मे केवल सादि-सान्त भंग ही घटित होता है। क्योकि उनका बध और उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नही होता है। इस प्रकार बंध और उदय प्रकृतिया मे भगा का क्रम समझना चाहिए।

बंध एवं उदय प्रकृतियों के उक्त ध्रुव, अध्रुव भेदों में भंगों को घटित करने का सारांश यह है कि मिथ्यात्व को छोड़कर शेष उदय प्रकृतियों में पहले दो—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त भंग तथा मिथ्यात्व में तीन—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त तथा सादि-सान्त भंग होते है। ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त यह तीन भंग घटित होते हैं। अध्रुव बंध व उदय प्रकृतियों में सिर्फ सादि-सान्त यह एक भंग होता है। यह भंग भव्य और अभव्य जीवों की पारिणामिक स्थिति के कारण बनते है। ग्रन्थकार ने सूत्र रूप में प्रकृतियों में घटित होने वाले भंगों का संकेत गाथा ५ में कर ही दिया है कि—

> पढमबिया धुवउदइसु धुवबंधिसु तइअवज्ज भंगतिग।
> मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअ भंगा॥

इस प्रकार से ध्रुव-अध्रुव बंध, उदय प्रकृतियों के नाम और उनमें घटित होने वाले भंगों की संख्या का कारण सहित स्पष्टीकरण करने के पश्चात अब दो गाथाओं में ध्रुव, अध्रुव सत्ता प्रकृतियों को गिनाते है।

ध्रुव-अध्रुव सत्ता प्रकृतियां—

> तसवन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं।
> आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ॥८॥
> खगइतिरिदुग नीयं धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं।
> विउव्विक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसंता॥९॥

शब्दार्थ—तसवन्नवीस—त्रस आदि बीस व वर्ण आदि बीस प्रकृतियां, सगतेयकम्म तैजस कार्मण सप्तक, धुवबंधि—ध्रुवबंधिनी, सेस—बाकी की, वेयतिगं—वेदत्रिक, आगिइतिग—आकृतित्रिक—छह

सस्थान, छह सहनन और पाच जाति, वेयणिय—वेदनीय दुजुयल—दो युगल, सगउरल—औदारिक सप्तक सासचऊ श्वासचतुष्क।

खगईतिरिदुग खतिद्विक और तियचद्विक, नीय—नीच गोत्र, धुवसता—ध्रुवसत्ता सम्म—सम्यक्त्व मोहनीय मीस—मिश्र मोहनीय मणुयदुग मनुष्यद्विक विउविक्कार—वक्रिय एकादश जिण—जिन नामकर्म आऊ—चार आयु, हारसग—आहारकसप्तक उच्चा उच्च गोत्र, अधुव सता—अध्रुव सत्ता।

गाथाय—त्रसवीशक और वर्णवीशक, तैजस-कार्मण सप्तक, बाकी की ध्रुवबंधिनी प्रकृतिया, तीन वेद, आकृति त्रिक, वेदनीय, दो युगल, औदारिक सप्तक, उच्छ्वास चतुष्क तथा—

विहायोगतिद्विक, तियचद्विक, नीच गोत्र, ये सब ध्रुव सत्ता प्रकृतिया है। सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यद्विक, वैक्रिय एकादश, तीर्थंकर नामकर्म, चार आयु, आहारक-सप्तक और उच्च गोत्र य अध्रुव सत्ता प्रकृतिया जानना चाहिये।

विशेषार्थ—बध एव उदय प्रकृतिया का ध्रुव व अध्रुव के भेद से वर्गीकरण करने के पश्चात् इन दोनो गाथाओ मे ध्रुव सत्ता और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियो की सख्या बतलाई है। कुछ प्रकृतिया के तो नाम बतलाये हैं और कुछ प्रकृतिया का समाओ द्वारा निर्देश किया है।

बध योग्य प्रकृतिया १२० हैं और उदययोग्य १२२ प्रकृतिया हैं, लेकिन सत्ता प्रकृतिया की सख्या १४८ है।[1] जिनके नाम प्रथम कर्म

---

[1] बध का अपेक्षा उदय, सत्ता प्रकृतिया म अतर का कारण परिशिष्ट म देखिये।

ग्रन्थ मे स्पष्ट किये गये हैं और संख्या इस प्रकार है—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नामकर्म १०३, गोत्र २, अंतराय ५। कुल मिलाकर (५+६+२+२८+४+१०३+२+५) १५८ भेद हो जाते हैं।

इन १५८ प्रकृतियो का ध्रुव और अध्रुव सत्ता रूप मे कथन करने के लिये निम्नलिखित संज्ञाओ का उपयोग किया गया है। संज्ञाओ और उनमे गर्भित प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

त्रसवीशक— त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति।[1]

वर्णवीशक—पाच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श।[2]

तैजस कार्मण सप्तक—तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजसतैजस वंधन, तैजसकार्मण वंधन, कार्मण-कार्मण वन्धन, तैजस संघातन, कार्मण संघातन।

आकृतित्रिक—छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि कुब्ज, वामन, हुंड। छह सहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त। पाच जाति—(जाति नामकर्म के भेद) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

युगलद्विक—हास्य और रति का युगल तथा शोक व अरति का युगल।

औदारिकसप्तक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपाग, औदा-

---

१. त्रस से लेकर यश कीर्ति तक की प्रकृतिया त्रसदशक और स्थावर से अयश कीर्ति तक की प्रकृतिया स्थावरदशक कहलाती है।

२. वर्ण चतुष्क मे गर्भित नामो को प्रथम कर्मग्रन्थ मे देखिये।

रिक मघात, औदारिक वधन, औदारिक तैजस वधन, औदारिक कामण वधन, औदारिक-तैजस कामण वधन।

उच्छवास चतुष्क—उच्छ्वास, आतप, उद्योत, पराघात।

खगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति।

तियचद्विक—तिर्यंचगति तियचानुपूर्वी।

मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी।

वक्रियएकादश—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग, वक्रिय मघात, वैक्रियवैक्रिय वधन, वैक्रियतैजस वधन, वक्रियकामण बधन, वक्रिय-तैजस कामण वधन।

आहारकसप्तक—आहारक शरीर, आहारक अगोपाग, आहारक मघातन, आहारक-आहारक वधन, आहारक-तैजस वधन, आहारक कामण वधन, आहारक तजस-कामण वधन।

इन सज्ञाओ मे गृहीत प्रकृतियो तथा कुछ प्रकृतिया के नाम निर्देश पूवक ध्रुव-अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतिया की अलग अलग सख्या वत लाई है। तसवन्नवीस से लेकर नीय धुवसता पद तक ध्रुव सत्ता वाली प्रकृतिया के नाम हैं तथा सम्ममीस मणुयदुग से लेकर हार-मगुच्चा पद तक अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतिया के नाम है। कुल मिलाकर ये १५८ प्रकृतिया हो जाती ह।

वध और उदय मे ध्रुववधिनी और ध्रुवोदया प्रकृतिया की सख्या अध्रुववधिनी और अध्रुवोदया की अपेक्षा कम है, लेकिन इसके विपरीत सत्ता मे ध्रुवसत्ता प्रकृतियो की सख्या अधिक और अध्रुव सत्ता प्रकृतिया की सख्या कम है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि वध के समय ही किसी प्रकृति का उदय हो जाये और किसी प्रकृति के उदय के समय ही उस प्रकृति का वध भी हो जाये यह आवश्यक नही

है। किन्तु जो वंधदशा मे है और जिसका उदय हो रहा है, उसकी सत्ता अवश्य होती है। इसी कारण ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियो की संख्या अधिक और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियो की संख्या कम है।

त्रसादि वीस से लेकर नीच गोत्र पर्यन्त की प्रकृतियो को ध्रुव-सत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते है।

त्रसादि वीस, वर्णादि वीस और तैजस-कार्मण सप्तक की सत्ता सभी संसारी जीवो के रहती है। समस्त ध्रुववंधिनी प्रकृतिया ध्रुव सत्ता वाली होती हैं। क्योकि जिनका वंध सर्वदा हो रहा है उनकी अवश्य ही ध्रुव सत्ता होगी। लेकिन वर्णवीशक मे वर्णचतुष्क और तैजस-कार्मण सप्तक मे तैजस, कार्मण शरीर का अलग से निर्देश कर दिये जाने से सैंतालीस ध्रुववंधिनी प्रकृतियो मे से इन छह प्रकृतियो को कम करके शेष ४१ प्रकृतियो का संकेत किया है। तीनो वेदो का वंध और उदय अध्रुव वतलाया है किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है। क्योकि वेदो का वंध क्रम-क्रम से होता है लेकिन उनके एक साथ रहने मे किसी प्रकार का विरोध नही है। परस्पर दलो की संक्राति होने की अपेक्षा वेदनीयद्विक को ध्रुवसत्ता माना है। हास्य-रति और शोक-अरति इन दोनो युगलो की सत्ता नौवे गुणस्थान तक सदैव रहती है अत इनकी सत्ता को ध्रुव माना है। औदारिक सप्तक की सत्ता भी सदा रहती है। क्योकि मनुष्य व तिर्यंच गति मे इनका उदय रहता है तथा देव व नरक गति मे इनका वंध होता है। इसीलिये इनको ध्रुवसत्ता माना है। इसी प्रकार उच्छ्वास चतुष्क, विहायोगति युगल, तिर्यंचद्विक, नीच गोत्र की सत्ता भी सदैव रहती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पहले सभी जीवो मे ये प्रकृतिया सदा रहती हैं। इसीलिए इनको ध्रुवसत्ता कहा जाता है।

ध्रुवसत्ता प्रकृतियो के ध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण का स्पष्ट करने के बाद अब शेष प्रकृतियो को अध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की सत्ता अभव्यो के तो होती ही नही है किन्तु भव्यो म भी बहुता को नही होती है। तेजस्काय और वायुकाय के जीव जब मनुष्यद्विक की उद्वलना कर देते है तब मनुष्यद्विक की सत्ता नही होती है, इसीलिये मनुष्यद्विक को अध्रुव-सत्ता माना है। वैक्रिय एकादश प्रकृतिया की सत्ता अनादि निगो-दिया जीव के नही होती है तथा जिसने त्रस पर्याय प्राप्त नही की हो, उसके बध का अभाव होने से अथवा बध करके स्थावर मे जाने पर उनकी स्थिति का क्षय होने से तथा एकेन्द्रिय मे जाकर उनकी उद्-वलना करने वाले जीव के भी सत्ता नही रहने से वैक्रिय एकादश की सत्ता अध्रुव मानी है।

सम्यक्त्व के होते हुए भी तीर्थकर नामकर्म किसी को होता है और किसी को नही होता है तथा स्थावरो के देवायु और नरकायु का, अहमिन्द्रो (नव ग्रैवेयक और पाच अनुत्तर के देव) के तिर्यचायु का, तेजस्काय व वायुकाय और सप्तम नरक के नारको के मनुष्यायु का सर्वथा बध न होने के कारण उनकी सत्ता नही रहती है। इसीलिए इन प्रकृतियो की गणना अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियो मे की जाती है।

आहारकसप्तक की सत्ता सयम के होने पर भी किसी के होती है और किसी के नही होती है। सभी सयमधारियो को आहारक शरीर होना ही चाहिए, ऐसा नियम नही है। उच्च गोत्र भी अनादि निगोदिया जीवो के नही होता है, उद्वलन हो जाने पर तेजस्काय और वायुकाय के जीवो के उच्च गोत्र नही होता है। इसीलिये अट्ठाईस प्रकृतियां अध्रुवसत्ता हैं।

इस प्रकार से सत्ता प्रकृतियो के १५८ भेदों मे से कितनी और कौन-कौन सी प्रकृतिया ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता है, इसका कथन करने के बाद अब आगे की तीन गाथाओं मे कुछ प्रकृतियों की गुणस्थानो की अपेक्षा ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते है।

पढमतिगुणेसु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं।
सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥१०॥
सासणमीसेसु धुवं मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥
आहारसत्तगं वा सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थं।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

शब्दार्थ—पढमतिगुणेसु—पहले तीन गुणस्थानो मे, मिच्छं—मिथ्यात्व, नियमा—निश्चित रूप से, अजयाइ—अविरति आदि, अट्ठगे—आठ गुणस्थानो मे, भज्जं—भजना से (विकल्प से), सासाणे—सासादन गुणस्थान मे, खलु—निश्चय से, सम्मं सम्यक्त्व मोहनीय, संतं – विद्यमान होती है, मिच्छाइदसगे—मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानो मे, वा—विकल्प से।

सासणमीसेसु—सासादन और मिश्र गुणस्थान मे, धुवं—नित्य, मीसं—मिश्र मोहनीय, मिच्छाइनवसु—मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानो मे, भयणाए—विकल्प से, आइदुगे—आदि के दो गुणस्थानो मे, अण—अनन्तानुबंधी नियमा—निश्चय से, भइया—विकल्प से, मीसाइनवगम्मि —मिश्रादि नौ गुणस्थानो मे।

आहारसत्तगं—आहारक सप्तक, सव्वगुणे—सभी गुणस्थानो मे, वा—विकल्प से, बितिगुणे—दूसरे तीसरे गुणस्थान मे, विणा—विना, तित्थं—तीर्थंकर नामकर्म, न—नही होता है, उभयसंते—

दोनों की सत्ता, मिच्छो—मिथ्यात्वी, अतमुहुत्त—अन्तमुहूर्त पयन्त, भवे—होती है, तित्थे—तीर्थंकर नामकर्म के होने पर भी।

गाथार्थ—पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य होती है और अविरति आदि आठ गुणस्थानों मे भजनीय है, सासादन गुणस्थान मे सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता निश्चित रूप से होती है और मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों मे विकल्प से होती है।

सासादन और मिश्र गुणस्थान मे मिश्र प्रकृति की सत्ता निश्चित रूप से रहती है। मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानों मे विकल्प से है। पहले दो गुणस्थानों मे अनन्तानुबंधी कषाय की सत्ता अवश्य होती है और मिश्र आदि नौ गुणस्थानों मे भजनीय है।

आहारक सप्तक सभी गुणस्थानों मे विकल्प से है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों मे तीर्थंकर नामकर्म विकल्प से होता है और दोनों (आहारक सप्तक व तीर्थंकर नामकर्म) की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे नहीं आता है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्तावाला कोई जीव मिथ्यात्व मे आता है तो सिर्फ अन्तमुहूर्त तक के लिये आता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं द्वारा गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियों की सत्ता विषयक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है कि कौन-सी प्रकृति किस गुणस्थान तक निश्चित व विकल्प होती है।

मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता का नियम

मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता के बारे मे बतलाया है कि 'पढमति गुणेसु मिच्छं नियमा' पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व मोहनीय

प्रकृति की सत्ता अवश्य होती है। साथ ही यह भी कहा है कि 'सासाणे खलु सम्मं संतं' सासादन गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति निश्चित रूप से है। यानी मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के निश्चित अस्तित्व का कथन किया गया है।

इस प्रकार से मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की गुणस्थानो मे निश्चित सत्ता बतलाने के साथ-साथ इन दोनो प्रकृतियो की विकल्पसत्ता वाले गुणस्थानों का संकेत क्रमश: 'अजयाइअट्ठगे भज्जं' व 'मिच्छाइदसगे वा' पदो से किया है कि मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि आदि आठ गुणस्थानो मे भजनीय है तथा सम्यक्त्व प्रकृति सासादन के सिवाय पहले मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानो मे विकल्प से होती है। इसके कारण को स्पष्ट करते है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता इसलिये मानी जाती है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे तो मिथ्यात्व की सत्ता रहती ही है। उपशम सम्यक्त्व के काल मे कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिका काल शेष रहने पर कोई-कोई जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त करते है,[1] उस समय उन जीवो के मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता अवश्य रहती है। इसीलिये दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व की सत्ता बतलाने के साथ सम्यक्त्व की भी सत्ता बतलाई है।

---

१. उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स।
सासायणसम्मत्त तयतरालम्मि छावलिय ॥
—विशे० भाष्य ५३४

उपशम सम्यक्त्व के काल मे अधिक से अधिक ६ आवलिका शेष रहने पर अनतानुबधी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक जीव मिथ्यात्व मे नही आता तब तक वह उस समयावधि के लिये सासादन सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख हाता हे तब करणलब्धि के बल से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व मोहनीय के दलिका के तीन रूप हो जाते है—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिक सम्यक्त्व, अधशुद्ध मिश्र और अशुद्ध मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते है। उपशम सम्यक्त्व के अत मे उक्त तीन पुजो मे से यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय हो जाता है तो पहला गुणस्थान, यदि मिश्र (सम्यक्त्व मिथ्यात्व) मोहनीय का उदय होता है तो तीसरा मिश्र गुणस्थान हो जाता है। इस प्रकार पहले और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व की सत्ता रहती है। इसीलिये पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व की सत्ता मानी गई है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय चौथे अविरति आदि आठ गुणस्थाना मे मिथ्यात्व की सत्ता होने और न होने का कारण यह है कि यदि उन गुणस्थानो मे मिथ्यात्व का क्षय कर दिया जाता है यानी क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो मिथ्यात्व की सत्ता नही रहती है और यदि मिथ्यात्व का उपशम किया जाता है तो मिथ्यात्व की सत्ता अवश्य रहती है। मिथ्यात्व की सत्ता रहने के कारण ही उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होता है।

दूसरे सासादन गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थाना मे सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता विकल्प से मानन यानी होती भी है और नही भी होती है, का कारण यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जिसने कभी भी मिथ्यात्व के शुद्ध, अधशुद्ध, अशुद्ध यह तीन पुज नही किये तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीव ने सम्यक्त्व (शुद्ध पुज) की उद्वलना कर दी है, उसके सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता नहीं हाती है, शेष मिथ्यादृष्टि जीवा के उसकी सत्ता होती है। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान म सम्यक्त्व की उद्वलना करके

मिश्र गुणस्थान मे आने वाले जीव के सम्यक्त्व की सत्ता नही रहती है, शेष जीवो के रहती है।

चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति की सत्ता नही होती है किन्तु क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि को उसकी सत्ता अवश्य रहती है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की प्रकृति मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की सत्ता का विचार आदि के ग्यारह गुणस्थानों मे किया गया। अन्त के तीन गुणस्थानो मे मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है अत इनकी सत्ता नही रहती है। अब आगे मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबंधी कषाय की सत्ता का विचार करते हैं।

मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबधी की सत्ता का नियम

मिश्र मोहनीय की निश्चित रूप से किस गुणस्थान मे सत्ता होती है, इसके लिये कहा है—'सासणमीसेसु धुवं मीसं—सासादन और मिश्र गुणस्थान मे मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) मोहनीय की सत्ता नियम से होती है। इसका कारण यह है कि 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जो मिथ्यात्व के तीन पुज हो जाते है और उस सम्यक्त्व के काल मे जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिका काल शेष रह जाता है तब सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है। उस समय उस जीव के परिणाम निश्चित रूप से न तो सम्यक्त्व रूप होते है और न मिथ्यात्व रूप किंतु सम्यक्त्वांश भी होता है और मिथ्यात्वांश भी। इसीलिये मिश्र प्रकृति की सत्ता रहती है। इसीलिये दूसरे गुणस्थान मे मिश्र प्रकृति की सत्ता मानने का विधान किया है।

तीसरा मिश्र गुणस्थान मिश्र मोहनीय के उदय के बिना होता नही है। इसीलिये तीसरे गुणस्थान मे मिश्र प्रकृति की ध्रुवसत्ता कही

है और विकल्प से पाये जाने वाले गुणम्थाना के वारे मे कहा है कि 'मिच्छाइनवसु भयणाए' यानी दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले मिथ्यात्व, चौथे, पाचव, छठे, सातव, आठवें, नौव, दसवें, ग्यारहवें, इन नौ गुणस्थाना मे अध्रुवसत्ता है। क्याकि जिस मिथ्यादृष्टि जीव ने मिश्र प्रकृति की उद्वलना की है, उसके व अनादि मिथ्यात्वी के मिश्र प्रकृति की सत्ता नही है। चौथे आदि आठ गुणस्थानो मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि के मिश्र प्रकृति की सत्ता नही होती है, शेप जीवा के इसकी सत्ता होती है।

मिश्र मोहनीय प्रकृति की सत्ता का कथन करने के पश्चात अव अनन्तानुवधी की सत्ता के वारे मे वतलाते ह।

अनन्तानुवधी के निश्चित गुणम्थाना के वारे मे कहा ह—'आइदुगे अण नियमा' आदि के दो—पहले, दूसरे गुणस्थाना मे अनन्तानुवधी की ध्रुवसत्ता है। क्याकि दूसरे गुणस्थान तक अनन्तानुवधी का वध हाता है, इसीलिये उसकी सत्ता अवश्य रहेगी। शेप तीसरे आदि नौ गुणस्थाना मे उसकी सत्ता अध्रुव है—'भइया मीसाइनवगम्मि।' क्याकि अनन्तानुवधी कषाय का विसयोजन करने वाले के अनन्तानुवधी की सत्ता नही होती है।

अनतानुवधी की अध्रुवसत्ता के विपय मे ऊपर कामग्रन्थिक मत का उल्लेख किया गया है कि तीसरे आदि नौ गुणस्थाना मे विकल्प से सत्ता है। लेकिन कमप्रकृति[1] और पच-

---

[1] सजायणा उ नियमा दुसु पचसु हाइ भइयव्व।

—कमप्रकृति (सत्ताधिकार)

दो गुणस्थाना म अन तानुवधी नियम स हाती है और पाच गुणस्थाना म भजनीय है।

संग्रह[1] मे तीसरे से लेकर सातवें तक पाँच गुणस्थानो मे सत्ता मानी है।

कर्मग्रन्थ मे ग्यारहवें गुणस्थान तक और कर्मप्रकृति व पंचसंग्रह मे सातवें गुणस्थान तक अनंतानुवंधी कषाय की सत्ता मानने के अन्तर का कारण यह है कि कर्मप्रकृति व पंचसंग्रहकार उपशमश्रेणि में अनंतानुवंधी का सत्व नही मानते है और कर्मग्रन्थकार उसका सत्व स्वीकार करते है। कर्मप्रकृतिकार के मंतव्य का साराश यह है कि चारित्र मोहनीय के उपशम का प्रयास करने वाला अनंतानुवंधी का अवश्य विसंयोजन करता है।

आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता का नियम

आहारक सप्तक की गुणस्थानो मे सत्ता वतलाने के लिये कहा है—आहारसत्तगं वा सव्वगुणे। यानी आहारक सप्तक की सत्ता विकल्प से सभी गुणस्थानो मे है। ऐसा कोई गुणस्थान नही कि जिसके वारे मे आहारक सप्तक की सत्ता नियम से होने का कथन किया जा सके अर्थात् सभी गुणस्थानों मे इसकी अध्रुव सत्ता है।

इसका कारण यह है कि आहारक शरीर नामकर्म प्रशस्त प्रकृति है और इसका वंध किसी-किसी विशुद्ध चारित्रधारक अप्रमत्त संयमी को होता है।[2] जव कोई अप्रमत्त संयमी आहारक शरीर का वंध

---

१ सामायणत नियमा पचसु भज्जा अओ पढमा। —पचसग्रह ३४२
गो० कर्मकाड गाथा ३६१ मे उक्त मतभेद का 'णत्थि अण उवसमगे' पद द्वारा उल्लेख किया है तथा दोनो मतो को स्थान दिया है।

२ (क) शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारक चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।
—तत्त्वार्थसूत्र २।४६

(ख) आहारक शरीर और तीर्थंकर प्रकृति के वध के कारण का सकेत पचसग्रह मे किया है —

तित्थयराहाराण वधे सम्मत्तसजमा हेऊ। —पंचसंग्रह २०४

तीर्थंकर प्रकृति के वन्ध मे सम्यक्त्व और आहारक के वध मे संयम कारण है।

करके शुद्ध परिणामा के कारण ऊपर के गुणस्थानो मे जाता है तब अथवा अशुद्ध परिणामा के कारण ऊपर के गुणस्थानो से नीचे के गुण स्थानो मे आता है तब उसके आहारक सप्तक की सत्ता बनी रहती है। लेकिन जो अप्रमत्त सयमी मुनि आहारक सप्तक का बध किय बिना ही ऊपर के गुणस्थाना मे जाता है अथवा नीचे के गुणस्थाना म आता है, उसके उन गुणस्थानो मे आहारक सप्तक की सत्ता नही पायी जाती है। इसी विभिन्नता के कारण आहारक सप्तक की सत्ता सभी गुणस्थाना मे विकल्प से मानी गई है।

आहारक सप्तक के समान ही तीथकर नामकम भी प्रशस्त प्रकति है। क्याकि उसका बध सम्यक्त्व के सद्भाव मे होता ह और वह भी चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक किसी किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि को होता है। लेकिन गुणस्थाना मे इसकी सत्ता के सम्बध मे गाथा मे सकेत किया है कि 'बितिगुणे विणा तित्थ'—दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थाना मे सत्ता विकल्प से होती है। इसका कारण यह है कि किसी जीव के चौथे से लेकर आठव गुणस्थान के छठे भाग तक मे तीर्थंकर प्रकृति का बध होने पर जब वह शुद्ध परिणामा के कारण ऊपर के गुणस्थानो मे जाता है तो उनमे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पाई जाती है। लेकिन वह जीव जिसने तीथकर प्रकृति का बध किया है, अशुद्ध परिणामा के कारण ऊपर से नीचे के गुणस्थाना मे भी आता है तो मिथ्यात्व गुण स्थान मे भी आता है, लेकिन दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे नही ही आता है, इसीलिये दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोडकर शेष बारह गुणस्थाना म तीर्थंकर नामकम की सत्ता रह सकती ह। किन्तु कोई जीव विशुद्ध सम्यक्त्व के होन पर भी तीथकर प्रकृति का बध नही

करता है तो उसके सभी गुणस्थानो मे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नही पाई जाती है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे तो तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नही पाई जाती है और शेष गुणस्थानो मे उसका बंध करने वालो के संभव है लेकिन जिसने बंध ही नही किया उसके सत्ता होती ही नही। इसीलिये तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता अध्रुव मानी है।

नीचे मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति के बंधक को आने का कारण यह है कि किसी जीव ने पूर्व मे नरकायु बाधी हो और उसके बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तथाविध अध्यवसायो के फलस्वरूप तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध कर लिया हो तो अंत समय मे सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त कर नरक मे जन्म लेता है। इसी कारण तीर्थंकर प्रकृति के बंधक को मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति का कथन किया जाता है।

तीर्थंकर प्रकृति वाले को मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति होने पर भी वह अन्तर्मुहूर्त समय तक ही वहाँ ठहरता है—अंतमुहुत्त भवे तित्थे। इसका कारण यह है कि पहले जिस जीव ने नरकायु का बंध किया हो और बाद मे वेदक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर ले तो वह जीव मरण काल आने पर सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है और मिथ्यात्व दशा मे नरक मे जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह कथन निकाचित तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से है। क्योकि निकाचित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाला अन्तर्मुहूर्त से अधिक मिथ्यात्व गुणस्थान मे नही ठहरता है और पर्याप्त होकर तुरन्त सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सिफ आहारक सप्तक अथवा सिफ तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। लेकिन जिसके आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकति, दोना का अस्तित्व है, उसके मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति नही होने को स्पष्ट करते ह कि 'नाभयमत मिच्छे' उभय की सत्ता वाला जीव मिथ्यादृष्टि नही होता है। अर्थात् जिस जीव के आहारक व तीथकर दोनो, प्रकृति की सत्ता है, उसका पतन नही होने से मिथ्यात्व गुणस्थान म नही आता है।

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतियो का निरूपण करने के साथ मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबधी चतुष्क तथा तीथकर व आहारक सप्तक इन पन्द्रह प्रकृतिया की गुणस्थाना मे सत्ता का विचार किया गया। इनमे से आदि की सात अप्रशस्त और शेष आठ प्रशस्त प्रकृतिया मे प्रधान हैं।

मिथ्यात्व आदि उक्त पन्द्रह प्रकृतिया की गुणस्थाना मे सत्ता का कथन विशेष कारण से किया गया है। क्याकि मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबधी चतुष्क इन सात प्रकृतिया का जीव के उत्थान-पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक इन प्रकृतिया की सत्ता रहती है तब तक जीव अपने लक्ष्य—मोक्ष के कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति नही कर सकता है। इनके सद्भाव मे जीव यथार्थ लक्ष्य को नहीं समझकर ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन जब इन प्रकृतिया को निष्क्रिय, निस्सत्व बना डालता है तो ससार के बधना को तोडकर अनन्त काल के लिये आत्मस्वरूप मे स्थित हो जाता है।

जस मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त प्रकृतिया म मुख्य हैं वसे ही आहारक सप्तक और तीर्थंकर नामकर्म य आठ प्रकृतियाँ प्रशस्त प्रकृतिया मे प्रधान है। क्याकि आहारक सप्तक का बध विरत को सयमस्थिति का होता है और तीथकर प्रकृति तो उनकी अपेक्षा भी

किसी-किसी को वंधती है। इसीलिये अप्रशस्त और प्रशस्त प्रकृतियो मे प्रधान प्रकृतियो के गुणस्थानो का विवेचन किया है। अव आगे घाति और अघाति प्रकृतियो की संख्या वतलाते है।

घाति-अघाति प्रकृतियाँ

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा वारसाइमकसाया।
मिच्छ ति सव्वघाइ, चउणाणतिदसंणावरणा ।।१३।।
सजलण नोकसाया विग्ध इय देसघाइय अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ।।१४।।

शब्दार्थ — केवलजुयल—केवलद्विक — केवलज्ञान, केवलदर्शन, आवरणा — आवरण, पण—पाच, निद्दा — निद्रायें, वारस— वारह, आइमकसाया—आदि की कपाये, मिच्छं—मिथ्यात्व, ति—इस प्रकार, सव्वघाइ—सर्वघाति, चउ—चार, णाण—ज्ञान, तिदसण—तीन दर्शन, आवरणा—आवरण।

संजलण - सज्वलन, नोकसाया—नो कपायें, विग्घं — पाच अतराय, इय — ये, देसघाइ देशघाति य—और, अघाइ - अघाति पत्तेयतणुट्ठ—प्रत्येक आदि आठ व शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, आऊ - आयु, तसवीसा—त्रसवीशक, गोयदुग—गोत्रद्विक, वेदनीय-द्विक, वन्ना — वर्णचतुष्क।

गाथार्थ केवलद्विक आवरण, पाच निद्रायें, आदि की वारह कपाय और मिथ्यात्व ये सर्वघाति प्रकृतियां है। चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण तथा—

संज्वलन कपाय चतुष्क, नौ नो कषाये और पांच अंतराय ये देशघाती प्रकृतियां जानना चाहिये। आठ प्रत्येक

प्रकृतिया, शरीरादि अष्टक, चार आयु, त्रसदशक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक और वर्णचतुष्क ये प्रकृतिया अघातिनी है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे कर्म प्रकृतियो का घाति और अघाति की अपेक्षा वर्गीकरण किया गया है कि घाति प्रकृतियो की सख्या कितनी है और वे कौन-कौन है और अघाति प्रकृतियो की संख्या कितनी और उनमे कौन-कौन-सी प्रकृतियो को ग्रहण किया गया है।

यद्यपि सामान्य तौर पर तो सभी कर्म ससार के कारण है और जब तक कर्म का लेशमात्र है तब तक आत्मा स्व-स्वरूप मे अवस्थित नहीं कहलाती है। आत्मविकास की पूर्णता मे कुछ न्यूनता बनी रहती है। लेकिन उनमे से कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो आत्मगुणो की अभिव्यक्ति को रोकते है और कुछ ऐसे होते हैं जो अभिव्यक्ति मे व्यवधान नहीं डालकर ससार मे बनाये रखते हैं। इसी दृष्टि से कर्मो के घाति और अघाति यह दो प्रकार माने जाते है। ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय ये चार घाती और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघाती हैं। घातिकर्म की उत्तर प्रकृतिया घातिनी और अघातिकर्म की उत्तर प्रकृतिया अघातिनी कहलाती हैं।

जो प्रकृतिया आत्मा के मूलगुणो का घात करती हैं, वे घातिनी कहलाती है और जो उनका घात करने मे असमर्थ हैं, वे अघातिनी है। घाति प्रकृतिया मे भी दो प्रकार है—सर्वघातिनी, देशघातिनी। जो सर्वघातिनी है व आत्मा के गुणो को पूरी तरह घातती हैं अर्थात् जिनके रहने पर यथार्थ रूप मे आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो पाते है और देशघातिनी प्रकृतिया यद्यपि आत्मगुणो की घातक अवश्य है लेकिन उनके अस्तित्व मे भी अल्पाधिक रूप मे आत्मगुणो का प्रकाशन

होता रहता है। गाथाओ मे घाती और अघाती के रूप मे प्रकृतियो के नाम वतलाने के साथ-साथ विशेष रूप से घाति कर्म प्रकृतियो के देशघाती और सर्वघाती यह दो उपभेद और वतलाये है। जिससे दो वाते स्पष्ट हो जाती है कि समस्त घाती कर्म प्रकृतिया कितनी और कौन-कौन सी है तथा उनमे से अमुक प्रकृतिया सर्वघातिनी और अमुक प्रकृतिया देशघातिनी है। उनके नाम इस प्रकार है—

'केवलजुयलावरणा पणनिद्दा वारसाइमकसाया मिच्छं ति सव्वघाई' इस गाथाश मे सर्वघातिनी प्रकृतियो के नाम व संख्या का निर्देश किया गया है कि—

(१) ज्ञानावरण—केवलज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण—केवलदर्शनावरण, पांच निद्राये—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

(३) मोहनीय—अनंतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व।[1]

कुल मिलाकर ये २० है। इनमे ज्ञानावरण की १, दर्शनावरण की ६ और मोहनीय की १३ प्रकृतियो का ग्रहण किया गया है जो जीव के मूल गुणो को सर्वांश मे घात करने से सर्वघातिनी कहलाती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्मा के केवल-ज्ञान गुण को आवृत करता है। जव तक केवलज्ञानावरण दूर न हो तव तक केवलज्ञान उत्पन्न नही होता है। इसीलिये केवलज्ञानावरण को सर्वघाती कहा जाता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि

---

१ केवलिय नाणदसण आवरण वारमाइमकसाया।
मिच्छत्त निद्दाओ इय वीस मव्वघाईओ॥

— पचसंग्रह ३।१७

जसे मेघपटल के द्वारा सूय के पूरी तरह आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का उतना अश अनावृत रहता है जिससे दिन रात्रि का अतर ज्ञात हो, वसे ही सब जीवा के केवलज्ञान का अनन्तवा भाग अनावृत ही रहता है। क्याकि यदि केवलज्ञानावरण उस अनतव भाग को भी आवृत कर ले तो जीव और अजीव मे कोई अतर ही नही रह सकेगा। इसका फलिताथ यह हुआ कि केवलज्ञानावरण के रहने तब केवलज्ञान उत्पन्न नही होता है, लेकिन उसके सद्भाव मे भी ज्ञान का अनतवा भाग अनावृत रहता है। जिसको आच्छादित करने की शक्ति केवलज्ञानावरण तक मे भी नही है। ज्ञान के अनतवें भाग के अतिरिक्त केवलज्ञान का सर्वात्मना आवरक होने से केवल ज्ञानावरण को सवघाती कहा जाता है।

केवलदशनावरण केवलदशन को पूरी तरह आवृत करता है। फिर भी उसका अनन्तवा भाग अनावृत ही रहता है। केवलज्ञान और केवल दशन सहभावी हैं, अत आत्मा के दशनगुण के अनतवें भाग के अना वृत रहने के कारण को केवलज्ञानावरण की तरह समझ लेना चाहिए।

निद्रा पचक भी जीव को वस्तुओ के सामान्य प्रतिभास को नही होने देती है। इन्द्रिया के अवबोध मे रुकावट डालती है। इसीलिये उनको सवघातिनी प्रकृतिया मे ग्रहण किया है। बारह कषाया मे से अनन्तानुबन्धी कषाय जीव के सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के मूल कारण सम्यक्त्व का ही घात करती है और बिना सम्यक्त्व के जीव को सिद्धि प्राप्त होना असभव है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्याना- वरण कषायें जीव के स्वरूपलाभ के हेतु चारित्र गुण का घात करती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का और प्रत्याख्याना- वरण कषाय सवविरति चारित्र का घात करती है। मिथ्यात्व के रहते

पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव ही है, वह सम्यक्त्व गुण का सर्वात्माना घात करती है, इसीलिये उसे सर्वघाती में ग्रहण किया है।

सर्वघातिनी प्रकृतियों का कथन करने के बाद अब देशघातिनी प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं—'चउणाणतिदंसणावरणा संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइयं'—चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ नो कषाय और पांच अन्तराय कर्म यह देशघाति प्रकृतियां हैं। जिनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण - चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण।

(३) मोहनीय—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद।

(४) अंतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।[1]

इनमें ज्ञानावरण की ४, दर्शनावरण की ३, मोहनीय की १३ और अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियां हैं। जो कुल मिलाकर २५ होती हैं। ये प्रकृतियां आत्मा के गुणों का एकदेश घात करने से देशघातिनी कहलाती हैं। इनको देशघाती मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं कि मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण केवलज्ञानावरण द्वारा आच्छादित नहीं हुए ऐसे ज्ञानांश का आवरण करते हैं। यदि कोई छद्मस्थ जीव मत्यादि ज्ञानचतुष्क के विषयभूत अर्थ को न जाने तो वही मतिज्ञानादि के आवरण का उदय समझना चाहिए। किन्तु मति आदि चारों ज्ञान के अविषयभूत (केवलज्ञान के

---

१. नाणावरणचउक्कं दंसणतिग नोकसाय विग्घपणं।
संजलण देसघाइ, तइयविगप्पो इमो अन्नो॥

—पंचसंग्रह ३।१९

विषयभूत) अनन्त गुणों को जानने में जो उसकी असमर्थता है, उसे केवलज्ञानावरण का उदय समझना चाहिये।

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण भी केवल दर्शनावरण से अनावृत केवलदर्शन के एकदेश का घातते हैं। इनके उदय में जीव चक्षुदर्शन आदि के विषयभूत विषयों को पूरी तरह नहीं देख सकता है, किन्तु उनके अविषयभूत अनंतगुणों को केवल दर्शनावरण के उदय होने के कारण ही देखने में असमर्थ होता है।

संज्वलन कषाय चतुष्क और हास्यादि नौ नोकषायें चारित्र गुण का सर्वात्मना घात करने में तो सक्षम नहीं हैं किन्तु मूल गुणों और उत्तर गुणों में अतिचार लगाती हैं। इसीलिये इनको देशघातिनी माना है। जबकि अन्य कषायों का उदय अनाचार का जनक है।[1]

अन्तराय कर्म की दानान्तराय आदि पांचों प्रकृतियां देशघातिनी इसलिये मानी जाती हैं कि दान, लाभ, भोग और उपभोग के योग्य जो पुद्गल हैं वे समस्त पुद्गल द्रव्य के अनंतवें भाग हैं। यानी सभी पुद्गल द्रव्य इस योग्य नहीं हैं कि उनका लेन देन आदि किया जा सके, लेन-देन और भोगने में आने योग्य पुद्गल बहुत थोड़े हैं। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि भोग्य पुद्गलों में भी एक जीव सभी पुद्गलों का दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं कर सकता है। सभी जीव अपने अपने योग्य पुद्गल अंश का ग्रहण करते रहते हैं। अतः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय देशघाती हैं। वीर्यान्तराय

---

[1] सव्वे वि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं।

—पंचाशक ८४[illegible]

संज्वलन कषाय के उदय से सम्यक्त्व में अतिचार होता है किन्तु अन्य बारह कषायों के उदय से व्रत के मूल का ही छेद हो जाता है।

को भी देशघाती मानने का कारण यह है कि वीर्यान्तराय का उदय होते हुए भी सूक्ष्म निगोदिया जीव के इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है जिससे आहार परिणमन, कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण, गत्यन्तर गमन रूप वीर्यलब्धि होती है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की तरतमता के कारण ही सूक्ष्म निगोदिया से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के वीर्य (शक्ति, सामर्थ्य) की हीनाधिकता पाई जाती है। यह सब केवली के वीर्य का एकदेश है। यदि वीर्यान्तराय कर्म सर्वघाती होता तो जीव के समस्त वीर्य को आवृत करके उसे जड़वत् निश्चेष्ट कर देता। इसीलिये वीर्यान्तराय कर्म देशघाती है।

यहाँ सर्वघाती की २० और देशघाती की २५ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जो कुल मिलाकर ४५ हैं, सो बंध की अपेक्षा से समझना चाहिये। जब उदय की अपेक्षा विचार करते हैं तो सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर ४७ प्रकृतियां होती हैं। इन दोनों में सम्यक्त्व मोहनीय का देशघाती में और मिश्र मोहनीय का सर्वघाती प्रकृतियों में समावेश होता है।[1] तब सर्वघाती २१ और देशघाती २६ प्रकृतियां हैं।

---

1 गो० कर्मकांड में बंध व उदय की अपेक्षा सर्वघाती और देशघाती प्रकृतियों को गिनाया है—

केवलणाणावरणं दसणछक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥३९॥

केवलज्ञानावरण, छह दर्शनावरण (केवलदर्शनावरण, पाच निद्रा) बारह कषाय (अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभ) मिथ्यात्व मोहनीय ये २० प्रकृतियां सर्वघाती हैं। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी उदय व सत्ता अवस्था में सर्वघाती है। परंतु यह सर्वघाती जुदी ही जाति की है।

णाणावरणचउक्कं तिदसणं सम्मगं च संजलणं।
णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥४०॥

ज्ञानावरण चतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, सम्यक्त्व, संज्वलन क्रोधादि चार, नौ नो कषाय, पांच अंतराय ये छब्बीस भेद देशघाती हैं।

सर्वघाती और देशघाती प्रकृतियों का विशेष स्पष्टीकरण

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सर्वथा घात करने वाली होने से केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां सर्वघाती और शेष पच्चीस प्रकृतियां ज्ञानादि गुणों का देशघात करने वाली होने से देशघाती हैं।[1]

केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां अपने द्वारा ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और चारित्र गुण का सर्वथा घात करती हैं। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क सम्यक्त्व का सर्वथा घात करती हैं। क्योंकि इनके उदय होने से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण अनुक्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन को पूर्ण रूप से आवृत करते हैं। निद्रा, निद्रा निद्रा आदि पांच निद्रायें दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनलब्धि को सर्वथा आच्छादित करती हैं तथा अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क अनुक्रम से देशचारित्र और सकलचारित्र का सर्वथा घात करती हैं।

इस प्रकार उक्त सभी प्रकृतियां सम्यक्त्व आदि गुणों का सर्वथा घात करने वाली होने से सर्वघाती कहलाती हैं। उक्त सर्वघाती बीस प्रकृतियों के सिवाय चार घाति कर्मों की मतिज्ञानावरण आदि पच्चीस प्रकृतियां ज्ञानादि गुणों के एकदेश का घात करने वाली होने से देशघाती हैं। जिनका स्पष्टीकरण यहां किया जाता है।

केवलज्ञानावरण कर्म ज्ञानस्वरूप आत्मगुण को पूर्ण रूप से आवृत करने की प्रवृत्ति करे तो भी वह जीव के स्वभाव को सर्वथा ढकने में

---

1 सम्मत्तनाणदंसण चरित्तघायत्तणाउ घाईओ।
तस्सेस देसघाइत्तणाउ पुण देसघाईओ॥
— पंचसंग्रह ३।१८

समर्थ नही होता है। यदि सर्वथा सम्पूर्ण रूप मे ढक ले तो जीव अजीव हो जाये और उससे जड और चेतन के बीच रहने वाले भेद का अभाव हो जायेगा। यानी जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। जिस प्रकार सघन बादलो के द्वारा सूर्य, चन्द्र का प्रकाश आच्छादित किये जाने पर भी उनके प्रकाश का सर्वथा अभाव नही हो जाता है। वे उनके प्रकाश को पूर्णरूप से आच्छादित नही कर पाते है। यदि सम्पूर्णतया आच्छादित कर ले तो रात्रि दिन के भेद का भी अभाव हो जाये। शास्त्रो मे कहा भी है कि गाढ मेघ का उदय होने पर भी चन्द्र, सूर्य का कुछ प्रकाश होता है, वैसे ही केवलज्ञानावरण कर्म के द्वारा पूर्णतया केवलज्ञान के आवृत होने पर भी जो कुछ भी तत्संबधी मंद, तीव्र या अति तीव्र प्रकाश रूप ज्ञान का एकदेश जिसको मति-ज्ञानादि कहा जाता है, उस एकदेश को यथायोग्य रीति से मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञानावरण के द्वारा आच्छादित किये जाने से वे देशघाती कहलाते है। इसी प्रकार केवलदर्शनावरण कर्म द्वारा सम्पूर्ण रूप से केवलदर्शन के आच्छादित किये जाने पर भी तत्सम्बन्धी मंद, अति मंद या विशिष्ट आदि रूप जो प्रभा जिसकी चक्षुदर्शन आदि संज्ञा है, उस प्रभा को यथायोग्य रीति से चक्षु, अचक्षु या अवधि दर्शनावरण कर्म ढाक लेते है। अतएव वे भी दर्शन के एकदेश को आवृत करने वाले होने से देशघाती है तथा निद्रा आदि पाच प्रकृतियॉ यद्यपि केवलदर्शनावरण द्वारा अनावृत केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभा रूप दर्शन के सिर्फ एकदेश का घात करती है तो भी दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली दर्शनलब्धि का सम्पूर्ण रूप से आच्छादन करने वाली होने से सर्वघाती कही जाती है।

संज्वलन कषाय चतुष्क और हास्यादि नौ नो कषायें आदि की बारह कषायो के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलब्धि को देश से आच्छादित करने वाली हैं। क्योकि वे सिर्फ अतिचार लगाती है। जो

कपायें अनाचार स्थिति की जनक है यानी जिनके उदय से मम्यक्त्व आदि गुणा का विनाश होता है, वे सवघाती कहलाती है और जो कपाये मात्र अतिचार उत्पन्न करती है वे देशघाती कहलाती है। मज्वलन कपाय के उदय से सिफ अतिचार लगते हैं और आदि की वारह कपायो के उदय से मूल का नाश होता है अर्थात् व्रतो से पतन होता है। लेकिन सज्वलन कपायो के रहने से व्रतो मे अतिचार ता अवश्य लग जात है, किन्तु व्रतो का ममूलोच्छेद नही होने से देशघाती है।

ग्रहण, धारण योग्य जिस वस्तु को जीव दे नही सके, प्राप्त नही कर सके अथवा भोगोपभोग नही कर सके आदि यह सब दानान्तराय आदि कर्मो का विषय है और ग्रहण, धारण आदि करने योग्य वस्तुयें जगत मे विद्यमान सब द्रव्यो के अनन्तवें भाग प्रमाण ही है। इस लिये तथारूप सवद्रव्यो के एकदेश के दानादि का विघात करने वाली होने से—दानान्तराय आदि देशघाती हैं। ज्ञान के एक देश को आच्छादित करने वाली होने से जसे मतिज्ञानावरण आदि देशघाती है, वैसे ही सवद्रव्या के एकदेश विषयक दानादि का विघात करने वाली होने से दानान्तराय आदि देशघाती है।

घाती प्रकृतिया की सख्या, नाम आदि वतलाने के बाद अब अघाती प्रकृतिया का कथन करते है।

अघाती प्रकृतियाँ

वधयोग्य १२० और उदययोग्य १२२ प्रकृतियो मे से क्रमश ४५ और ४७ घाती प्रकृतिया को कम करने पर शेष ७५ प्रकृतियाँ अघाती हैं। जिनके नामो का सकेत गाथा मे इस प्रकार किया है—

अघाइ पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना—आठ प्रत्येक प्रकृतिया, शरीर आदि आठ पिंड प्रकृतियो के भेद तथा त्रसवीशक और गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, वर्णचतुष्क—ये सब अघाती प्रकृतियाँ है। ये सभी नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुकर्म की उत्तरप्रकृतिया है। ये अपने अस्तित्व तक जीव को ससार मे टिकाये रखने के सिवाय

किसी गुण का घात करने वाली नही होने से अघाती कहलाती है। इनके नाम क्रमश इस प्रकार है—

(१) **वेदनीय कर्म**—साता वेदनीय, आसाता वेदनीय।

(२) **आयु कर्म**—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(३) **नाम कर्म**—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपघात, पाँच शरीर—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, तीन अंगोपाग—औदारिक अंगोपाग, वैक्रिय अंगोपाग, आहारक अंगोपाग, छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुण्डक, छह संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त, पाँच जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, विहायोगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, आनुपूर्वी चतुष्क—नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, त्रसवीशक (त्रस दशक व स्थावर दशक), वर्ण, गंध, रस, स्पर्श।

(४) **गोत्र**—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

उक्त प्रकृतियो के नामोल्लेख मे वेदनीय की २, आयु की ४, नाम की ६७ और गोत्र कर्म की २ प्रकृतिया है। कुल मिलाकर २+४+६७+२=७५ होती है।

इस प्रकार से घाति और अघाती की अपेक्षा प्रकृतियो का वर्गीकरण करने के पश्चात् अब पुण्य, पाप (शुभ, अशुभ, प्रशस्त, अप्रशस्त) के रूप मे उनका विभाजन करते है।

पुण्य-पाप प्रकृतियां—

सुरनरतिगुच्च साय तसदस तणुवंगवइरचउरंसं।
परघासग तिरिआऊ वन्नचउ पणिदि सुभखगइ ॥१५॥

बायालपुन्नपगई अपढमसठाणखगइसघयणा ।
तिरियदुग असायनीयावघाय इगविगल निरयतिग ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपण ालसहिय बासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

शब्दार्थ—सुरनरतिग देवत्रिक मनुष्यत्रिक उच्च—उच्च गोत्र, साय माता वदनीय, तसदस—त्रसदशक, तणु—पाँच शरीर उवग—तीन अगोपाग, वइर—वज्रऋषभनाराच सहनन चउरस—समचतुरस्र सस्थान परघासग—पराघात सप्तक, तिरिआउ—तियचायु वन्नचउ—वण चतुष्क पणिदि—पचेन्द्रिय जाति सुमखगइ—शुभ विहायोगति ।

बायाल—बयालीस, पुन्नपगई—पुण्य प्रकृति अपढम—पहले को छोडकर सठाण—सस्थान खगइ सघयणा—विहायोगति और सहनन तिरियदुग—तियचद्विक, असाय—असाता वदनीय नीय—नीच गोत्र उवघाय—उपघात नाम इगविगल—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय निरयतिग—नरकत्रिक ।

थावरदस—स्थावर दशक, वन्नचउक्क—वण चतुष्क घाइ—घाती पणयाल—पतालीस, सहिय—सहित, युक्त बासीई—बियासी, पावपयडि—पाप प्रकृतियाँ त्ति—इस प्रकार दोसुवि—दोनो म वन्नाइगहा—वर्णादि का ग्रहण करने स सुहा—शुभ असुहा—अशुभ ।

गाथाथ—देवद्विक, मनुष्यत्रिक, उच्च गोत्र, साता वेदनीय, त्रसदशक, पाँच शरीर, तीन अगोपाग, वज्रऋषभ नाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, पराघात सप्तक, तिर्यंचायु, वण चतुष्क, पचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति—

य बयालीस पुण्य प्रकृतिया ह । पहले को छोडकर शेष

पाँच संस्थान, दूसरी विहायोगति और पाँच संहनन, तिर्यंचद्विक, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियत्रिक, नरकत्रिक तथा—

स्थावर दशक, वर्ण चतुष्क, पैंतालीस घाति प्रकृतिया, कुल मिलाकर ये बयासी पाप प्रकृतिया है। वर्ण चतुष्क को पुण्य और पाप प्रकृतियो दोनो मे ग्रहण किया है। अत॰ पुण्य प्रकृतियो में शुभ और पाप प्रकृतियों अशुभ समझना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे पुण्य प्रकृतियो के बयालीस तथा पाप प्रकृतियो के बयासी नाम बतलाये है। पुण्य और पाप प्रकृतियो के रूप मे किया गया यह वर्गीकरण १२० बंध प्रकृतियो का है। यद्यपि बयालीस और बयासी का कुल जोड १२४ होता है और जबकि बंध प्रकृतिया १२० है तो इसका कारण स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि 'दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा' वर्ण चतुष्क - वर्ण, गंध, रस, स्पर्श प्रकृतिया शुभ भी है और अशुभ रूप भी है, अत॰ ये चार प्रकृतिया शुभ रूप पुण्य और अशुभ रूप पाप प्रकृतियों मे ग्रहण की जाती है, इसी कारण पुण्य और पाप प्रकृतियो की संख्या क्रमश॰ ४२ और ८२ बतलाई गई है। यदि वर्ण चतुष्क को दोनो वर्गों मे न गिने तब पुण्य और पाप प्रकृतियो की संख्या क्रमशः ३८ और ७८ होगी और जब वर्ण चतुष्क प्रकृतियो को किसी एक वर्ग मे मिलाया जायेगा तब ४२ और ७८ अथवा ३८ और ८२ होगी। इस स्थिति मे कुल जोड़ १२० होगा जो बंध प्रकृतियो का है।

बंध प्रकृतियो के घाती और अघाती के भेद से गणना करने के पश्चात पुण्य और पाप के रूप मे भेद गणना करने का कारण यह है कि जिस प्रकृति का रस—अनुभाग, विपाक आनन्ददायक होता है, उसे पुण्य और जिस प्रकृति का रस दुखदायक होता है वह पाप प्रकृति

है।[1] पुण्य प्रकृति को शुभ या प्रशस्त प्रकृति तथा पाप प्रकृति को अशुभ या अप्रशस्त प्रकृति भी कहते ह। जिन जिन कर्मों का वध होता है, उन सभी का विपाक केवल शुभ या अशुभ ही नहीं होता है, लेकिन जीव के अध्यवसाय रूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से शुभ अशुभ दोनो प्रकार के विपाक निर्मित होते ह। शुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक शुभ और अशुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक अशुभ होता है। अध्यवसायो की शुभाशुभता का कारण सक्लेश की न्यूनाधिकता है अर्थात् जिस परिणाम मे सक्लेश जितना कम होगा वह परिणाम उतना अधिक शुभ और जिस परिणाम मे सक्लेश जितना अधिक होगा वह परिणाम उतना अधिक अशुभ होगा। कोई भी एक परिणाम ऐसा नही जिसे निश्चित रूप से शुभ या अशुभ कहा जा सके। फिर भी जो शुभ और अशुभ का व्यवहार होता है, वह गौण और मुख्य भाव की अपेक्षा से समझना चाहिये। अत जिस शुभ परिणाम से पुण्य प्रकृतियो मे शुभ अनुभाग वधता है, उसी परिणाम से पाप प्रकृतियो मे अशुभ अनुभाग भी वधता है। इसी प्रकार जिस परिणाम से पाप प्रकृतियो मे अशुभ अनुभाग वधता है, उसी परिणाम

१ बौद्धदर्शन म भी कम के दो भेद किये है—कुशल अथवा पुण्यकम और अकुशल अथवा अपुण्यकम। जिसका विपाक इष्ट होता है वह कुशल कम और जिसका विपाक अनिष्ट होता है वह अकुशल कम है। सुख का वदन कराने वाला पुण्य कम और पाप का वदन कराने वाला अपुण्य कम है—कुशल कम क्षेमम इष्ट विपाकत्वात अकुशल कम अक्षेमम अनिष्ट विपाकत्वात। पुण्य कम सुखवदनीयम अपुण्य कम दुख वदनीयम।

—अभिधम कोष

योगदशन म भी पुण्य और पाप भद किया है—कर्माशय पुण्यापुण्यरूप।

से पुण्य प्रकृतियों मे शुभ अनुभाग भी बंधता है। लेकिन इसमे अन्तर यह है कि शुभ परिणाम से होने वाला अनुभाग प्रकृष्ट होता है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट तथा अशुभ परिणाम से बँधने वाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है। कर्म प्रकृतियो के पुण्य और पाप रूप भेद करने का यही कारण है।

पुण्य और पाप के रूप मे वर्गीकृत प्रकृतियो मे घाती और अघाती दोनो प्रकार की कर्म प्रकृतियां है। उनमे से ४५ घाती प्रकृतियाँ तो आत्मा के मूल गुणो को क्षति पहुँचाने के कारण पाप प्रकृतियाँ ही है लेकिन अघाती प्रकृतियो मे से भी तेतीस प्रकृतिया पाप रूप है तथा वर्णादि चार प्रकृतिया अच्छी होने पर पुण्य प्रकृतियो मे और बुरी होने पर पाप प्रकृतियो मे ग्रहण की जाती है। अतः पुण्य रूप से प्रसिद्ध ४२ और पाप रूप से प्रसिद्ध ८२ प्रकृतिया निम्न प्रकार है—

४२ पुण्य प्रकृतियाँ—

सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, त्रस दशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश.कीर्ति), औदारिक आदि पांच शरीर, अंगोपागत्रिक (औदारिक अंगोपाग, वैक्रिय अंगोपाग, आहारक अंगोपाग), वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, पराघात सप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण), तिर्यंचायु, वर्णचतुष्क, पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहायोगति, साता वेदनीय।

८२ पाप प्रकृतियाँ—

४५ घाती प्रकृतियां (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २६, अन्तराय ५), पहले को छोड़कर पाच संस्थानत था पांच संहनन, अशुभ विहायोगति, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकानु-

पूर्वी, नरकायु, स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति) वर्ण चतुष्क।[1]

इस प्रकार से पुण्य पाप प्रकृतियों[2] का कथन करने के बाद क्रमप्राप्त परावर्तमान और अपरावर्तमान प्रकृतियों को बतलाते हैं। लेकिन अपरावर्तमान प्रकृतियों की संख्या कम होने से पहले उनका विवेचन किया जा रहा है।

अपरावर्तमान प्रकृतियाँ

नामधुवबंधिनवगं दंसण पणनाणविग्घ परघायं।
भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥

---

१ पंचसंग्रह में पुण्य और पाप प्रकृतियों के बजाय प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियों के रूप में गणना की है—

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुअंगं।
विहगइ वण्णाइ सुभं तसाइ दस तित्थ निम्माणं॥
चउरंसउसभआयव पराघाय पणिंदि अगुरुसाउच्चं।
उज्जोयं च पसत्था सेसा बासीइ अपसत्था।

—पंचसंग्रह ३।२१, २२

२ गो० कर्मकांड गा० ४१, ४२ में पुण्य प्रकृतियाँ और ४३, ४४ में पाप प्रकृतियाँ गिनाई हैं। दोनों ग्रन्थों की गणना बराबर है। लेकिन कर्मकांड में इतनी विशेषता है भेद विवक्षा में ६८ और अभेद विवक्षा में ४२ पुण्य प्रकृतियाँ तथा पाप प्रकृतियाँ बंध दृष्टि में भेद विवक्षा से ९८ और अभेद विवक्षा में ८२ बतलाई हैं। उदय दृष्टि में सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को मिलाकर भेद विवक्षा में १०० और अभेद विवक्षा में ८४ बताई हैं। पांच बंधन, पांच संघात और वर्णादि २० में से १६ इस प्रकार २६ प्रकृतियों के भेद और अभेद से पुण्य प्रकृतियों में तथा वर्णादि २० में से १६ प्रकृतियों के भेद और अभेद से पाप प्रकृतियों में अन्तर पड़ता है।

शब्दार्थ—**नाम**—नामकर्म की, **धुवबंधिनवग**—ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियाँ, **दंसण**—दर्शनावरण, **पण**—पाँच, **नाण**—ज्ञानावरण, **विग्घ**—अन्तराय, **परघाय**—पराघात, **भयकुच्छमिच्छ**—भय, जुगुप्सा और मिथ्यात्व, **सास**—उच्छ्वास नामकर्म, **जिण** तीर्थंकर नामकर्म, **गुणतीसा** उनतीस, **अपरियत्ता**—अपरावर्तमान।

गाथार्थ—नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतिया, चार दर्शनावरण, पाच ज्ञानावरण, पाच अंतराय, पराघात, भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थंकर ये उनतीस प्रकृतिया अपरावर्तमान प्रकृतिया है।

विशेषार्थ—गाथा मे उनतीस प्रकृतियो के नाम गिनाये है, जो अपरावर्तमान है। ये उनतीस प्रकृतिया किसी दूसरी प्रकृति के बंध, उदय अथवा बंध-उदय दोनो को रोक कर अपना वन्ध, उदय और बंध-उदय को नही करने के कारण अपरावर्तमान कहलाती है, जिनके नाम इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानावरण**—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवलज्ञानावरण।

(२) **दर्शनावरण**—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण।

(३) **मोहनीय**—भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व।

(४) **नामकर्म**—वर्ण चतुष्क, तैजस, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, तीर्थंकर।

(५) **अन्तराय**—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।

मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के उदय मे मिथ्यात्व का उदय नही होता है। ये दोनो ही मिथ्यात्व के उदय की विरोधिनी प्रकृतिया है। अतः मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति नही मानना चाहिये।

गाथार्थ—शरीरादि अष्टक, तीन वेद, दो युगल, सोलह कषाय, उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, पाँच निद्रायें, त्रस-वीशक और चार आयु ये परावर्तमान प्रकृतियाँ है। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है।

विशेषार्थ—गाथा मे परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियो का कथन किया है।

परावर्तमान प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियो के बंध, उदय अथवा बंधोदय दोनो को रोक कर अपना बंध, उदय या बंधोदय करने के कारण परावर्तमान कहलाती है। इनमे अघाती—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्मों की अधिकाश प्रकृतियो के साथ घाती कर्म दर्शनावरण व मोहनीय की भी प्रकृतियाँ है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

(१) दर्शनावरण—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

(२) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(३) मोहनीय—अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, हास्य, रति, शोक, अरति, स्त्री, पुरुष, नपुसक वेद।

(४) आयुकर्म—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(५) नामकर्म—शरीराष्टक की ३३ प्रकृतियां (औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर, औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपाग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पांच जाति, नरकगति आदि चार गति, शुभ-अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी), आतप, उद्योत, त्रस दशक, स्थावर दशक।

(६) गोत्रकर्म—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

इस प्रकार ५+७+२३+४+५५+२=९१ प्रकृतिया परावतमान हैं। इनमे से अनतानुबधी कपाय चतुष्क आदि सोलह कपाय और पाच निद्रायें ध्रुवबधिनी होने से तो बधदशा मे दूसरी प्रकृतियो का उपराध नही करती हैं लेकिन उदयकाल मे सजातीय प्रकृति को रोक कर प्रवृत्त होती ह, क्योकि क्रोध, मान, माया, लोभ मे स एक जीव को एक समय मे एक कपाय का उदय होता है। इसी प्रकार पाच निद्राओ मे किसी एक का उदय होने पर शेष चार निद्राओ का उदय नही होता है। अत परावतमान ह।

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ ये चार प्रकृतिया उदयदशा मे विरोधिनी नही ह किन्तु बधदशा मे विरोधिनी ह। क्योकि स्थिर के साथ अस्थिर का और शुभ के साथ अशुभ का बध नही होता है। इसलिए ये चार प्रकृतिया परावतमान हैं। शेष ६६ प्रकृतिया बध और उदय दोनो स्थितियो मे परस्पर विरोधिनी होने से परावतमान हैं।

इस प्रकार से परावतमान कम प्रकृतियो का वणन करने के साथ ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट ध्रुवबधि आदि अपरावतमान पयन्त ग्यारह द्वारो का विवेचन किया जा चुका है। जिनका विवरण पृ० ७२ पर दिये गये कोष्टक म देखिये।

अब कम प्रकृतियो का विपाक की अपेक्षा निरूपण करते हैं।

विपाक से आशय रसोदय का है। कमप्रकृति मे विशिष्ट अथवा विविध प्रकार से फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने का विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब पक कर तयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है। वसे ही कम प्रकृतिया भी जब अपना फल देने के अभिमुख होती हैं तब उनका विपाकोदय कहा जाता है।

कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबन्धी आदि भेद

कर्म प्रकृति	ध्रुव बंधी	अध्रुवबंधी	ध्रुवोदय	अध्रुवोदय	ध्रुव सत्ता	अ० सत्ता	सर्व घाति	देश घा.	अघाति	परा व	अपरा व०	पुण्य	पाप
ओघ १५८	४७	७३	२७	९५	१३०	२८	२०	२५	७५	९१	२९	४२	८२
ज्ञाना० ५	५	०	५	०	५	०	१	४	०	०	५	०	५
दर्शना० ९	९	०	४	५	९	०	६	३	०	५	४	०	९
वेद० २	०	२	०	२	२	०	०	०	२	२	०	१	१
मोह० २८*	१९	७	१	२७	२६	२	१३	१३	०	२३	३	०	२६
आयु ४	०	४	०	४	०	४	०	०	४	४	०	३	१
नाम १०३	९	५८	१२	५५	८२	२१	०	०	६७	५५	१२	३७	३४
गोत्र २	०	२	०	२	१	१	०	०	२	२	०	१	१
अंत० ५	५	०	५	०	५	०	०	५	०	०	५	०	५

* मोहनीय कर्म में सम्यक्त्व देशघाती और मिश्र मोहनीय सर्वघाती हैं तथा ये दोनों परावर्तमान और पाप प्रकृतियां हैं, इतना विशेष समझना चाहिये।

यह विपाक दो प्रकार का है—हतुविपाक और रसविपाक ।[1] पुद्गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक—फलानुभव होता है, वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है तथा रस के आश्रय अर्थात रस की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति रसविपाकी कहलाती है। इन दोना प्रकार के विपाको मे से भी प्रत्येक के पुन चार-चार भेद है । पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव रूप हेतु के भेद से हतुविपाकी के चार भेद है यानी पुद्गलविपाकी, क्षेत्र विपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी । इसी प्रकार से रसविपाक के भी एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रीस्थानक और चारस्थानक ये चार भेद ह। यहा कम प्रकृतिया के रसोदय के हेतुआ[2]—स्थानो के आधार से होने वाले पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीव विपाकी भेदा का वर्णन करते है, यानी कौन सी कम प्रकृतिया पुद्गल विपाकी आदि है।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतिया

उक्त चार प्रकार के विपाका मे से यहा पहले क्षेत्रविपाकी प्रकृतिया को बतलाया है कि—'खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ'—आनुपूर्वी नामकम क्षेत्रविपाकी है। यानी आनुपूर्वी नामकम की नरकानुपूर्वी, तियचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी—ये चारो प्रकृतिया क्षेत्र विपाकी ह ।

---

१ दुविहा विवागओ पुण हउविवागाओ रसविवागाओ ।
एक्केक्काविय चउहा जओ चसद्दो विगप्पेण ॥

—पचसग्रह ३।४४

२ जा ज समच्च हेउ विवाग उदय उवेंति पगइओ ।
ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइ सुगमाइ ॥

—पचसग्रह ३।४५

आकाश को क्षेत्र कहते हैं। जिन प्रकृतियों का उदय क्षेत्र में ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं। यों तो सभी प्रकृतियों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा को लेकर होता है। लेकिन जिसकी मुख्यता होती है, वहां उसकी मुख्यता से उनका नामकरण किया जाता। आनुपूर्वियों को क्षेत्रविपाकी मानने का कारण यह है कि इनका उदय क्षेत्र में ही होता है। क्योंकि जब जीव परभव के लिये गमन करता है तब विग्रहगति के अन्तराल क्षेत्र में आनुपूर्वी अपना विपाक—उदय दिखाती है।[1] उसे उत्पत्तिस्थान के अभिमुख रखती है।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब जीव और भव-विपाकी प्रकृतियों का कथन करते हैं।

जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियां

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

---

१ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में आनुपूर्वी को क्षेत्रविपाकी माना है। लेकिन स्वरूप को लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव जाता है तब आनुपूर्वी कर्म श्रेणि के अनुसार गमन करते हुए उस जीव को उसके विश्रेणि में स्थित उत्पत्तिस्थान तक ले जाता है। आनुपूर्वी का उदय केवल वक्रगति में माना है—'पुव्वी उदओ वक्के।'

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा ४२

लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में आनुपूर्वी कर्म पूर्व शरीर को छोडने के बाद और नया शरीर धारण करने के पहले अर्थात् विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखता है और उसका उदय ऋजु व वक्र दोनों गतियों में होता है।

शब्दार्थ—घणघाइ—घातिकर्मों की प्रकृतिया, दुगोय—गोत्रद्विक, वदनीयद्विक, जिणा—तीर्थकर नामकम, तसियरतिग—त्रमत्रिक और इतर—स्थावरत्रिक, सुभगदुभगचउ—सुभग चतुष्क दुभग चतुष्क, सास—उच्छवास जाइतिग—जातित्रिक जिय विवागा—जीवविपाकी आऊ चउरो—चार आयु भवविवागा—भवविपाकी।

गाथाय—सैतालीस घाति प्रकृतिया, गोत्रद्विक, वेदनीय द्विक, तीर्थकर नामकम, त्रमत्रिक, स्थावरत्रिक, सुभग चतुष्क, दुभग चतुष्क, उच्छवाम, जातित्रिक, ये जीवविपाकी प्रकृतिया ह और चार आयु भवविपाकी हैं।

विशेषाथ—गाथा म जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियो के नाम बतलाये हैं।

जो प्रकृतिया जीव मे ही साक्षात् फल दिखाती हैं अथात् जीव के ज्ञान आदि स्वरूप का घात आदि करती हैं वे जीवविपाकी प्रकृतिया कहलाती ह तथा भवविपाकी प्रकृतिया वे हैं जिनका वंध वतमान भव में हो जाने पर भी वतमान भव का त्याग करने के पश्चात् अपने उस योग्य भव की प्राप्ति होने पर विपाक दिखलाती हैं।

गाथा मे जीवविपाकी प्रकृतिया के नाम और सख्या इस प्रकार बतलाई है—

४७ घाति प्रकृतिया (ज्ञानावरण ५, दशनावरण ९, मोहनीय २८, अन्तराय ५), दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थंकर नामकर्म, त्रसत्रिक (त्रस, बादर, पर्याप्त), स्थावरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त), सुभग चतुष्क (सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति), दुभग चतुष्क (दुभग, दु स्वर अनादेय, अयश कीर्ति), उच्छ्वास नामकम, जातित्रिक (एकेन्द्रिय आदि

पांच जाति, नरक आदि चार गति, शुभ-अशुभ विहायोगति), कुल मिलाकर ये ७८ प्रकृतिया जीवविपाकी है।

इनको जीवविपाकी मानने का कारण यह है कि क्षेत्र आदि की अपेक्षा के बिना ही जीव को ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणो तथा इन्द्रिय, उच्छ्वास आदि मे अनुग्रह, उपघात रूप साक्षात फल देती है। जैसे कि ज्ञानावरण की प्रकृतियो के उदय से जीव अज्ञानी होता है, दर्शनावरण के उदय से जीव के दर्शनगुण का घात होता है, मोहनीय कर्म की प्रकृतियो के उदय से जीव के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात होता है तथा पाच अन्तरायो के उदय से जीव दान आदि दे या ले नही सकता है। साता और असाता वेदनीय के उदय से जीव ही सुखी और दुखी होता है इत्यादि। अत. गाथा मे बताई गई ७८ प्रकृतिया जीवविपाकी है।

'आऊ चउरो भवविवागा' यानी नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु ये चारो आयु भवविपाकी है। क्योकि परभव की आयु का बंध हो जाने पर भी जब तक जीव वर्तमान भव को त्याग कर अपने योग्य भव को प्राप्त नही करता है, तब तक आयु कर्म का उदय नहीं होता है। अत परभव मे उदय योग्य होने से आयुकर्म की प्रकृतिया भवविपाकी है।

इस प्रकार से जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियो का कथन करने के बाद अब आगे की गाथा मे पुद्गलविपाकी प्रकृतियो के नाम व बंधद्वार का वर्णन करने के लिये बंध के भेदों को बतलाते है।

पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ और बंध के भेद

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं।
पुग्गलविवागि बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

शब्दार्थ—नामधुवोदय—नामकर्म की ध्रुवोदय बारह प्रकृतियाँ, चउतणु—तनुचतुष्क उवघाय—उपघात, साहारण—साधारण इयर—इतर—प्रत्येक जोयतिग—उद्योतत्रिक पुग्गल विवागि—पुदगलविपाकी, बधो—बध, पयइठिइ—प्रकृति और स्थितिबध, रसपएस—रसबध और प्रदेशबध त्ति—इस प्रकार।

गाथार्थ—नामकर्म की ध्रुवोदयी बारह प्रकृतिया, शरीर चतुष्क, उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक ये छत्तीस प्रकृतिया पुद्गलविपाकी है। प्रकृतिबध, स्थितिबंध, रसबध और प्रदेशबध ये बध के चार भेद है।

विशेषार्थ—गाथा मे पुद्गलविपाकी प्रकृतिया को बताने के अलावा बध के चार भेदो को बतलाया है। जिनमे आगे की गाथाओ मे भूयस्कार बध आदि विशेषताओ का वर्णन किया जाने वाला है।

सर्वप्रथम पुद्गलविपाकी प्रकृतियोको गिनाया है कि 'नामधुवोदय पुग्गलविवागि' नामकर्म की बारह ध्रुवबधिनी प्रकृतिया (निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क) तथा तनुचतुष्क (तैजस, कार्मण शरीर को छोड कर औदारिक आदि तीन शरीर, तीन अगोपाग, छह सस्थान, छह संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक (उद्योत, आतप, पराघात) ये प्रकृतिया पुद्गलविपाकी है। जिनकी कुल सख्या छत्तीस है।

उक्त प्रकृतिया शरीर रूप मे परिणत हुए पुद्गल परमाणुओ मे ही अपना फल देती हैं, अत पुद्गलविपाकी है। जैसे कि निर्माण नाम कर्म के उदय से शरीर रूप परिणत पुद्गल परमाणुओ मे अग-उपाग का नियमन होता है। स्थिर नामकर्म के उदय मे दात आदि स्थिर तथा अस्थिर नामकर्म के उदय से जीभ आदि अस्थिर होते है। शुभ

नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ और अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अवयव कहलाते है। शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहीत पुद्गल शरीर रूप बनते है और अंगोपांग नाम-कर्म के द्वारा शरीर मे अंग-उपाग का विभाग होता है। संस्थान नामकर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है और संहनन नामकर्म के उदय से हड्डियो का बन्धनविशेष होता है । इसी प्रकार उपघात, साधारण, प्रत्येक आदि प्रकृतिया भी शरीर रूप परिणत पुद्गलो मे अपना फल देती है। इसीलिये निर्माण आदि पराघात पर्यन्त छत्तीस प्रकृतियां पुद्गलविपाकी है।[1]

इस प्रकार से क्षेत्र, जीव, भव, पुद्गल विपाकी प्रकृतियो को बतलाने के बाद अब कुछ प्रकृतियो के विपाक भेदो के बारे में विशेष स्पष्टीकरण करते है।

यद्यपि सभी कर्मप्रकृतिया जीव मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति होने के कारण किसी न किसी रूप मे जीव में ही अपना फल देती है। जैसे आयुकर्म का भवधारण रूप विपाक जीव मे ही होता है, क्योंकि आयुकर्म का उदय होने पर जीव को ही भव धारण करना पड़ता है और क्षेत्रविपाकी आनुपूर्वी कर्म भी श्रेणि के अनुसार गमन

---

१ गो० कर्मकाड गा० ४७—४९ मे भी विपाकी प्रकृतियो को गिनाया है। दोनो मे इतना अतर है कि कर्मकाड मे पुद्गलविपाकी प्रकृतियो की संख्या ६२ बतलाई है और कर्मग्रन्थ मे ३६। इस अतर का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ मे बधन और संघात प्रकृतियो को छोड दिया है और वर्णचतुष्क के सिर्फ मूल ४ भेद लिये हैं, उत्तर २० भेद नही लिये हैं। इस प्रकार १० + १६ = २६ प्रकृतियो को कम करने से ६२—२६ = ३६ प्रकृतिया शेष रहती है।

करने रूप जीव के स्वभाव को स्थिर रखता है। पुद्गलविपाकी प्रकृतिया जीव मे ऐसी शक्ति पदा करती है कि जिसस जीव अमुक प्रकार के पुद्गलो को ग्रहण करता है। तथापि क्षेत्रविपाकी आदि प्रकृतिया क्षेत्र आदि की मुख्यता, विशेषता स अपना फल देने के कारण क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी आदि कहलाती है।[1] लेकिन कुछ प्रकृतिया के वर्गीकरण को लेकर जिज्ञासु के प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया जाता है।

रति-अरति मोहनीय सबधी स्पष्टीकरण

रति और अरति मोहनीय कम जीवविपाकी है। लेकिन इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उक्त दोना प्रकृतिया का उदय पुद्गला के आश्रय से होने के कारण पुद्गलविपाकी है। कटकादि अनिष्ट पुद्गला के ससग स अरति का विपाकोदय और पुष्पमाला, चन्दन आदि इष्ट पदार्थों के सयोग से रति मोहनीय का उदय होता है। इस प्रकार पुद्गल के सबध से दोना का उदय होने से उनको पुद्गल विपाकी मानना चाहिये। जीवविपाकी कहना योग्य नही है।

इसका समाधान यह है कि पुद्गल के सबध के बिना भी इनका उदय होता है। क्योकि कटकादि के सबध के बिना भी प्रिय, अप्रिय वस्तु के दशन-स्मरण आदि के द्वारा रति अरति के विपाकोदय का अनुभव होता है। पुद्गलविपाकी तो उसे कहते है जिसका उदय पुद्गल के सबध के बिना होता ही नही है। लेकिन रति और अरति का उदय जसे पुद्गला के संसग से होता है, वसे ही उनके ससग के बिना भी होता है। अत रति और अरति को पुद्गल के संयोग के बिना भी

---

[1] सपप्प जीयखाल उप्प साओ न जति पगईओ।
एवमिणमोहहउ आसज्ज विसमय नत्थि॥

— पचसग्रह ३।४६

उदय में आने के कारण जीवविपाकी माना गया है, न कि पुद्गल-विपाकी।

इसी प्रकार क्रोध आदि कषायों को भी जीवविपाकी समझना चाहिये कि तिरस्कार करने वाले शब्दों जो कि पौद्गलिक हैं, को सुनकर जैसे क्रोध आदि का उदय होता है वैसे ही पुद्गलों का संबंध हुए बिना स्मरण आदि के द्वारा भी उनका उदय होता है। अतः क्रोध आदि कषायें पुद्गलविपाकी न होकर जीवविपाकी हैं।

गति नामकर्म संबंधी स्पष्टीकरण

गति नामकर्म जीवविपाकी है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि जैसे आयुकर्म जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसी भव में उसका उदय होता है अन्यत्र नहीं। वैसे ही गति नामकर्म का भी अपने-अपने भव में उदय होता है। अपने भव के सिवाय अन्य भव में उसका उदय नहीं होता है। अतः आयुकर्म की तरह गति नामकर्म को भी भवविपाकी मानना युक्तिसंगत है।

इसका उत्तर यह है कि आयुकर्म और गति नामकर्म के विपाक में अन्तर है। क्योंकि जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसके सिवाय अन्य किसी भी भव में विपाकोदय द्वारा उसका उदय नहीं होता है। स्तिबुकसंक्रम द्वारा भी उदय नहीं होता है। जैसे कि मनुष्यायु का उदय मनुष्य भव में ही होता है, इतर भव में नहीं। अतः अपने उदय के लिये स्व-निश्चित भव के साथ अव्यभिचारी होने से आयुकर्म भवविपाकी माना जाता है यानी किसी भी भव के योग्य आयुकर्म का बंध हो जाने के पश्चात् जीव को उसी भव में अवश्य जन्म लेना पड़ता है। किन्तु गति नामकर्म के उदय के लिये यह बात नहीं है। क्योंकि अपने भव के बिना भी अन्य भव में स्तिबुकसंक्रम

द्वारा उदय होता है। अर्थात् विभिन्न परभवो के योग्य बाधी हुई गतियो का उस ही भव मे सक्रमण आदि द्वारा उदय हो सकता है। जैसे कि चरम शरीरी जीव के परभव के योग्य बाधी हुई गतिया उसी भव मे क्षय हो जाती है। अत गति नामकर्म भव का नियामक नही होने से भवविपाकी नही है। तात्पर्य यह है कि स्वभव मे ही उदय होने से आयुकर्म भवविपाकी है और गति नामकर्म अपने भव मे विपाकोदय द्वारा और परभव मे स्तिबुकसक्रम द्वारा इस प्रकार स्व और पर दोनो भवो मे उदय सभव होने से भवविपाकी नही है।

आनुपूर्वी कर्मसम्बन्धी स्पष्टीकरण

आनुपूर्वी कर्म क्षेत्रविपाकी है। लेकिन यहा जिज्ञासु प्रश्न उपस्थित करता है कि विग्रहगति के बिना भी सक्रमण के द्वारा आनुपूर्वी का उदय होता है अत उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गति की तरह जीव विपाकी माना जाना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि आनुपूर्वियो का स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र भी सक्रमण द्वारा उदय होने पर भी जैसा उसका क्षेत्र की प्रधानता से विपाक होता है वैसा अन्य किसी भी प्रकृति का नहीं होता है। इसलिये आनुपूर्वियो के रसोदय मे आकाश प्रदेश रूप क्षेत्र असाधारण हेतु है। जिससे उनको क्षेत्रविपाकी माना गया है।

प्रकृतियो के क्षेत्रविपाकी आदि भेदो का प्रदर्शक यंत्र इस प्रकार है—

कर्म प्रकृतियो के क्षेत्रविपाकी आदि भेद

कर्मप्रकृति	क्षेत्रविपाकी	भवविपाकी	जीवविपाकी	पुद्गलविपाकी
ओघ १२२	४	४	७८	३६
ज्ञाना० ५	०	०	५	०
दर्शना० ६	०	०	६	०
वेदनीय २	०	०	२	०
मोहनीय २८	०	०	२८	०
आयु ४	०	४	०	०
नाम ६७	४	०	२७	३६
गोत्र २	०	०	२	०
अंतराय ५	०	०	५	०

वंध के भेद और उनके लक्षण

इस प्रकार से ध्रुववंधी आदि पुद्गलविपाकी पर्यन्त सोलह वर्गो मे प्रकृतियो का वर्गीकरण करने के पश्चात प्रकृतिवंध आदि का वर्णन करने के लिये सवसे पहले वंध के भेद वतलाते है कि 'वंधो पइयठिइ-रसपएस त्ति' प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये वंध के चार भेद है। जिनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

आत्मा और कर्म परमाणुओ के संवधविशेप को अथवा आत्मा

और कमप्रदेशा के एक क्षेत्रावगाह होने को वध कहने है। आत्मा की रागद्वपात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशा मे विद्यमान अनन्तानन्त कम परमाणु चुम्बक की तरह आकर्पित होकर आत्मप्रदेशा म सश्लिप्ट हो जात हैं। य कम परमाणु रूप, रस, गध आर स्पश गुण वाले होने से पौद्गलिक ह। जो पुद्गल कम रूप मे परिणत होते ह, वे अत्यन्त सूक्ष्म रज—धूलि के समान ह जिनको इन्द्रिया नही जान सकती ह, किन्तु केवलनानी अथवा परम अवधिज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा उनको जान सक्ते है।

जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूलि मे लौटे तो वह धलि उसके सर्वांग शरीर मे चिपट जाती है, वैसे ही ससारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशा मे परिस्पन्दन—हलन चलन होन से अनन्तानन्त कमयोग्य पुद्गल परमाणुओ का आत्मप्रदेशा के साथ सबध होने लगता है। जिस प्रकार अग्नि से सतप्त लोह का गोला प्रति समय अपन सवाग स जल को खीचता है उसी प्रकार समारी जीव अपनी योग प्रवृत्ति द्वारा प्रतिक्षण कमपुद्गला को ग्रहण करता रहता है और दूध पानी व अग्नि तथा गम लोह के गोले का जसा सम्बन्ध होता है, वैसा ही जीव और कम परमाणुआ का सबध हो जाता है। इस प्रकार के सबध का ही बंध कहत ह।

जीव द्वारा कमपुद्गला के ग्रहण किय जान पर यानी बध होन पर उनम चार अंशा का निर्माण हाता है जा बध के प्रकार कहलात है। जैसे कि गाय भैंस आदि द्वारा खाई गई घास आदि दूध रूप मे परिणत होती है तब उसम मधुरता का स्वभाव निर्मित हाता है उस स्वभाव के अमुक समय तक उसी रूप मे बने रहने की कालमर्यादा आती है, उस मधुरता म तीव्रता मदता आदि विशेषतायें भी होती है और उस दूध का कुछ परिमाण (वजन) भी होता है। इसी प्रकार

जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशो के साथ संश्लिष्ट कर्म-पुद्गलो मे भी चार अंशो का निर्माण होता है, जिनको क्रमश प्रकृति-वंध, स्थितिवन्ध, रसवन्ध और प्रदेशवंध कहते है।[1] उनके लक्षण क्रमश. इस प्रकार है—

(१) प्रकृतिवन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे भिन्न-भिन्न शक्तियो—स्वभावो के उत्पन्न होने को प्रकृतिवंध कहते है। यहां प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है।[2] दूसरी परिभाषा के अनुसार स्थितिवंध, रसवध और प्रदेशवंध के समुदाय को प्रकृतिवंध कहते है।[3] अर्थात् प्रकृतिवंध कोई स्वतंत्र वंध नही है किन्तु शेष तीन वंधो के समुदाय का ही नाम है।

---

१ (क) चउव्विहे वधे पण्णत्ते, त जहा—पगडवधे, ठिइवधे, अणुभाववन्धे, पएसवधे। —समवायांग, समवाय ४

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय । —तत्वार्थसूत्र८।४

२. दिगम्बर साहित्य मे प्रकृति शब्द का सिर्फ स्वभाव अर्थ माना है—

प्रकृति स्वभाव, प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।

--तत्वार्थसूत्र ८।३ (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक टीका)

पयडी सील सहावो····· —गो० कर्मकाड ३

३ ठिईबधो दलस्स ठिइ पएसवधो पएसगहण ज।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगडवधो ॥

—पंचसंग्रह ४३२

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्वभाव अर्थ मे अनुभाग वध का मतलव कर्म की फलजनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मदता मे ही है, परन्तु समुदाय अर्थ मे अनुभाग वध से कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मदता इतना अर्थ विवक्षित है।

श्वेताम्बर साहित्य मे प्रकृति शब्द के स्वभाव और समुदाय दोनो अर्थ ग्रहण किये गये है।

(२) स्थितिबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कम पुद्गलो मे अपने स्वभाव को न त्यागकर जीव के साथ रहने के काल की मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते है।

(३) रसबध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे फल देने की न्यूनाधिक शक्ति के होने को रसबध कहते है।

रसबध को अनुभागबध[1] या अनुभावबध भी कहते है।

(४) प्रदेशबध—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धो का सबध होना प्रदेशबध कहलाता है।[2]

साराश यह है कि जीव के योग और कषाय रूप भावो का निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती है तो उनमे चार बातें होती है एक उनका स्वभाव दूसरी स्थिति, तीसरी फल देने की शक्ति और चौथी अमुक परिमाण मे उनका जीव के साथ सम्बन्ध होना। इन चार बातो को ही बध के प्रकृति स्थिति रस, प्रदेश ये चार प्रकार कहते है।

इनमे से प्रकृतिबंध और प्रदेशबध जीव की योगशक्ति पर तथा स्थिति और फल देने की शक्ति कषाय भावो पर निर्भर है।[3] अर्थात् योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी बध को प्राप्त कर्म पुद्गलो का

---

१ दिगम्बर साहित्य मे अनुभाग बध ही विशेषतया प्रचलित है।

२ स्वभाव प्रकृति प्रोक्त स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय प्रदेशो दलसञ्चय ॥
—स्वभाव को प्रकृति काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलो की सख्या को प्रदेश कहते हैं।

३ पयडिपएसबधा जोगाहि कसायओ इयरे।

—पचसग्रह २०४

स्वभाव और परिमाण भी वैसा ही तीव्र या मंद होगा। इसी प्रकार जीव के कषाय भाव जैसे तीव्र या मंद होंगे, बंध को प्राप्त परमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मंद होगी। इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जीव की योगशक्ति को हवा, कषाय को चिपकने वाली गोंद और कर्म परमाणुओं को धूलि मान लें। जैसे हवा के चलने पर धूलि के कण उड़-उड़ कर उन स्थानों पर जमा हो जाते हैं जहाँ कोई चिपकने वाली वस्तु गोंद आदि लगी होती है। इस प्रकार जीव के प्रत्येक शारीरिक, वाचनिक और मानसिक परिस्पन्दन—क्रिया से कर्म पुद्गलों का आत्मा मे आस्रव होता है जो जीव के संक्लेश परिणामों की सहायता पाकर आत्मा से बंध जाते है। हवा मंद या तीव्र जैसी होती है, धूलि उसी परिमाण मे उड़ती है और गोंद वगैरह जितनी चिपकाने वाली होती है, धूलि भी उतनी ही स्थिरता के साथ वहाँ ठहर जाती है। इसी तरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्म परमाणुओ की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है तथा कषाय की तीव्रता के अनुरूप कर्म परमाणुओ में उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभाग का बंध होता है।

प्रकृतिबंध आदि चारो बंधो के स्वरूप को समझाने के लिये प्रथम कर्मग्रन्थ मे मोदक (लड्डुओ) का दृष्टात दिया गया है।[1] जिसका साराश इस प्रकार है—

जैसे कि वातनाशक पदार्थो से बने हुए लड्डुओ का स्वभाव वायु को नाश करने का है, पित्तनाशक पदार्थो से बने हुए मोदक का स्वभाव पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थो से बने मोदक का

---

१ पगइठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० २

स्वभाव कफ को नष्ट करने का है। वैसे ही आत्मा के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलो मे से कुछ मे आत्मा के ज्ञान गुण को घात करने की, कुछ में दर्शन गुण को आच्छादित करने की, कुछ मे आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दवाने आदि की शक्तिया पैदा होती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्म पुद्गलो मे भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो के, शक्तियो के वंध को, स्वभावो के उत्पन्न होने को प्रकृतिवध कहते है।

उक्त लड्डुओ मे से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन आदि तक अपनी शक्ति—स्वभाव रूप मे वने रहने की कालमर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को स्थिति कहते है। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने स्वभाव को छोड देते है, अर्थात् विगड जाते हैं नीरस हो जाते है। इसी प्रकार कोई कर्मदलिक आत्मा के साथ सत्तर कोडा कोडी सागरोपम तक, कोई वीस कोडाकोडी सागरोपम तक आदि रहते है। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्म परमाणुओ मे पृथक् पृथक स्थितिया का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ वने रहने की काल मर्यादाओ का वध होना स्थितिवध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते है, यानी आत्मा से अलग हो जाते हैं।

जैसे कुछ लड्डुओ मे मधुर रस अधिक, कुछ मे कम, कुछ मे कटुक रस अधिक, कुछ म कम आदि इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि की न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्म परमाणुओ मे शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ मे कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभ-अशुभ रसो का कर्म पुद्गलो मे उत्पन्न होना रसबंध है।

कुछ लड्डुओ का वजन दो तोला, कुछ का छटाक आदि होना है। इसी प्रकार कितने कर्मस्कधो के परमाणुओ की संख्या अधिक और

किन्ही की कम होती है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न कर्म परमाणुओ की संख्याओ से युक्त कर्मदलो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश-वन्ध है।

इस प्रकार से प्रकृतिवंध आदि चारो वंध प्रकारो का स्वरूप समझना चाहिए। अव आगे की गाथा मे पहले प्रकृतिवंध का वर्णन करते हुये मूल प्रकृतियो के वंध के स्थान और उनमे भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य वंधो को वतलाते है।

मूल प्रकृतियो के भूयस्कार आदि वंध

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगवंधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ॥२२॥

शब्दार्थ—मूलपयडीण - मूल प्रकृतियो के, अट्ठसत्तछेगवधेसु -- आठ, सात, छह और एक के वधस्थान मे, तिन्नि—तीन, भूगारा—भूयस्कार वध, अप्पतरा—अल्पतर वध, तिय—तीन, चउरो—चार अवट्ठिया—अवस्थित वध, ण हु—नही, अवत्तव्वो—अवक्तव्य वध।

गाथार्थ—मूल प्रकृतियो के आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और एक प्रकृतिक वंध स्थानो मे तीन भूयस्कार वंध होते है। अल्पतर वंध तीन और अवस्थित वंध चार होते है। अवक्तव्य वंध नही होता है।

विशेषार्थ—गाथा में मूल कर्म प्रकृतियो के वधस्थानो को वतलाने के साथ-साथ उनके भूयस्कार आदि वंधो की संख्या का कथन किया है।

एक समय मे एक जीव के जितने कर्मों का वंध होता है, उनके समूह को एक वंधस्थान कहते है। वंधस्थान का विचार मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियो दोनो मे किया जाता है। कर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल भेद है और उनकी वंध प्रकृतियाँ

एक सौ बीस है। इस गाथा मे सिर्फ मूल प्रकृतिया मे बधस्थान बतलाये है।

सामान्य तौर पर प्रत्येक जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मो का प्रत्येक समय बध करते है। क्योकि आयुकर्म का बंध प्रतिसमय न होकर नियत समय पर होता है। अत आयु कर्म के बध के नियत समय के अलावा सात कर्मों का बध होता ही रहता है। जब कोई जीव आयुकर्म का भी बध करता है तब उसके आठ कर्मो का बध होता है। इस प्रकार स सात और आठ दो बधस्थानो को समझना चाहिये।

दसवें गुणस्थान मे पहुँचने पर आयु और मोहनीय कर्मों के सिवाय शेप छह कर्मों का ही बध होता है। क्योकि आयुकर्म का बध सातवें गुणस्थान तक ही होता है और मोहनीय का बध नौवें गुणस्थान तक ही। दसवे गुणस्थान से आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे सिर्फ एक साता वेदनीय का बध होता है।[1] शेप कर्मो के बध का निरोध दसवें गुणस्थान मे हो जाता है। यह छह और एक कर्म-बध के स्थान के बारे मे स्पष्टीकरण किया गया है।

उक्त कथन का साराश यह है कि मूल कर्म प्रकृतिया के चार बध स्थान ह— आठ प्रकृति का, सात प्रकृति का, छह प्रकृति का, एक प्रकृति

---

१ जा अपमत्तो सत्तट्ठबधगा सुहुम छण्हमगस्स।
उवसतखीणजोगी सत्तण्ह नियट्टी मीस अनियट्टी। —पचसग्रह २०६

—अप्रमत्त गुणस्थान तक सात या आठ कर्मो का बध होता है। सूक्ष्म सपराय गुणस्थान म छह कर्मों का और उपशान्तमोह क्षीणमोह एव सयोगि केवली गुणस्थान म एक वेदनीय कर्म का बध होता है। निवृत्ति करण मिश्र और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान म आयु क बिना सात कर्मों का ही बध होता है।

का। अर्थात् कोई जीव एक समय में आठों कर्म का, कोई सात कर्मों का, कोई छह कर्मों का और कोई जीव एक समय में एक प्रकृति का ही बंध करता है। इसके सिवाय ऐसी कोई स्थिति नही जहां एक साथ दो या तीन या चार या पाच कर्मों का बंध होना हो।

इन चार बंधस्थानो मे 'तिन्नि भूगारा' तीन भूयस्कार, 'अप्पतरा तिय' तीन अल्पतर और 'चउरो अवट्ठिया' चार अवस्थित बंध होते है किन्तु 'ण हु अवत्तव्वो' अवक्तव्य बंध नही होता है।[1] इनका स्पष्टीकरण यहा किया जा रहा है।

भूयस्कार बन्ध

पहले समय मे कम प्रकृतियो का बंध करके दूसरे समय मे उससे अधिक कर्म प्रकृतियो के बन्ध को भूयस्कार बंध कहते है। मूल प्रकृतियों मे इस प्रकार के बंध तीन ही होते है, जो इस प्रकार है—

कोई जीव ग्यारहवे—उपशान्तमोह गुणस्थान मे एक—साता वेदनीय का बंध करके वहां से गिरकर जब दसवे गुणस्थान मे आता है तब वहा छह कर्मो का बंध करता है। यह पहला भूयस्कार बंध है। वही जीव दसवे गुणस्थान से च्युत होकर जब नीचे के गुणस्थानो मे आता है तब वहाँ सात कर्मों का बंध करता है। यह दूसरा भूयस्कार बन्ध

---

१ गो० कर्मकाड मे भी मूल प्रकृतियो के बंधस्थान और उनमे भूयस्कार जिसे वहा भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इस प्रकार बतलाये है—

चत्तारि तिण्णि तिय चउ पयडिट्ठणाणि मूलपयडीण।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि कमे होंति॥

—गो० कर्मकांड ४५३

—मूल प्रकृतियो के बन्धस्थान चार है, इन स्थानो मे भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित ये तीन प्रकार के बन्ध होते है। 'य' शब्द से चौथा अवक्तव्य बन्ध समझना चाहिये किन्तु वह चौथा बन्ध मूल प्रकृतियो मे नहीं होता है।

है। वही जीव आयुकर्म का बंध काल आने पर जब आठों कर्मों का बंध करता है तब तीसरा भूयस्कार बंध होता है। इस प्रकार एक से छह, छह से सात और सात से आठ कर्मों का बंध होने के कारण चार बंधस्थानों मे भूयस्कार बंध तीन होते हैं।

उक्त चार बंधस्थानों मे इन तीन भूयस्कार बंधों के सिवाय विकल्प से अन्य तीन भूयस्कार बंधों की कल्पना की जाये तो वे संभव नही है। विकल्प से अन्य तीन भूयस्कार बंधों की कल्पना इस प्रकार की जाती है—पहला एक का बांध कर सात कर्मों का बंध करना, दूसरा—एक को बांध कर आठ कर्मों का बंध करना, तीसरा—छह को बांधकर आठ कर्मों का बंध करना।

इन तीन भूयस्कार बंधों के विकल्पों में से आदि के दो भूयस्कार बंध दो तरह से हो सकते है—१ गिरने की अपेक्षा से, २ मरण की अपेक्षा से। किन्तु गिरने की अपेक्षा से आदि के दो भूयस्कार बंध इसलिये नही हो सकते हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान से पतन क्रमशः होता है, अक्रम से नही होता है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव दसवें गुणस्थान में आता है और दसवें से नौवें में आता है आदि। यदि जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर सीधा नौवें में या सातवें गुणस्थान मे आता है तो एक को बांध कर सात का या आठ कर्मों का बंध कर सकने से पहला, दूसरा भूयस्कार बंध बन सकता था। किन्तु पतन क्रमशः होता है अतः ये दो भूयस्कार बंध पतन की अपेक्षा से नही बनते हैं। इसी प्रकार छह को बांधकर आठ कर्मों का बंध रूप तीसरा भूयस्कार बंध भी नहीं बनता है क्योंकि छह कर्मों का बंध दसवें गुणस्थान में होता है और आठ कर्मों का बंध सातवें और उससे नीचे के गुणस्थान में होता है। यदि जीव दसवें गुणस्थान से गिरकर सातवें गुणस्थान में आ जाता तो वह छह का बांध कर आठ का बंध कर सकता था, किन्तु पतन क्रमशः होता है अर्थात्

दसवे गुणस्थान से गिरकर जीव नौवे गुणस्थान मे ही आता है, जिससे तीसरा भूयस्कार वन्ध भी नही वन सकता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि ऊपर के गुणस्थान से पतन एकदम न होकर क्रमश ग्यारहवे, दसवें, नौवें आदि में होता है, अत: पतन की अपेक्षा एक को वाधकर सात का वन्ध करना, एक को वाधकर आठ कर्मों का वन्ध करना, छह को वाधकर आठ कर्मों का वन्ध करना यह तीनों भूयस्कार वंध नही वनते है।

अव रहा मरण की अपेक्षा आदि के दो भूयस्कार वंधो का हो सकना। सो ग्यारहवें गुणस्थान मे मरण करके जीव देवगति मे ही जन्म लेता है[1] और वहा वह सात ही कर्मों का वंध करता है, क्योकि देवगति मे छह मास की आयु शेप रहने पर ही आयु का वन्ध होता है। अत मरण की अपेक्षा से एक का वन्ध करके आठ का वन्ध कर सकना संभव नही है। इसलिये यह भूयस्कार वंध नही हो सकता है। किन्तु एक को वांधकर सात का वंध रूप भूयस्कार संभव है, लेकिन उसके वारे मे यह ज्ञातव्य है कि जो एक को वांधकर सात कर्मों का वन्ध करता है तो वन्धस्थान सात का ही रहता है, इसलिये उसको जुदा नही गिना जाता है।[2] यदि वंधस्थान का भेद होता तो

१ वद्धाऊ पडिवन्नो सेढिगओ व पसतमोहो वा।
जइ कुणइ कोइ काल वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु॥

—विशेपावश्यक भाष्य १३११

यदि कोई वद्धायु जीव उपशम श्रेणि चढता है और श्रेणि के मध्य के किसी गुणस्थान मे अथवा ग्यारहवें गुणस्थान मे यदि मरण करता है तो नियम से अनुत्तरवासी देवो मे उत्पन्न होता है।

२ तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक वध थी सातकर्म वध करे तो पण वधस्थानक सातनु एकज छे ते भणी जुदो न लेख्यो, वन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार लेखवाय। — पंचम कर्मग्रन्थ का टब्बा

भूयस्कार भी अलग से माना जाता। इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारो मे छह का बाधकर सात का बधरूप एक भूयस्कार बतला आये हैं। एक को बध कर सात के बध रूप भूयस्कार मे भी सात का ही बंधस्थान होता है अत उसे पृथक् नही गिनाया गया है। इस प्रकार उपशम श्रेणि से उतरने पर तीन ही भूयस्कार बध होते हैं।

अल्पतर बन्ध

भूयस्कार बध से नितान्त उलटा अल्पतर बंध होता है। अधिक कर्मों का बंध करके कम कर्मों के बध करने को अल्पतर बध कहते हैं। अल्पतर बध भी भूयस्कार बध की तरह तीन ही होते है। वे इस प्रकार हैं—

आयु कर्म के बध काल मे आठ कर्मों का बध करके जब जीव सात कर्मों का बध करता है तब पहला अल्पतर बध होता है। नौवें गुणस्थान मे सात कर्मों का बध करके दसवें गुणस्थान के प्रथम समय मे जब जीव मोहनीय के बिना शेष छह कर्मों का बध करता है तब दूसरा अल्पतर बध होता है तथा दसवे गुणस्थान मे छह कर्मों का बध करके ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान मे एक कर्म का बध करता है तब तीसरा अल्पतर बध होता है। यहाँ भी आठ का बध करके छह तथा एक का बध रूप तथा सात का बध करके एक का बध रूप अल्पतर बध नही हो सकते हैं। क्योंकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से और एकदम ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जा सकता है और न अप्रमत्त से एकदम दसवें गुणस्थान मे जाता है। अत अल्पतर बध भी तीन ही जानना चाहिए।

भूयस्कार और अल्पतर बधों मे इतना अन्तर है कि गुणस्थान में पतन के समय भूयस्कार बध और आरोहण के समय अल्पतर बध होता है। लेकिन गुणस्थानो में आरोहण और अवरोहण क्रम-क्रम से

होता है, एकदम नही, अतः दोनो बंधो के तीन-तीन भेद होते है। अन्य विकल्पो की संभावना नही है।

मूल कर्मों मे भूयस्कार और अल्पतर बंधो का कथन करने के पश्चात अब अवस्थित बंध को कहते है।

अवस्थित बन्ध

पहले समय में जितने कर्मों का बंध किया है, दूसरे समय मे भी उतने ही कर्मों के बंध करने को अवस्थित बंध कहते है। अर्थात् आठ को बाध कर आठ का, सात को बाध कर सात का, छह को बाध कर छह का और एक को बाध कर एक का बंध करने को अवस्थित बंध कहते है। बंधस्थान चार है, अतः अवस्थित बंध भी चार होते है।

अवक्तव्य बन्ध

एक भी कर्म को न बांधकर पुनः कर्म बंध को अवक्तव्य बंध कहते है। यह बंध मूल कर्मो के बंधस्थानो मे नही होता है। क्योंकि तेरहवे गुणस्थान तक तो बराबर कर्मबंध होता रहता है लेकिन चौदहवे गुणस्थान मे ही किसी कर्म का बंध नही होता है और चौदहवे गुणस्थान मे पहुँचने के बाद जीव लौटकर नीचे के गुणस्थान मे नही आता है जिससे एक भी कर्म का बन्ध नही करने से पुनः कर्मबंध करने का अवसर ही नही आता है। इसीलिये मूल कर्म प्रकृतियो में अवक्तव्य बंध भी नही होता है।[1]

इस प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियों मे बंधस्थानो और उनके भूयस्कार आदि बन्धो को बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में भूयस्कार आदि बंधों के लक्षणो को कहते है।

भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण

एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥

---

१ सव्वबंधगो न बंधइ इइ अव्वत्तो अओ नत्थि। —पंचसंग्रह २२०

शब्दार्थ—एगादहिग—एकादि अधिक प्रकृतिया का बध होन स भूओ—भूयस्कार बध एगाईऊणगम्मि—एकादि प्रकृति क द्वारा हीन बध होन से, अप्पतरो—अल्पतर बध, तम्मत्तो – उतनी प्रकृतिया का बध होन स अवट्ठियओ—अवस्थित बध पढमेसमए—अबन्धक होने के बाद पुनब ध के पहल समय मे, अवत्तव्वो—अवक्तव्य बन्ध।

गाथार्थ—एकादि अधिक प्रकृतियो का बन्ध होने मे भूयस्कार बन्ध होता है। एकादि प्रकृतिया के द्वारा हीन बध होने पर अल्पतर बन्ध और उतनी ही प्रकृतिया का बन्ध होन से अवस्थित बन्ध होता है तथा अबन्धक होने के बाद पुन बध के पहले समय मे बन्ध हो, उसे अवक्तव्य बध कहते है।

विशेषार्थ—गाथा मे भयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बध के लक्षण बतलाये है।

भूयस्कार बध का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि—'एगादहिगे भूओ'—एक, दो आदि अधिक प्रकृतियो के बाधने पर भूयस्कार बध होता है। अर्थात् जस एक का बाधकर छह का बाधना, छह को बाध कर सात को बाधना और सात का बाधकर आठ को बाधना भूयस्कार बंध है।

लेकिन अल्पतर बध भूयस्कार बध से उलटा है। यानी 'एगाई ऊणगम्मि अप्पतरो'—एक, दो आदि हीन प्रकृतिया का बध करने पर अल्पतर बध होता है। अर्थात् जस आठ को बाधकर सात का बाधना, सात को बाधकर छह को बाधना और छह को बाध कर एक को बाधना अल्पतर बन्ध कहलाता है।

अवस्थित बध उस कहत ह—तम्मत्तोऽवट्ठियओ—जिसम प्रति समय समान प्रकृतिया का बध हो अर्थात् पहले समय मे जितने कर्मा का बन्ध किया हो, आगे के समयो म भी उतने ही कर्मा का बन्ध

करना अवस्थित बन्ध कहलाता है। जैसे आठ कर्म को बांधकर आठ का, सात को बांधकर सात का, छह को बांधकर छह का, एक को बांधकर एक का बन्ध करना अवस्थित बन्ध है और किसी भी कर्म का बन्ध न करके पुनः कर्म बन्ध करने पर पहले समय में अवक्तव्य बन्ध होता है—'पढमे समए अवत्तव्वो।'

भूयस्कार आदि बंधों विषयक विशेष स्पष्टीकरण

भूयस्कार आदि उक्त चार प्रकार के बंधों के संबन्ध में यह विशेष जानना चाहिए कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्ध केवल पहले समय में ही होते हैं और अवस्थित बंध द्वितीय आदि समयों में होता है। जैसे कोई छह कर्मों का बंध करके सात का बंध करता है तो यह भूयस्कार बंध है लेकिन दूसरे समय में यही भूयस्कार नहीं हो सकता है क्योंकि प्रथम समय में सात का बंध करके यदि दूसरे समय में आठ का बंध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है और छह कर्म का बंध करता है तो अल्पतर हो जाता है तथा सात का करता है तो अवस्थित हो जाता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्या में परिवर्तन हुए बिना अधिक बांधकर कम बांधना, कम बांधकर अधिक बांधना और कुछ भी न बांधकर पुनः बांधना केवल एक बार ही संभव है, जबकि पहली बार बांधे हुए कर्मों के बराबर पुनः उतने ही कर्मों को बांधना पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थित बन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बंधों में यह संभव नहीं है।

इस प्रकार के भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण और मूल कर्मों में उनकी होने वाली संख्या बतलाकर उत्तर प्रकृतियों में विशेष रूप से कथन करने के पूर्व सामान्य से उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि चारों बंधों को स्पष्ट करते हैं।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों के उनतीस बंधस्थान होते हैं। जो

इस प्रकार है—एक, सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, छब्बीस, तिरेपन, चौवन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, तिरेसठ, चौसठ, पैंसठ, छियासठ, सड़सठ, अड़सठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। ये उनतीस बंधस्थान हैं, जिनमें भूयस्कार बंध अट्ठाईस होते हैं। जो इस प्रकार है—

उपशान्तमोह गुणस्थान में एक वेदनीय का बंध कर गिरते समय दसवें गुणस्थान में ज्ञानावरण पाँच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाँच, उच्च गोत्र और यशःकीर्ति के साथ वेदनीय का बंध करने से सत्रह प्रकृति के बंध से प्रथम समय में पहला भूयस्कार बंध होता है।

दसवें गुणस्थान से पतित होने पर नौवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ के साथ अठारह प्रकृति का बंध करने पर दूसरा भूयस्कार बंध होता है। संज्वलन माया के साथ उन्नीस प्रकृतियों को बाँधने से तीसरा भूयस्कार बंध और संज्वलन मान के साथ बीस को बाँधने से चौथा भूयस्कार बंध, संज्वलन क्रोध के साथ इक्कीस का बंध करने से पाँचवाँ भूयस्कार बंध तथा पुरुष वेद के साथ बाईस का बंध करने से छठा भूयस्कार और उसके साथ हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का अधिक बंध करने से अपूर्वकरण के सातवें भाग में छब्बीस का बंध करने से सातवाँ भूयस्कार बंध होता है। उसके बाद अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग में देवप्रायोग्य नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने से तिरेपन का बंध, यह आठवाँ भूयस्कार, पुनः तीर्थंकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों का बाँधने पर चौवन के बंध का नौवाँ भूयस्कार बंध तथा आहारकद्विक सहित तीस का बंध करने से पचपन का बंध करने पर दसवाँ भूयस्कार और इन पचपन को तीर्थंकर नामकर्म सहित बाँधने से छप्पन

का बंध होने से ग्यारहवां भूयस्कार, अपूर्वकरण के प्रथम भाग में छप्पन को जिन नामकर्म रहित तथा निद्रा और प्रचला सहित बांधने में सत्तावन के बंध में बारहवां भूयस्कार तथा जिननाम सहित अट्ठावन का बंध होने पर तेरहवां भूयस्कार, अप्रमत्त गुणस्थान में उक्त अट्ठावन को देवायु सहित उनसठ का बंध करने पर चौदहवां भूयस्कार, देशविरति गुणस्थान में देवप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने के साथ ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण छह, वेदनीय एक, मोहनीय तेरह, देवायु एक, नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इस प्रकार साठ प्रकृतियों के बांधने से पन्द्रहवां भूयस्कार, इन साठ के साथ तीर्थंकर नाम का भी बंध करने से इकसठ के बंध का सोलहवां भूयस्कार. (यहां किसी भी तरह एक जीव को एक समय में बासठ प्रकृतियों का बंध संभव नहीं, अतः उनका भूयस्कार भी नहीं कहा है।) चौथे गुणस्थान में आयु के अबन्धकाल में देवप्रायोग्य नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की छह, वेदनीय की एक, मोहनीय की सत्रह, गोत्र की एक, नामकर्म की अट्ठाईस और अंतराय की पाँच इन तिरेसठ प्रकृतियों का बंध करने से सत्रहवाँ भूयस्कार, देवायु के बंध के साथ चौंसठ प्रकृतियों को बांधने से अठारहवां भूयस्कार, जिन नामकर्म सहित पैंसठ को बाँधने पर उन्नीसवाँ भूयस्कार, चौथे गुणस्थान में देव हो और उनके द्वारा मनुष्यप्रायोग्य तीस प्रकृतियों के बांधने पर छियासठ के बंध से बीसवां भूयस्कार, मिथ्यात्व गुणस्थान में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की एक, मोहनीय की बाईस, आयु की एक, नाम की तेईस, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इन सड़सठ प्रकृतियों का बंध करने पर इक्कीसवा भूयस्कार, इनमें नामकर्म की पच्चीस और आयु रहित अड़सठ के बांधने पर

बाईसवां भूयस्कार आयु सहित उनहत्तर का बंध करने से तेईसवां भूयस्कार तथा नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियों के साथ सत्तर प्रकृतियों को बांधने से चौबीसवां भूयस्कार तथा आयु रहित और नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों के साथ इकहत्तर का बांधने पर पच्चीसवां भूयस्कार, नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों के साथ बहत्तर के बंध में छब्बीसवां भूयस्कार, आयु सहित तिहत्तर का बंध करने पर सत्ताईसवां भूयस्कार और नामकर्म की तीस बांधते ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की एक, मोहनीय की बाईस, आयु की एक, नाम की तीस, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इस प्रकार चौहत्तर का बंध करने से अट्ठाईसवां भूयस्कार होता है।

यहां प्रकारान्तर से अनेक बंधस्थानक संभव हैं, जिनका स्वयं विचार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से अट्ठाईस अल्पतर बंध भी विपरीतपन (आरोहण) से होते हैं और अवस्थित बंध उनतीस समझना चाहिए। अवक्तव्य बंध संभव नहीं है। सब उत्तर प्रकृतियों का अबंधक अयोगि गुणस्थान में जीव होता है उस गुणस्थान से पतन नहीं होने के कारण अवक्तव्य बंध नहीं होता है।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंधों का कथन करने के बाद अब आगे की गाथाओं में प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों में बंधों को बतलाते हैं।

उत्तर प्रकृतियों के भूयस्कार आदि बंध

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

शब्दार्थ—नव—नौ प्रकृति का, छ—छह प्रकृति का, चउ—चार प्रकृति का बंधस्थान, दंसे—दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों का, दु—दो भूयस्कार बंध, दु—दो अल्पतर बंध, ति—तीन

अवस्थित वध, दु—दो अवक्तव्य वध, मोहे—मोहनीय कर्म मे, दुइगवीस—वाईस, इक्कीस प्रकृतियो का वन्धस्थान, सत्तरस—सत्रह प्रकृतियो का वन्धस्थान, तेरस—तेरह प्रकृतियो का नव - नौ का, पण– पाच का, चउ—चार का, ति—तीन का, दु—दो का, इक्को - एक प्रकृति का वधस्थान, नव—नौ भूयस्कार वध, अट्ठ—आठ अल्पतर वन्ध, दस – दस अवस्थित वध, दुन्नि – दो अवक्तव्य वध।

गाथार्थ—दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियो के नौ, छह और चार प्रकृतियो के तीन वंधस्थान है और उनमे दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य वंध होते है। मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियो के वाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप दस वधस्थान होते है तथा उनमे नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य वंध होते है।

विशेषार्थ—मूल कर्मप्रकृतियो के वंधस्थान और उनमे भूयस्कार आदि वन्धो की संख्या वतलाने के वाद इस गाथा से प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियो के वन्धस्थान और भूयस्कार आदि वन्धो का कथन प्रारम्भ किया गया है।

सवसे पहले दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के वंधस्थानो और उनमे भूयस्कार आदि वधो को गिनाया है।

मूल कर्मप्रकृतियो के पाठक्रम के अनुसार सवसे पहले ज्ञानावरण कर्म के वधस्थानो और उनमे भूयस्कार आदि वंधो को न वतलाकर दर्शनावरण और मोहनीय कर्म से इस प्रकरण को प्रारम्भ करने का कारण यह है कि भूयस्कार आदि वंध दर्शनावरण, मोहनीय और नाम

कर्म इन तीन कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में होते हैं, शेष पांच कर्मों[1] में उनकी संभावना नहीं है। क्योंकि ज्ञानावरण और अंतराय कर्म की पांचों प्रकृतियां एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ रुकती हैं। जिससे दोनों कर्मों का पंच प्रकृति रूप एक ही बंधस्थान होता है और जब एक ही बंधस्थान है तो उसमें भूयस्कार आदि बंध संभव नहीं है। इस दशा में तो सर्वदा अवस्थित बन्ध रहता है। इसी प्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बंध नहीं होते हैं।[2]

दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के बंधस्थानों व उनमें भूयस्कार आदि बंधों की संख्या नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

दर्शनावरण कर्म के बंधस्थान आदि की संख्या

दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरण आदि नौ प्रकृतियां हैं और

---

१ ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अंतराय।

२ (क) तिण्णि दस अट्ठ ठाणाणि दंसणावरणमोहणामाणं।
एत्थेव य भुजगारा सेसेसु हवे ठाणं॥
—गो० कर्मकांड ४५८

—दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म के क्रमशः तीन, दस और आठ बंधस्थान होते हैं और इन्हीं में भुजाकार बंध आदि भी होते हैं। शेष कर्मों में एक-एक ही बंधस्थान होता है।

(ख) बंधट्ठाणा तिदसट्ठ दंसणावरणमोहनामाणं।
[illegible]॥
—पंचसंग्रह २२२

—[illegible] अवस्थित [illegible]।

उनमे नौ, छह और चार प्रकृतियों के इस प्रकार से तीन वन्धस्थान होते है—नव छ चउ दसे। दर्शनावरण कर्म के तीन वन्धस्थान मानने का कारण यह है कि दूसरे सासादन गुणस्थान तक तो सभी प्रकृतियो का वध होने से नौ प्रकृतिक वंधस्थान होता है। सासादन गुणस्थान के अंत मे स्त्यानर्द्धित्रिक के वंध की समाप्ति हो जाती है अत तीसरे मिश्र गुणस्थान से लेकर आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान के के प्रथम भाग तक शेप छह प्रकृतियो का ही वन्धस्थान है और अपूर्वकरण के प्रथम भाग के अन्त मे निद्रा और प्रचला के वंध का निरोध हो जाने से आगे दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक शेष चार प्रकृतियो का ही वन्धस्थान होता है। इस प्रकार दर्शनावरण के नौ प्रकृति रूप, छह प्रकृति रूप और चार प्रकृति रूप ये तीन वंधस्थान है।[1] इनमे भूयस्कर आदि वंध क्रमश 'दुदु तिदु' दो, दो, तीन, दो है, यानी दो भूयस्कर, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य वन्ध होते है। जो इस प्रकार है—

आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक मे से किसी एक गुणस्थान मे चार प्रकृतियो का वन्ध करके जव कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थान के द्वितीय भाग से नीचे आकर छह प्रकृतियो का वन्ध करता है तव पहला भूयस्कार वन्ध होता है और वहा से भी गिरकर जव नौ प्रकृतियो का वंध करता

---

१ पचसग्रह के सप्ततिका अधिकार मे भी दर्शनावरण के तीन वधस्थान इसी प्रकार वतलाये हैं—

नवछच्चचउहा वज्झई दुगट्ठ दसमेण दसणावरण ॥१०

दर्शनावरण के तीन वन्धस्थान है। उनमे से पहले, दूसरे गुणस्थान मे नौ का, उनमे आगे आठवें गुणस्थान तक छह प्रकृति का और आगे दसवें गुणस्थान तक चार प्रकृति का वन्धस्थान होता है।

है तब दूसरा भूयस्कार बध होता है। इस प्रकार से दशनावरण कम की उत्तर प्रकृतियो मे दो भूयस्कार बन्ध समझना चाहिये।

भूयस्कार बध की तरह दशनावरण कम की उत्तर प्रकृतिया मे अल्पतर बध भी दो समझना चाहिये। क्यो अल्पतर बध भूयस्कार बध से विपरीत होते ह। इसीलिये जब कोई जीव नीचे के गुणस्थाना मे नौ प्रकृतियो का बध करके तीसरे आदि गुणस्थाना मे छह प्रकृतिया का बन्ध करता है तब पहला अल्पतर बन्ध होता है और जब छह का बन्ध करके चार का बन्ध करता है तब दूसरा अल्पतर बध होता है। लेकिन अवस्थित बन्ध तीन होते ह। क्याकि दशनावरण कम के बन्धस्थान तीन ही ह और दो अवक्तव्य बन्ध इस प्रकार समझना चाहिये कि ग्यारहवें गुणस्थान मे दशनावरण का बिल्कुल बन्ध न करके जब कोई जीव वहा से गिरकर दसवें गुणस्थान मे चार प्रकृतिया का बन्ध करता है तब पहला अवक्तव्य बन्ध होता है और जब ग्यारहवें गुणस्थान मे मरण करके अनुत्तर देवा मे उत्पन्न होता है तब वहा प्रथम समय मे दशनावरण कम की छह प्रकृतियो का बन्ध करता है, जो दूसरा अवक्तव्य बन्ध है।

इस प्रकार से दशनावरण कम की उत्तर प्रकृतिया के बधस्थाना और उनमे दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बधो का कथन करने के बाद अब मोहनीय कम की उत्तर प्रकृतियो के बन्धस्थाना और भूयस्कारादि बधा को बतलाते है।

मोहनीय कम के बधस्थान आदि की सख्या

मोहनीय कम की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतिया है। लेकिन उनमे से *सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय का बध न होने से बधयोग्य* छब्बीस प्रकृतिया हैं। उनमे बाइस इक्कीस, सत्रह तेरह, नौ, पाच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति का, इस प्रकार से कुल दस बंधस्थान होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

स्त्री, पुरुष, नपुसक इन तीन वेदो मे से एक समय में एक ही वेद का तथा हास्य-रति व शोक-अरति मे से एक समय मे एक ही युगल का बंध होता है। अत' मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो मे से सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व तथा तीन वेदो मे से कोई दो वेद और हास्य-रति, अरति-शोक, इन दोनो युगलो मे से कोई एक युगल को कम करने से कुल छह प्रकृतियो को कम कर देने पर शेप वाईस प्रकृतिया ही एक समय मे बन्ध को प्राप्त होती हैं। यह पहला वंधस्थान है। इस वंधस्थान की वाईस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व, अनन्तानुवंधी कपाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, एक वेद, एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस वाईस प्रकृति रूप वंधस्थान का वन्ध केवल पहले गुणस्थान मे होता है।

दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व के सिवाय शेप इक्कीस प्रकृतियो का, तीसरे, चौथे गुणस्थान मे अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के सिवाय शेष सत्रह का, पाचवे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वंध न होने से शेष तेरह प्रकृतियो का बंध होता है। ये क्रमश दूसरे, तीसरे और चौथे वंधस्थान है। इसके अनन्तर छठे, सातवे और आठवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वन्ध न होने के कारण शेष नौ प्रकृतियो का ही वन्ध होता है। आठवे गुणस्थान के अन्त मे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्धविच्छेद हो जाने से नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग मे पाच प्रकृतियो का ही बंधस्थान होता है। दूसरे भाग मे वेद का अभाव हो जाने से चार का, तीसरे भाग मे संज्वलन क्रोध के वंध का अभाव हो जाने के कारण तीन ही प्रकृतियो का वंध होता है। चौथे भाग मे संज्वलन मान का वन्ध न होने से दो प्रकृतियो का वन्धस्थान है। पाचवे भाग मे संज्वलन माया का भी वन्ध न होने से केवल एक संज्वलन लोभ का

ही बन्ध होता है। इसके आगे बादर कषाय का अभाव हो जाने से संज्वलन लोभ प्रकृति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के दस बंधस्थान जानना चाहिये। इन दस बंधस्थानों में नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं।[1] जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बंध—एक को बांध कर दो का बंध करने पर पहला भूयस्कार बंध और दो को बांधकर तीन का बंध करने पर दूसरा भूयस्कार बंध होता है। इसी प्रकार तीन का बांध कर चार का बंध करने पर तीसरा, चार को बांधकर पांच का बंध करने पर चौथा, पांच का बंध करके नौ का बंध करने पर पांचवा, नौ का बंध करके तेरह का बंध करने पर छठा, तेरह का बंध करके सत्रह का बंध करने पर सातवां, सत्रह का बंध करके इक्कीस का बंध करने पर आठवां और इक्कीस का बंध करके बाईस का बंध करने पर नौवां भूयस्कार बंध होता है।

आठ अल्पतर[2] बंध इस प्रकार हैं—बाईस का बंध करके सत्रह

---

१ गो० कर्मकाड में मोहनीय कर्म के भुजाकारादि बंधों में कुछ अंतर है उनमें अधिक माने गये हैं जिनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

२ मोहनीय कर्म के आठ अल्पतर बंध होते हैं। बाईस का बंध करके इक्कीस का बंध रूप अल्पतर बंध नहीं बताने का कारण यह है कि बाईस का बंध पहले गुणस्थान में होता है और इक्कीस का बंध दूसरे गुणस्थान में। लेकिन पहले गुणस्थान से जीव दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता है। दूसरा गुणस्थान अपक्रांति की अवस्था में है उत्क्रांति की अवस्था में नहीं। यदि जीव पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जा सकता तो बाईस का अल्पतर बंध बन सकता था। लेकिन मिथ्यादृष्टि सासा

(अगले पृष्ठ पर देखें)

का वंध करने पर पहला अल्पतर और सत्रह का वन्ध करके तेरह का वन्ध करने पर दूसरा अल्पतर होता है। इसी प्रकार तेरह का वन्ध करके नौ का वन्ध करने पर तीसरा, नौ का वन्ध करके पाच का वन्ध करने पर चौथा, पाच का वन्ध करके चार का वंध करने पर पाचवां, चार का वन्ध करके तीन का वन्ध करने पर छठा, तीन का वन्ध करके दो का वन्ध करने पर सातवा और दो का वन्ध करके एक का वन्ध करने पर आठवा अल्पतर वन्ध होता है।

वंधस्थान दस होने से अवस्थित वंध भी दस ही होते है।

दो अवक्तव्य वन्ध निम्न प्रकार है—ग्यारहवे गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का वन्ध न करके जव कोई जीव वहा से च्युत होकर नौवे गुणस्थान मे आता है और वहा संज्वलन लोभ का वन्ध करता है तव पहला अवक्तव्य वन्ध होता है और यदि ग्यारहवे गुणस्थान मे आयु का क्षय हो जाने के कारण मरकर के कोई जीव अनुत्तरवासी देवो मे जन्म लेता है और वहा सत्रह प्रकृतियो का वन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्य वन्ध होता है।

दन सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है, उपशम सम्यग्दृष्टि ही सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है –

छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा।२३।

उवसमसत्तद्धातो पडमाणो छावलिगसेसाए उवसमसमत्तद्धाते परति उक्कोसाते, जहन्नेण एक्कसमयसेसाए उवसमसमत्तद्धाए सासायणसम्मत्त कोति गच्छेज्जा, णो सव्वे गच्छेज्जा।

—कर्मप्रकृति (उपशम क०) चूर्णि

—उपशम सम्यक्त्व के काल मे कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवली शेष रहने पर कोई-कोई उपशम सम्यग्दृष्टि सासादन सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

अत बाईस का वन्ध करके इक्कीस का वन्ध रूप अल्पतर वन्ध संभव नही है।

इस प्रकार से मोहनीय कम के दस बधस्थान और नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बध बतलाने के बाद अब नामकम तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों के बधस्थान व भूयस्कार आदि बधो का निरूपण करते है।

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिब धा सेसेसु य ठाणमिक्किक्क ॥२५॥

शब्दार्थ—तिपणछअट्ठनवहिया—तीन पाच छह आठ और नौ अधिक, वीसा—बीस तीस तीस एगतीस इकतीस इग एक, नामे—नामकम छ—छह भूयस्कार बध सग—सात अल्पतर ब ध, अट्ठ—आठ अवस्थित बध तिबधा—तीन अवक्तव्य बध सेसेसु—बाकी के ज्ञानावरण आदि पाच कर्मों म ठाण—ब धस्थान इक्किक्क—एक एक।

गाथाथ—नामकम मे तीन, पाच, छह, आठ और नौ अधिक बीस तथा तीस, इकतीस, एक प्रकृति रूप बधस्थान होते है तथा इनम छह भूयस्कार बध, सात अल्पतर बध, आठ अवस्थित बध और तीन अवक्तव्य बध हैं। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकम के सिवाय शेष पाच कर्मों मे एक एक बधस्थान है।

विशेषाथ—इस गाथा म नामकम के बधस्थानो और उनमे भूयस्कार आदि बधो की सख्या तथा शेष पाच कर्मों के बधस्थानो को बतलाया है।

नामकम के आठ बधस्थान है, उनमे से कुछ की सख्या सकेत द्वारा बतलाई है। जसे कि 'तिपणछअट्ठनवहिया वीसा' तीन अधिक बीस, पाच अधिक बीस, छह अधिक बीस, आठ अधिक बीस, नौ अधिक बीस, जिनको क्रमश तेईस प्रकृति रूप, पच्चीस प्रकृति रूप, छब्बीस प्रकृति

रूप, अट्ठाईस प्रकृति रूप और उनतीस प्रकृति रूप ये पाच स्थान वन जाते है और तीन वंधस्थान क्रमश तीस प्रकृति रूप, इकतीस प्रकृति रूप और एक प्रकृति रूप है। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--

नामकर्म की वन्धयोग्य ६७ प्रकृतिया है। एक समय मे एक जीव को सभी प्रकृतियो का वन्ध नही होता है। किन्तु उनमे से एक समय मे एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतिया ही वन्ध को प्राप्त होती है। इसीलिये नामकर्म के आठ वन्धस्थान माने गये है।

पूर्व मे जिन कर्मो के वन्धस्थानो को वतलाया गया है वे कर्म जीवविपाकी है—जीव के आत्मिक गुणो पर ही उनका असर पडता है। किंतु नामकर्म का वहुभाग पुद्‌गलविपाकी है और उसका अधिकतर उपयोग जीवो की शारीरिक रचना मे ही होता है। अत भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से एक ही वंधस्थान की अवान्तर प्रकृतियो मे अन्तर पड जाता है।

वर्ण चतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्म की ये नौ प्रकृतिया ध्रुववन्धिनी है। चारो गति के सभी जीवो के आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक इनका वन्ध अवश्य होता है। इनके साथ तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, हुण्ड संस्थान, स्थावर, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, सूक्ष्म-वादर मे से कोई एक, साधारण-प्रत्येक मे से कोई एक, इन चौदह प्रकृतियो को ध्रुववन्धिनी नौ प्रकृतियो के साथ मिलाने पर (१४+९) तेईस प्रकृति का वन्धस्थान होता है। ये तेईस प्रकृतिया अपर्याप्त एकेन्द्रियप्रयोग्य है, जिनको एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय मिथ्यात्वी वाधता है। अर्थात् इस स्थान का वन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त मे ही जन्म लेता है।

इन तेईस प्रकृतियो मे से अपर्याप्त प्रकृति को कम करके पर्याप्त,

उच्छ्वास और परघात प्रकृतिया को मिलाने से एकेंद्रिय पर्याप्त सहित पच्चीस का बधस्थान होता है। उनमे से स्थावर, पर्याप्त एकेंद्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात का घटाकर त्रस, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जाति, सेवात सहनन और औदारिक अगोपाग के मिलाने से द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान होता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति के स्थान मे त्रीन्द्रिय जाति के मिलाने से त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान, त्रीन्द्रिय जाति के स्थान मे चतुरिन्द्रिय जाति के मिलाने मे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान और चतुरिन्द्रिय जाति के स्थान मे पचेंद्रिय जाति के मिलाने मे पचेंद्रिय अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान होता है। इसमे तिर्यन्च गति के स्थान म मनुष्यगति के मिलाने से मनुष्य अपर्याप्त सहित पच्चीस का स्थान होता है।

इस प्रकार से पच्चीस प्रकृति वाला बधस्थान छह प्रकार का होता है और उसको बाधने वाले जीव एकेंद्रिय पर्याप्तको मे तथा द्वीन्द्रिय को आदि लेकर सभी अपर्याप्त तिर्यन्च और मनुष्यो मे जन्म ले सकते है।

मनुष्यगति सहित पच्चीस प्रकृतिक बधस्थान मे से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पचेंद्रिय जाति, सेवात सहनन और औदारिक अगोपाग का घटाकर स्थावर, पर्याप्त, तिर्यन्चगति, एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात और आतप तथा उद्योत मे स किसी एक को मिलान पर एकेंद्रिय पर्याप्त युक्त छब्बीस का बधस्थान होता है। इस स्थान का बधक जीव एकेंद्रिय पर्याप्तक मे जन्म लेता है।

नामकर्म की ध्रुवबधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर म से एक, शुभ और अशुभ मे से एक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति और अयश कीर्ति मे से एक, देवगति, पचेंद्रिय

जाति, वैक्रिय शरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, शुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात इन प्रकृति रूप देवगति सहित अट्ठाईस का वन्धस्थान होता है। इस स्थान का वन्धक मरकर देव होता है।

नरकगति की अपेक्षा अट्ठाईस का वंधस्थान—नौ ध्रुववंधिनी, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश-कीर्ति, नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, हुण्डसंस्थान, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपाग, दु.स्वर, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन प्रकृति रूप नरकगतियोग्य अट्ठाईस का वन्धस्थान होता है।

नौ ध्रुववंधिनी तथा त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भग, अनादेय, यश:कीर्ति या अयश.कीर्ति, तिर्यचगति, द्वीन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, हुँण्ड संस्थान, तिर्यचानुपूर्वी, सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपाग, दु.स्वर, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, इन प्रकृति रूप द्वीन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस प्रकृति का वंधस्थान होता है। इसमे द्वीन्द्रिय के स्थान मे त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के स्थान मे चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के स्थान मे पंचेन्द्रिय को मिलाने से क्रमश: त्रीन्द्रिययुत, चतुरिन्द्रिययुत और पंचेन्द्रिययुत उनतीस प्रकृति का वन्धस्थान होता है।

इस स्थान मे यह विशेषता समझना चाहिये कि सुभग और दुर्भग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दु:स्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलो मे से एक-एक प्रकृति का तथा छह संस्थानो और छह संहननो मे से किसी एक संस्थान का और किसी एक संहनन का वंध होता है। इसमे तिर्यंचगति ओर तिर्यचानुपूर्वी को घटाकर मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने से पर्याप्त मनुष्य सहित उनतीस का वंधस्थान होता है।

नौ ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, आदेय, यश कीर्ति या अयश कीर्ति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थंकर, इन प्रकृति रूप देवगति और तीर्थंकर सहित उनतीस का बंधस्थान होता है। इस प्रकार से उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते हैं। इन स्थानों का बंधक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तथा मनुष्यगति और देवगति में जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस के चार बंधस्थानों में उद्योत प्रकृति के मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तियुत तीस के चार बंधस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य सहित उनतीस के बंधस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के मिलाने से मनुष्यगति सहित तीस का बंधस्थान होता है। देवगति सहित उनतीस के बंधस्थान में से तीर्थंकर प्रकृति घटाकर आहारकद्विक को मिलाने से देवगतियुत तीस का बंधस्थान होता है। इस प्रकार तीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते हैं।

देवगति सहित उनतीस के बंधस्थान में आहारकद्विक के मिलाने से देवगति सहित इकतीस का बंधस्थान होता है। एक प्रकृतिक बंधस्थान में केवल एक यशःकीर्ति का ही बंध होता है।

इस प्रकार नामकर्म के आठ बंधस्थानों को बतलाकर अब इनमें भूयस्कार बंध आदि की संख्या बतलाते हैं।

भूयस्कारादि बंध

नामकर्म के बंधस्थान आठ हैं और उनमें भूयस्कार आदि बंधों की संख्या बतलाने के लिये संकेत दिया है कि 'छस्सगअट्ठति बंधा' यानी छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवक्तव्य बंध होते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

तेईस का वन्ध करके पच्चीस का वन्ध करना पहला भूयस्कार वन्ध, पच्चीस का वन्ध करके छव्वीस का वन्ध करना दूसरा भूयस्कार, छव्वीस का वन्ध करके अट्ठाईस का बंध करना तीसरा भूयस्कार, अट्ठाईस का बंध करके उनतीस का वध करना चौथा भूयस्कार, उनतीस का वन्ध करके तीस का वन्ध करना पाचवा भूयस्कार, आहारकद्विक सहित तीस का वध करके इकतीस का वन्ध करना छठा भूयस्कार वन्ध होता है। इस प्रकार छह भूयस्कार वन्ध है।

नौवे गुणस्थान मे एक यश कीर्ति का वन्ध करके वहाँ से च्युत होकर आठवे गुणस्थान मे जब कोई जीव तीस अथवा इकतीस का वन्ध करता है तो वह पृथक् भूयस्कार नही गिना जाता है। क्योकि उसमे भी तीस अथवा इकतीस का ही वन्ध करता है और यही वन्ध पाचवे और छठे भूयस्कार वन्धो मे भी होता है, अत उसे पृथक् नही गिना है।

यद्यपि कर्मप्रकृति के सत्वाधिकार गाथा ५२ की टीका मे उपाध्याय यशोविजयजी ने कर्मों के वन्धस्थानो और उनमे भूयस्कार आदि वन्धो के वर्णन के प्रसंग मे नामकर्म के वन्धस्थानो मे छह भूयस्कार वन्धो को वतलाकर सातवे भूयस्कार के संवन्ध मे एक मत का उल्लेख किया है कि एक प्रकृति का वन्ध करके इकतीस का वन्ध करने पर सातवा भूयस्कार वन्ध होता है। जैसा कि शतक चूर्णि मे लिखा है—एक्काओ वि एक्कतीसं जाइ त्ति भुओगारा सत्त—एक को वाधकर इकतीस का वन्ध करता है, अत नामकर्म की उत्तर प्रकृतियो मे सात भूयस्कार वन्ध होते है।

इसका उत्तर यह है कि अट्ठाईस आदि वन्धस्थानो के भूयस्कारो को वतलाते हुए इकतीस के वन्ध रूप भूयस्कार का पहले ही ग्रहण कर लिया है। अत एक की अपेक्षा से उसे अलग नही गिना जा सकता

ह। यहा भिन्न भिन्न ब धस्थानो की अपेक्षा से भूयस्कारा के भेदो की विवक्षा नही की है, यदि विभिन्न बन्धस्थाना की अपेक्षा विवक्षा की जाय तो बहुत से भूयस्कार हो जायेंगे। जैसे कभी अट्ठाईस का बध करके इकतीस का बध करता है, कभी उनतीस का बध करके इकतीस का बध करता है और कभी एक का बन्ध करके इकतीस का बध करता है तथा कभी तेईस का बन्ध करके अट्ठाईस का बध करता है और कभी पच्चीस का बध करके अट्ठाईस का बन्ध करता है। इस प्रकार सात से भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते ह, जो यहा इष्ट नही हैं। अत भिन्न भिन्न बन्धस्थाना की अपेक्षा से भूयस्कार के भेद नही बताये ह। इस प्रकार से भूयस्कार ब ध छह होते ह।

अब सात अल्पतर बध बतलाते ह। अपूर्वकरण गुणस्थान मे देव गति योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बध करके १ प्रकृतिक बध स्थान का बध करने पर पहला अल्पतर बध होता है। आहारकद्विक और तीर्थंकर सहित इकतीस का बध करके जो जीव देवलोक मे उत्पन्न होता ह, वह प्रथम समय मे ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतिया का बध करता है, यह दूसरा अल्पतर बध है। वही जीव स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यगति म जन्म लेकर देवगति योग्य तीर्थंकर सहित उनतीस प्रकृतिया का बध करता है तब तीसरा अल्पतर बध होता है। जब कोई तिर्यंच या मनुष्य, तिर्यंचगति के योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतिया का बध करके विशुद्ध परिणामो के कारण देवगति योग्य अट्ठाईस प्रकृतिया का बध करता ह तब चौथा अल्पतर बध, अट्ठाईस प्रकृतिक बधस्थान का बध करके सक्लेश परिणामा के कारण जब कोई एकेन्द्रिय के योग्य छब्बीस प्रकृतिया का बध करता है तब पाचवा अल्पतर बध होता है। छब्बीस का बध करके पच्चीस का बध करने पर छठा अल्पतर बध होता है तथा पच्चीस का बध करके तेईस का बध करने पर सातवा अल्पतर बध होता है।

आठ वन्धस्थानो की अपेक्षा मे आठ ही अवस्थित वन्ध होते है ।

ग्यारहवे गुणस्थान मे नामकर्म की एक भी प्रकृति को न वांधकर वहाँ से च्युत होकर जब कोई जीव एक प्रकृति का वंध करता है तव पहला अवक्तव्य वन्ध होता है तथा ग्यारहवें गुणस्थान मे मरण करके कोई जीव अनुत्तर देवो मे जन्म लेकर यदि मनुष्यगति योग्य तीस प्रकृति का वन्ध करता है तव दूसरा अवक्तव्य वन्ध होता है और मनुष्यगति योग्य उनतीस प्रकृति का वन्ध करता है तो तीसरा अवक्तव्य वन्ध होता है। इस प्रकार तीन अवक्तव्य वन्ध होते है ।[1]

इस प्रकार से गाथा के तीन चरणो मे नामकर्म के वंधस्थानों और उनमे भूयस्कर आदि वंधो का निर्देश करके शेष कर्मों के वंधस्थानो को वतलाने हेतु गाथा के चौथे चरण में संकेत दिया है कि 'सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं'। शेष पांच कर्मों—ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अन्तराय—मे एक-एक ही वंधस्थान होता है। क्योकि ज्ञानावरण और अंतराय की पाच-पांच प्रकृतियां एक साथ ही वंधती है और एक साथ ही रुकती है। वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियो मे भी एक समय मे एक-एक प्रकृति का ही वंध होता है। जिससे इन कर्मो मे भूयस्कार आदि वंध नही होते है। क्योकि जहां एक ही प्रकृति का वंध होता है, वहा थोड़ी प्रकृतियो को वांध कर अधिक प्रकृतियो को वाधना या अधिक प्रकृतियो को वांधकर थोड़ी प्रकृतियों को वाधना संभव नही होता है।

---

१ गो० कर्मकाड गा० ५६५ से ५८२ तक नामकर्म के भूयस्कार आदि वन्धो की विस्तार से चर्चा की है। उसमे गुणस्थानो की अपेक्षा से भूयस्कार आदि वध वतलाये है और जितने प्रकृतिक स्थान को वाँधकर जितने प्रकृतिक स्थानो का वन्ध सभव है और उन-उन स्थानो मे जितने भग हो सकते है, उन सवकी अपेक्षा से भूयस्कार आदि को वतलाया है।

यह एक सामान्य नियम है किन्तु वेदनीय के सिवाय शेष चार कर्मो मे अवक्तव्य और अवस्थित बध होते है। क्योकि ग्यारहवे गुणस्थान मे ज्ञानावरण, अतराय और गोत्र कर्म का बध न करके जब कोई जीव वहा से च्युत होता है और नीचे के गुणस्थान मे आकर पुन उन कर्मो का बध करता है तब प्रथम समय मे अवक्तव्य बध होता है और द्वितीय आदि समयो मे अवस्थित बध होता है तथा त्रिभाग मे जब आयु कर्म का बध होता है तब प्रथम समय मे अवक्तव्य बध होता है और द्वितीय आदि समयो मे अवस्थित बध होता है। किन्तु वेदनीय कर्म मे केवल अवस्थित बध ही होता है, अवक्तव्य बध नही। क्योकि वेदनीय कर्म का अबध अयोगि-केवली गुणस्थान मे होता है, किन्तु वहा से गिरकर जीव के नीचे के गुणस्थान मे नही आने के कारण पुन बध नही होता है।

इस प्रकार से कर्मो की बध-योग्य १२० उत्तर प्रकृतियो मे बध-स्थानो और उनके भूयस्कर आदि बधो को बतलाया गया है। जिनका कोष्टक पृष्ठ ११६ पर दिया गया है। प्रकृतिबध का वर्णन करने के बाद अब आगे की गाथाओ मे स्थितिबध का वर्णन करते हैं।

मूल कर्मों का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबध

> वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
> तीसयर चउसु उदही निरयसुराउमि तित्तीसा ॥२६॥
> मुत्तु अकसायठिइ बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
> अट्ठट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्ततो ॥२७॥

शब्दार्थ—वीस—बीस अयरकोडिकोडी—कोडाकोडी सागरोपम नामे—नामकर्म की, गोए—गोत्रकर्म की, य—और सत्तरी—सत्तर कोडाकोडी सागरोपम मोहे—मोहनीयकर्म की,

आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान तथा भूयस्कार आदि बन्धों का कोष्टक

आठ कर्म	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
उत्तर प्रकृति	५	९	२	२६	४	६७	२	५
कितने बंधस्थान	१	३	१	१०	१	८	१	१
कितनी प्रकृतियों का बंधस्थान	५	९, ६, ४,	१	२२, २१ १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १	१	२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३०, १,	१	१
भूयस्कार बंध	०	२	०	९	०	६	०	०
अल्पतर बंध	०	२	०	८	०	७	०	०
अवस्थित बंध	१	३	१	१०	१	३	१	१
अनवक्तव्य बंध	१	२	०	२	१	३	१	१

तोस—तीस कोडाकोडी सागरोपम इयरचउसु—शेप चार कर्मों की, उदही—सागरोपम निरयसुराउम्मि—नारक और देवा की आयु तित्तीसा—तेतीस सागरोपम ।

मुत्त—छोडकर, अकसाय—अकषायी का, ठिइ—स्थिति बार मुहुत्ता—बारह मुहूर्त जहन्न—जघन्य वेयणिए—वेदनीय कम की, अट्ठट्ठ—आठ आठ मुहूर्त, नामगोएसु—नाम और गोत्र कम का सेसएसु—शेष पाच कर्मों का, मुहुत्तंतो—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—नाम और गोत्र कम की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम होती है। मोहनीय कम की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम, बाकी के चार कर्मों की तीस कोडाकोडी सागरोपम तथा नारक और देवा की आयु तेतीस सागरोपम है ।

अकषायी को छोडकर (सकषायी की) वेदनीय कम की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्र कम की आठ आठ मुहूर्त तथा शेप पाच कर्मा की जघन्य स्थिति अन्त मुहूर्त प्रमाण होती है।

विशेषार्थ—इन दाना गाथाओ म आठ मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई है। नामक्रम से कर्मों की स्थिति न बतलाकर एक जैसी स्थिति वाले कर्मों को एक साथ लेकर उनकी स्थिति का प्रमाण कहा है। जैसे कि नाम और गोत्र कम की स्थिति बराबर है तो उनको एक साथ लेकर कहा है कि 'वीसयरकोडिकोडी नामे गोए' नाम और गोत्र कम की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम है। 'तीसयर चउसु उदही' चार कर्मों की स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है। लेकिन इन चार कर्मों के नामो का गाथा मे सकेत नही है। क्योकि नाम और गोत्र की स्थिति अलग से बतला दी

गई है और मोहनीय कर्म की स्थिति 'सत्तरी मोहे' पद से कि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है तथा 'निरयसुराउंमि तित्तीसा' पद द्वारा आयु कर्म की उत्कृष्टस्थिति तेतीस सागरोपम बतला दी है। अत: इन नाम, गोत्र, मोहनीय और आयुकर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय, इन चार कर्मों की स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागरोपम समझना चाहिए।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बाद उनकी जघन्य स्थिति बतलाने के लिये कहा है 'बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए' वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, 'अट्ठ नाम गोएसु' नाम और गोत्र कर्म की आठ-आठ मुहूर्त तथा इन वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अंतराय इन पाच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है—सेसएसु मुहुत्तंतो।

उक्त कथन का सारांश यह है कि घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम तथा अघातीकर्म वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम, आयु की तेतीस सागरोपम और नाम व गोत्र की स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम है[१] तथा जघन्य स्थिति क्रमश: इस प्रकार है कि—

---

१ (क) तीस कोडाकोडी तिघादितदियेसु बीस णामदुगे।
सत्तरि मोहे सुद्ध उवही आउस्स तेतीस ॥
—गो० कर्मकांड १२७

(ख) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटिकोट्य परा स्थिति। सप्ततिर्मोहनीयस्य। नामगोत्रयोर्विंशति। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य। —तत्वार्थसूत्र ८। १५, १६, १७, १८

ज्ञानावरण, दशनावरण, मोहनीय और अतराय की अतमुहूत, वेदनीय की वारह मुहूत, आयु की अन्तमुहूत, नाम और गोत्र की आठ आठ मुहूत है।[1]

स्थितिवन्ध का मुख्य कारण कपाय है। कपायोदयजन्य सक्लिष्ट परिणामो की तीव्रता होने पर उत्कृष्ट स्थिति का वध होता है और कपाय परिणामो के मद होने पर जघय स्थिति का वध होता हे तथा मध्यम परिणामो द्वारा अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) स्थिति का वन्ध होता है।

यद्यपि प्रकृतिवध के पश्चात उसके स्वामी का वणन करना चाहिये था लेकिन वधस्वामित्व की टीका मे उसका विस्तार से वणन किये जाने के कारण पुनरावृत्ति न करके यहा स्थितिवध को वतलाया है।

वध हो जाने पर जो कम जितने समय तक आत्मा के साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिवध कहलाता है। कम वधने के वाद ही तत्काल अपना फल देना प्रारम्भ नही कर देते ह और न एक साथ ही एक समय मे अपना पूरा फल दे देते ह। किन्तु यथासमय फल देना प्रारम्भ करके अपनी शक्ति को क्रम से नष्ट करते है। इस वधने के समय से लेकर निर्जीण होने के समय तक कर्मों की आत्मा के साथ सबद्ध रहने की अधिकतम और न्यूनतम कालमर्यादा को वतलाने के लिए स्थितिवध का कथन किया जाता है। अधिकतम

---

१ (क) वारस य वयणीये णामे गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्त तु ठिदी जहण्णय सेसपचण्ह ॥
—गो० कमकाड १३९

(ख) अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य। नामगोत्रयोरष्टौ। शेषाणा मन्तमुहूतम्।
—तत्त्वायसूत्र ८। १९ २० २१

कालमर्यादा को उत्कृष्ट स्थिति और न्यूनतम कालमर्यादा को जघन्य स्थिति कहते है। ऊपर कही गई दोनो गाथाओ मे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई है। इस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के बीच जीवो की अध्यवसाययोग्यता से मध्यम स्थितियो के अनेक प्रकार हो जाते है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वह इतनी अधिक है कि संख्या प्रमाण के द्वारा उसका बतलाना अशक्य-सा है, अत उसे उपमा प्रमाण के एक भेद सागरोपम द्वारा बतलाया गया है तथा एक करोड को एक करोड़ से गुणा करने पर जो राशि आती है उसे कोडाकोडी कहते है। आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की कोडाकोडी सागरोपमो के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

आयुकर्म ही एक ऐसा कर्म है जिसकी स्थिति कोडाकोडी सागरोपम मे नही किन्तु सिर्फ सागरोपम मे बताई है। साथ ही आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बारे मे यह भी विशेषता रखी है कि उसके दो भेदो—नरकायु और देवायु की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी गई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही उत्कृष्ट स्थिति नरकायु और देवायु की भी है। अत ग्रन्थलाघव की दृष्टि से मूल आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति को अलग से न बतलाकर दो उत्तर प्रकृतियां के द्वारा उसकी तथा उसकी दो उत्तर प्रकृतियो की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी है।

कषायो का उदय दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक ही होता है, अत वहाँ तक कर्मों के स्थितिबन्ध की स्थिति है और दसवे गुणस्थान तक के जीव सकषाय और ग्यारहवे से चौदहवे—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान तक के जीव अकषाय कहे जाते है। आठ कर्मों मे से एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो

अवपाय जीवा को भी वधता है और शेप सात वम केवल सकपाय जीवा को वधते हैं । अवपाय जीवो को जो वेदनीय कम का वध होता है, उसकी केवल दा समय की स्थित होती है, पहले समय म उसका वध हाता है और दूसरे समय मे उसका वेदन होकर निजरा हो जाती है। अत कर्मों की जघन्य स्थिति वतलान के प्रसग मे वेदनीय रम की जो वारह मुहूत की जघन्य स्थिति वतलाई वह 'मुत्तु अक्सायठिइ' अकपाय जीवा को छोडकर सकपाय जीवा की समझना चाहिये। अर्थात् सकपाय वेदनीय वर्म की जघन्य स्थिति वारह मुहूत[1] है और अवपाय वेदनीय की दो मुहूर्त प्रमाण।

आगे उत्तर प्रकृतियों के आश्रय मे कमा के अवाधाकाल (अनुदयकाल) का कथन किया जायेगा। अत उनके अनुसार मूल प्रकृतिया का भी अवाधाकाल समझना चाहिये। यानी ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय और अन्तराय कम का तीन हजार वप, मोहनीय का सात हजार वप, नाम तथा गोत्र कम का दो हजार वप एव आयु कम का अन्तमुहूत और पूर्व कोडी का तीसरा भाग। स्थिति मे स अवाधाकाल को कम करने पर जो काल वाकी रहे उसे निपेककाल (भोग्यकाल) जानना चाहिये। अवाधाकाल यानी दलिका की रचना से रहित काल। जिस समय जितनी स्थिति वाला जो कम आत्मा वाधता है और उसके भाग मे जितनी कमवगणाय आती है, वे वगणायें उतने समय पयन्त नियत फल दे सकन के लिये अपनी रचना करती है। प्रारम्भ के कुछ स्थानो मे वे रचना नही करती हैं। इसी को अवाधाकाल कहते है। अवाधाकाल के वाद के पहले स्थान म अधिक, दूसरे मे उससे कम, तीसरे मे दूसरे से कम, इस प्रकार स्थितिवध के चरम समय तक भोगने के लिये की गई कमदलिका की रचना को निपेक कहा जाता है।

---

१ उत्तराध्ययन म अन्तमुहूत प्रमाण भी कहा है।

अवाधाकाल का ऐसा नियम है कि जघन्य स्थिति वन्ध मे अन्तर्मुहूर्त का अवाधाकाल, समयाधिक जघन्य स्थितिवन्ध से लेकर पल्योपम के असंख्य भागाधिक स्थिति वाधने के समय तक समयाधिक अन्तर्मुहूर्त तथा उसकी अपेक्षा समयाधिक वन्ध से लेकर दूसरे पल्योपम का असंख्यातवा भाग पूर्ण होने तक दो समय अधिक अन्तर्मुहूर्त का अवाधाकाल होता है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भागाधिक वंध मे समय-समय का अवाधाकाल बढ़ाते जाने पर पूर्ण कोडाकोडी सागरोपम के वंध मे सौ वर्ष का अवाधाकाल होता है। यानी उतने काल के जितने समय होते है, उतने स्थानो मे दलिको की रचना नही होती है।

इस प्रकार से मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति वतलाने के पश्चात अव उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन करते है।

उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे दस दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥

शब्दार्थ—**विग्घावरणअसाए**—पाच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातावेदनीय कर्म की, **तीस**—तीस कोडाकोडी सागरोपम, **अट्ठार**—अठारह कोडाकोडी सागरोपम, **सुहुमविगलतिगे**—सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक मे, **पढमागिइसंघयणे**—प्रथम संस्थान और प्रथम सहनन मे, **दस**—दस कोडाकोडी सागरोपम, **दुसु**—दोनो मे, **उवरिमेसु**—उत्तर के सस्थान और सहननो मे, **दुगवुड्ढी**—दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि।

गाथार्थ—पांच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरोपम की है। नामकर्म के भेद सूक्ष्मत्रिक और

विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागर प्रमाण है। पहले सस्थान और पहले सहनन की दस कोडा कोडी सागरोपम और आगे के प्रत्येक सस्थान और सहनन की स्थिति मे दो दो सागरोपम की वृद्धि जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियो की एव असाता वेदनीय और नामकर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

कर्मों की उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के सम्बन्ध मे यह जानना चाहिये कि उनकी स्थिति मूल प्रकृतियो की स्थिति से अलग नही है किन्तु उत्तर प्रकृतियो की स्थिति मे से जो स्थिति सबसे अधिक होती है, वही मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मान ली गई है। इसी लिये उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते हुए कहा है कि—

'विग्घावरणअसाए तीस' ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय की क्रमश पाच, नौ और पाच तथा असाता वेदनीय, इन बीस प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मूल कर्म प्रकृतियो के बराबर तीस कोडाकोडी साग रोपम की है।[1] लेकिन नामकर्म की उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे अधिक विषमता है, अत उसकी उत्तर प्रकृतियो की नामोल्लेख सहित अलग अलग स्थिति बतलाई है।

नामकर्म की सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण तथा विकल-त्रिकद्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अठारह सागर है—अट्ठार सुहुमविगलतिगे। सस्थान और सहनन नामकर्म के भेदो मे से प्रथम सस्थान—समचतुरस्र सस्थान और प्रथम सहनन—वज्रऋषभनाराच सहनन की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडा

---

1 दुक्खतिघादीणाय। —गो० कर्मकाड १२८

कोडी सागरोपम है—'पढमागिज्संघयणे दस' तथा उनके सिवाय दूसरे से लेकर छठे संस्थान और दूसरे से लेकर छठे संहनन तक प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार दो-दो सागरोपम की अधिक है—'दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी' अर्थात् दूसरे संस्थान और दूसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोड़ा-कोडी सागरोपम, तीसरे संस्थान और तीसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडा-कोडी सागरोपम, इसी प्रकार चौथे की सोलह, पाचवे की अठारह और छठे की बीस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जो नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति है।

संस्थान और संहनन के भेदो की उत्कृष्ट स्थिति की इस प्रकार की क्रम वृद्धि होने का कारण कषाय की हीनाधिकता है। जब जीव के भाव अधिक संक्लिष्ट होते है तब स्थितिबंध भी अधिक होता है और जब कम संक्लिष्ट होते है तब स्थितिबंध भी कम होता है इसीलिये प्रशस्त प्रकृतियो की स्थिति कम और अप्रशस्त प्रकृतियो की स्थिति अधिक होती है। क्योकि उनका बंध प्रशस्त परिणाम वाले जीव के ही होता है।

चालीस कसाएसुं मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दंबिलाईण ॥२६॥

शब्दार्थ—चालीस—चालीस कोडाकोडी सागरोपम, कसाएसुं—कषायो की, मिउलहुनिद्ध—मृदु, लघु, स्निग्ध स्पर्श, उण्ह सुरहि—उष्ण स्पर्श, सुरभिगंध की, सियमहुर - श्वेत वर्ण और मधुर रस की, दस—दस कोडाकोडी सागरोपम, दोसड्ढसमहिया—ढाई कोडा-कोडी सागरोपम अधिक, ते—वे (दस कोडाकोडी सागरोपम), हालिद्दंबिलाईण—पीत वर्ण, अम्ल रस आदि।

गाथाथ—कषायो की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटा क्रोडी सागरोपम है। मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पश, सुरभि गध, श्वेत वण और मधुर रस की दस कोडाकोडी सागरोपम की होती है और इन दस कोडाकोडी सागरोपम मे ढाई कोडकोडी सागरोपम साधिक स्थिति पीत वण और अम्ल रस आदि की समझना चाहिये।

विशेषाथ—गाथा में चारित्र मोहनीय के भेद सोलह कषायो और नामकम की कुछ उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। जो इस प्रकार है कि 'चालीस कसाएसु' यानी अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्याना वरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायो की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरोपम है।[1]

नामकम की उत्तर प्रकृतियो म से मटु स्पश, लघु स्पश, स्निग्ध स्पश, उष्ण स्पश, सुरभि गध, श्वेत वण और मधुर रस इन सात प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम है तथा शेष रहे वण चतुष्क के भेदो में से प्रत्येक वण और प्रत्येक रस की स्थिति इस दस कोटीकोडा सागरोपम से ढाई कोडाकोटी सागरोपम अधिक अधिक है। अर्थात् पीत वण और अम्ल रस नामकम की उत्कृष्ट स्थिति साढे बारह कोडाकोडी सागरोपम है। रक्त वण और कषाय रस की स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम, नील वण और कटुक रस की

---

१ चरित्तमोहे य चत्ताल। —गो० कमकाड १२८

साढे सत्रह कोडाकोडी सागरोपम तथा कृष्ण वर्ण और तिक्त रस की वीस कोडाकोड़ी सागरोपम है।[1]

दस सुहविहगईउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥३०॥

शब्दार्थ—दस—दस कोडाकोडी सागरोपम, सुहविहगइ-उच्चे—शुभ विहायोगति और उच्चगोत्र, सुरदुग—देवद्विक, थिर-छक्क—स्थिरपट्क, पुरिस—पुरुपवेद, रइहासे—रति और हास्य मोहनीय, मिच्छे—मिथ्यात्व की, सत्तरि—सत्तर कोडाकोडी सागरोपम, मणुदुगइत्थीसाएसु—मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातावेदनीय की, पन्नरस—पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम।

गाथार्थ—शुभ विहायोगति, उच्चगोत्र, देवद्विक, स्थिर-पट्क, पुरुपवेद, रति और हास्य मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। मिथ्यात्व मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम तथा मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता-वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

विशेषार्थ—गाथा में विशेपकर दस कोडाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली तथा पन्द्रह कोड़ाकोडी सागरोपम की स्थिति

---

१ यद्यपि वर्ण, गध, रस और स्पर्श इस वर्णचतुष्क को उसके भेदो के विना ही वन्ध मे ग्रहण किया गया है, अत. कर्मप्रकृति आदि मे वर्णचतुष्क की वीस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है। इसीलिये कर्मप्रकृति मे वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति नही वतलाई है किन्तु पच-सग्रह मे वतलाई है—

सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाण।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी अंविलहालिद्दपुव्वाण ॥२४०॥

वाली कम प्रकृतियो के नाम बतलाने के साथ मिथ्यात्व मोहनीय कम की भी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

दस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कम प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

(१) मोहनीयकम—पुरुषवेद, रति मोहनीय, हास्य मोहनीय।

(२) नामकम—शुभ विहायोगति, देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) स्थिरषटक (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति।

(३) गोत्रकम—उच्चगोत्र।

पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कर्म प्रकृतियो के नाम यह है—

(१) वेदनीय—साता वेदनीय।

(२) मोहनीय—स्त्री वेद।

(३) नामकम—मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी)।[1]

मोहनीय कम की उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है।

> भयकुच्छअरइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए।
> तेयपण अथिरछक्के तसचउथावरइगपणिदी ॥३१॥
> नपुकुखगइसासचउगुरुकक्खडरुक्खसीयदुग्गधे।
> वीस कोडाकोडी एवइयावाह वाससया ॥३२॥

शब्दार्थ—भयकुच्छअरइसोए—भय, जुगुप्सा, अरति और शोक मोहनीय की, विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए—वक्रियद्विक तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और नीच गोत्र की, तेयपण—

---

१ शान्तिहीनपुमुग तदद्ध तु। —गो० कमकाड १२८

तैजस पञ्चक की, अथिरछक्के—अस्थिरपट्क की, तसचउ—त्रस-चतुष्क की, थावरइगपणिदी—स्थावर, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की, नपु—नपुंसक वेद की, कुखगइ—अशुभ विहायोगति की, सासचउ—उच्छ्वास चतुष्क की, गुरुकक्खडरुक्खसीय—गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत स्पर्श की, दुग्गंधे—दुरभिगंध की, वीसं—वीस, कोडाकोडी—कोडाकोडी सागरोपम, एवइया—इतनी, अवाह—अवाधा, वाससया—सौ वर्ष।

गाथार्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक मोहनीय की, वैक्रियद्विक, तिर्यन्चद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और नीच गोत्र की तथा तैजस पंचक, अस्थिरपट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति की तथा—

नपुंसक वेद, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास चतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत स्पर्श की और दुरभिगंध की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागरोपम है। जिस कर्म की जितनी-जितनी उत्कृष्ट स्थिति वतलाई है, उस कर्म की उतने ही सौ वर्ष प्रमाण अवाधा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में वीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली वयालीस कर्म प्रकृतियों को संख्या वतलाते हुए प्रकृतियों के अवाधाकाल का संकेत किया है। वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली अधिकतर नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां हैं।

मूल कर्म के नाम पूर्वक उन उत्तर प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) मोहनीयकर्म—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, नपुंसक वेद।
(२) नामकर्म—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तिर्यंचगति,

तिर्यंचानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत स्पर्श, दुर्गंध।

(३) गोत्रकर्म—नीच गोत्र।

आहारक बंधन और आहारक संघातन को छोड़कर शेष औदारिक बंधन और संघातन आदि की स्थिति भी अपने अपने शरीर की स्थिति जितनी होती है। अतः उनकी भी स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की समझना चाहिए।

इस प्रकार से बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से आहारक द्विक, तीर्थंकर और आयु कर्म की चार प्रकृतियां, इन सात प्रकृतियों को छोड़कर शेष सौ तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है। ग्रन्थलाघव की दृष्टि से गाथा में एक सौ तेरह प्रकृतियों के अबाधाकाल का भी संकेत किया है कि जिस कर्म की जितने कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उस प्रकृति का उतने सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। जैसे कि पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय इन बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध तीस कोडाकोडी सागरोपम है तो उनका उत्कृष्ट अबाधाकाल भी तीस सौ अर्थात् तीन हजार वर्ष समझना चाहिए।

बंधने के बाद जब तक कर्म उदय में नहीं आता है तब तक के काल को अबाधाकाल कहते हैं। [illegible] जाता है। [illegible] कर्म की जितनी अधिक स्थिति होती है, उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधन के बाद बिना फल दिये ही आत्मा के साथ संबद्ध रहता है,

जो उसका अबाधाकाल कहलाता है। उस अबाधाकाल में कर्म विपाक के उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतने पर अपना फल देना प्रारम्भ कर उस समय तक फल देता रहता है जब तक उसकी स्थिति का बन्ध है। इसीलिये ग्रन्थकार ने अबाधाकाल का अनुपात बतलाया है कि जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उस कर्म की उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधाकाल समझना चाहिये।

इसका सारांश यह है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज किसी जीव ने एक कोड़ाकोडी सागरोपम की स्थिति वाला कर्म बांधा है तो वह आज से सौ वर्ष बाद उदय में आयेगा और तब तक उदय में आता रहेगा जब तक एक कोडाकोडी सागरोपम काल समाप्त नहीं हो जाता है।

अभी तक जिन कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है और शेष रही जिन प्रकृतियों की आगे स्थिति बतलाने वाले हैं, उसमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसलिये स्थिति के दो भेद हो जाते हैं—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा और अनुभवयोग्या। बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का परिमाण कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति है और अबाधाकाल रहित स्थिति का नाम अनुभवयोग्या स्थिति कहलाता है। यहाँ जो कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति सहित है और अनुभवयोग्या स्थिति को जानने के लिये पहली कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति में से अबाधाकाल कम कर देना चाहिये,[1] जो इस प्रकार है—

---

१ इह द्विधा स्थिति—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकाल हीना।

— कर्मप्रकृति मलयगिरि टीका, पृ० १६३

पाच अन्तराय, पाच ज्ञानावरण और नौ दशनावग्ण कर्मो म से प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकाडी मागरापम की तथा एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति म एक सौ वप का अवाधाकाल हाने का सकेत पहले कर आये है। अत उनका अबाधाकाल ३० X १०० तीन हजार वप होता है। इसी प्रकार इसी अनुपात से अय प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार उन उनका उत्कृष्ट अवाधाकाल समझना चाहिये कि सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक का अवाधाकाल अठारह सौ वप, समचतुरस्र मम्थान और वज्रऋपभनाराच सहनन का अवाधा काल एक हजार वप, न्यग्रोधपरिमडल सस्थान और ऋपभनाराच महनन का अवाधाकाल वारह सौ वर्प, स्वाति मस्थान और नाराच सहनन का अबाधाकाल चौदह सौ वप, कुब्ज सस्थान और अधनाराच महनन का अबाधाकाल सालह सौ वप, वामन सस्थान और कीलिक सहनन का अवाधाकाल अठारह सौ वप, हुण्ड सम्थान और सवात सहनन का अवाधाकाल दो हजार वर्प, अनतानुबधी क्रोध आदि सोलह कपाया का अवाधाकाल चार हजार वप, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पश, सुगध, श्वेतवण और मधुर रस का एक हजार वप, पीत वण और अम्ल रस का अवाधाकाल साढे वारह सौ वप, रक्त वण और कपाय रस का पद्रह सौ वप, नील वण और कटुक रस का साढे सत्रह सौ वप, कृष्ण वण और तिक्त रस का दो हजार वप, शुभ विहायोगति, उच्च गोत्र, देवद्विक, स्थिरपटक, पुरुप वेद, हास्य और रति का एक हजार वप, मिथ्यात्व का सात हजार वप, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता वेदनीय का अवाधाकाल पन्द्रह सौ वप, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तियचद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीच गोत्र, तैजस पचक, अस्थिरपटक, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, नपुसक वेद, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, ककश, रूक्ष, शीतस्पश और दुगध का अवाधाकाल दो हजार वप का जानना चाहिए।

इस प्रकार से एक सौ तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध और उस स्थिति के अनुपात से उनका अबाधाकाल बतलाने के पश्चात अब आगे नामकर्म की आहारकद्विक, तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध व अबाधाकाल का कथन करते हैं।

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥३३॥

शब्दार्थ—गुरु—उत्कृष्ट स्थिति, कोडिकोडिअंतो—अन्तः कोडाकोडी सागरोपम तित्थाहाराण—तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की, भिन्नमुहु—अन्तर्मुहूर्त, बाहा—अबाधाकाल, लहुठिइ—जघन्यस्थिति, संखगुणूणा—सख्यातगुण हीन, नरतिरियाण—मनुष्य और तिर्यंच, आउ—आयु, पल्लतिग—तीन पल्योपम।

गाथार्थ—तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। जघन्यस्थिति संख्यात गुणहीन अंतःकोड़ाकोड़ी सागरोपम होती है। मनुष्य और तिर्यंच आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है।

विशेषार्थ—इस गाथा में तीर्थंकर और आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति तथा अबाधाकाल बतलाने के साथ आयुकर्म के मनुष्य व तिर्यंच आयु इन दो भेदों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का कथन ग्रन्थलाघव की दृष्टि से एक साथ कर दिया है कि इन तीनों

प्रकृतियों की दोनों स्थितियां सामान्य से अन्त:कोडाकोडी[1] सागरोपम हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि उत्कृष्ट स्थिति से जघन्य स्थिति का परिमाण संख्यात गुणहीन यानी संख्यातवें भाग प्रमाण है। इसी प्रकार उनका उत्कृष्ट और जघन्य अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त ही है और स्थिति की तरह उत्कृष्ट अबाधा से जघन्य अबाधाकाल भी संख्यात गुणहीन है। इस प्रकार इन तीन कर्मों की स्थिति (उत्कृष्ट व जघन्य) अन्त:कोडाकोडी सागरोपम और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समझना चाहिए।

यहां जो तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त:कोडाकोडी सागरोपम बतलाई, वह स्थिति अनिकाचित तीर्थंकर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक की स्थिति अन्त:कोडाकोडी सागर के संख्यातवें भाग से लेकर तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति तो कुछ कम दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विक की पल्य के असंख्यातवें भाग है।[2]

तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्त:कोडाकोडी सागरोपम बताये जाने पर जिज्ञासु प्रश्न प्रस्तुत करता है कि जब तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्त:कोडाकोडी सागरोपम

---

१ कुछ कम कोडाकोड़ी को अन्त:कोडाकोड़ी कहते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि दोनों कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोडाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम है।

२ अंतो कोडाकोडी तित्थयराहार तीए संखाओ।
तेत्तीस पलिय संखं निकाइयाणं तु उक्कोसा।। —पंचसंग्रह ५।४२

* गो० कर्मकांड गाथा १५७ की भाषा टीका में अन्त:कोडाकोड़ी का प्रमाण इस प्रकार बताया है कि एक कोडाकोड़ी सागर की स्थिति की अबाधा सौ वर्ष बताई है। इस सौ वर्ष के स्थूल रूप से दस भाग करना

(शेष अगले पृष्ठ पर)

है तब तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव तिर्यंचगति में जाये बिना नहीं रह सकता है। तिर्यंचगति में भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं होती है। क्योंकि पंचेन्द्रिय पर्याय का काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकाय का काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है।[1] अतः इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पंचेन्द्रिय पर्याय में जन्म ले सकता है और न त्रसकाय में ही और अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति का बंध करके जीव इतने लम्बे काल को केवल नारक, मनुष्य और देव पर्याय में जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता है, इसलिये उसे तिर्यंचगति में अवश्य जाना पड़ेगा।[2]

दूसरी बात यह है कि तिर्यंचगति में जीवों के तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का निषेध किया है, अतः इतने काल को कहां पूर्ण करेगा और तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध

हजार मुहूर्त होते हैं। जब इतने मुहूर्त अबाधा एक कोड़ाकोडी सागर की है तब एक मुहूर्त अबाधा कितनी स्थिति की होगी? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर एक कोड़ाकोड़ी में दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त का भाग देने पर ९२५९२५९२ $\frac{64}{81}$ लब्ध आता है। इतने सागर प्रमाण स्थिति की एक मुहूर्त अबाधा होती है यानी एक मुहूर्त अबाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की है। इसी हिसाब से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधा वाले कर्म की स्थिति जानना चाहिये।

१. एगिंदियाण णंता दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई।
अयराण इग पणिंदिसु नरतिरियाण सगट्ठ भवा॥ —पंचसंग्रह २।४६

२. अंतो कोडाकोडी ठिईए वि कह न होइ तित्थयरे।
संते कित्तियकालं तिरिओ अह होइ उ विरोहो॥
—पंचसंग्रह ५।४३

होना बताया है।[1] जिससे अन्त कोडाकोटी सागरोपम की स्थिति मे यह भी कैसे सभव है ?

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि तिर्यंचगति मे जो तीर्थंकर नामकर्म का निषेध किया है, वह निकाचित तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से किया है अर्थात् जो तीर्थंकर नामकर्म अवश्य अनुभव मे आता है, उसी का तिर्यचगति मे अभाव बतलाया है, किंतु जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन हो सकता है, उस तीर्थंकर प्रकृति के अस्तित्व का निषेध तिर्यंचगति मे नही किया है।[2] इसी प्रकार 'तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव मे जो तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कथन है, वह भी निकाचित तीर्थंकर प्रकृति की अपेक्षा से किया गया है।[3] जो तीर्थंकर प्रकृति निकाचित[4] नही है यानी उद्वर्तन[5] अपवर्तन[6] हो सकता है, वह तीन भव से भी पहले बाधी जा सकती है।

सिद्धान्त मे जो तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का तिर्यचगति मे निषेध किया है, वह तीसरे भव मे होने वाली सुनिकाचित तीर्थंकर

---

१ त बज्झई त तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताण।

—आवश्यक निर्युक्ति १८०

२ जमिह निकाइयतित्थ तिरियभवे त निसेहिय सत।
इयरमि नत्थि दोसो उवट्टणुवट्टणासज्जे॥ —पचसग्रह ५।४४

३ ज बज्झइत्ति भणिय तत्थ निकाइज्ज इत्ति नियमोय।
तदवञ्झफल नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे॥

—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, विशेषणवती टीका

४ जिस कर्म की उदीरणा, सक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन ये चारों ही अवस्थायें न हो सकें, उसे निकाचित कहते हैं।

५ कर्मों की स्थिति और अनुभाग के बढ़ जाने को उद्वर्तन कहते हैं।
बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग मे अध्यवसाय विशेष से कमी कर देना अपवर्तन है।

नामकर्म की सत्ता की अपेक्षा से कहा है, न कि सामान्य सत्ता की अपेक्षा से। इसलिए अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहने पर भी जीव का चारों गतियों में जाने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति अंत:कोडाकोडी सागरोपम और तीर्थंकर के भव से पहले के तीसरे भव में जो उसका बंध होना कहा है, वह इस प्रकार समझना चाहिए कि तीसरे भव में उद्वर्तन, अपवर्तन के द्वारा उस स्थिति को तीन भवों के योग्य कर लिया जाता है। यद्यपि तीन भवों में तो कोडा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती है अतः अपवर्तन-करण के द्वारा उस स्थिति का ह्रास कर दिया जाता है। शास्त्रों में जो तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का विधान किया है, वह निकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये समझना चाहिये यानी निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य दे देती है, किन्तु अनिकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये कोई नियम नहीं है। वह तीसरे भव से पहले भी बंध सकती है।

नरकायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति पहले बतला आये हैं, अतः यहां मनुष्यायु और तिर्यंचायु को उत्कृष्ट स्थित बताई है कि 'नरतिरियाणाउ पल्लतिगं' मनुष्य और तिर्यंचायु तीन पल्य की है।[1] आयुकर्म की स्थिति के बारे में यह विशेष जानना चाहिये कि भव-स्थिति की अपेक्षा से उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रमाण बतलाया जाता है कि कोई भी जीव जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट कितने काल तक जी सकता है।

---

१. नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते। तिर्यग्योनीनां च।

—तत्त्वार्थसूत्र ३।१७,१८

अब आयुकम की उत्कृष्ट स्थिति के बारे मे कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हुए अवाधाकाल वतलाते हैं।

इगविगलपुव्वकोडि पलियासखस आउचउ अमणा।
निरवकमाण छमासा अबाह सेमाण भवतसो ॥३४॥

शब्दार्थ—इगविगल—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पुव्वकोडि—पूव कोडी वप की आयु पलियासखस—पल्योपम का असख्यातवा भाग आउचउ—चारो आयु अमणा—असनी पचेन्द्रिय पर्याप्त निरुवकमाण—निरुपक्रम आयु वाले के छमासा—छह माह अबाह—अवाधाकाल, सेसाण—वाकी के (सख्यात वप की तथा सोपक्रम आयु वाल के) भवतसो—भव का तीसरा भाग।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पूव कोटि वप की आयु और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त चारो आयुओ को पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी आयु बाधते हैं। निरुपक्रम आयु वाले को छह माह का तथा शेप जीवों (सख्यात वप की व सोपक्रम आयु वाले) के भव का तीसरा भाग जितना अवाधाकाल होता है।

विशेषार्थ—मनुष्य और तिर्यंचो की उत्कृष्ट आयु सामान्य से तीन पल्य की बतलाई है, लेकिन विशेष की अपेक्षा उनमे से कुछ तिर्यंच गति के जीवो की उत्कृष्ट आयु तथा आयुकम की स्थिति का अवाधाकाल गाथा मे स्पष्ट किया गया है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय और असनी पर्याप्तक जीवो का अलग से उत्कृष्ट आयु स्थितिवध वतलाने का कारण यह है कि पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थितिवध केवल पर्याप्त सज्ञी जीव ही कर सकते हैं, अत वह स्थिति पर्याप्त सनी जीवो की अपेक्षा मे समझना चाहिए। लेकिन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी उक्त उत्कृष्ट स्थिति मे से कितना

स्थितिबंध करते हैं और अबाधाकाल का नियम क्या है ? को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि 'जादिगलपुव्वकोडि' एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व[1] कोटि प्रमाण बाँधते हैं तथा असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयु कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण—पलियासंखंस आउचउ असणा।

एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयुकर्म के उक्त उत्कृष्ट स्थितिबंध होने का कारण यह कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यंचगति या मनुष्यगति में ही जन्म लेते हैं। वे मर कर देव या नारक नहीं हो सकते हैं तथा तिर्यंच और मनुष्यों में भी कर्मभूमिजों में ही जन्म लेते हैं, भोगभूमिजों में नहीं। जिससे वे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व कोटि प्रमाण बाँधते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मरण करके चारों ही गतियों में उत्पन्न हो सकता है, जिससे वह चारों में से किसी भी आयु का बंध कर सकता है। लेकिन यह नियम है कि मनुष्यों में कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यंचों में कर्मभूमिज तिर्यंच ही होता है, देवों में भवनवासी और व्यंतर ही होता है तथा नारकों में पहले नरक के तीन पाथड़ों तक ही जन्म लेता है। अतः उसके पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्म का बंध होता है।[2]

---

१ पूर्व का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होति सयसहस्साइं।
छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीण।

—सर्वार्थसिद्धि से उद्धृत

—सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है।

२ गो० कर्मकाण्ड गा० ५३८ से ५४३ तक में किस गति के जीव मरण करके

(अगले पृष्ठ पर देखें)

आयुकम के सिवाय शेप सात कर्मों की अबाधा का सकेत पूव मे किया जा चुका है कि एक कोडाकोडी सागर की स्थिति मे सौ वप अबाधाकाल होता है। लेकिन यह अनुपात आयुकम की अबाधा स्थिति पर लागू नही होता है।[1] इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का वध तो सवदा होता रहता है। किन्तु आयुकर्म का वध अमुक अमुक काल मे ही होता है। इसलिए आयुकम के अबाधाकाल का अलग से सकेत किया गया है कि—निरुवकमाण छमासा—निरुपक्रम आयु वाले अर्थात् जिनकी आयु का अपवतन, घात नही होता ऐसे देव, नारक और भागभूमिज मनुष्य, तियचो के आयुकर्म की अबाधा छह मास होती है तथा शेप मनुष्य और तियचा के आयुकम की अबाधा अपनी अपनी आयु के तीसरे भाग प्रमाण है—अवाह सेसाण भवतसो।

गति के अनुसार आयुवध के अमुक अमुक काल निम्न प्रकार है—मनुष्यगति और तिर्यचगति मे जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते है तब परभव की आयुवध का काल उपस्थित होता है।

किस किस गति म जन्म लेते हैं का स्पष्टीकरण किया गया है। तियचा के सम्बन्ध म लिखा है—

तउदुग तेरिच्छे ससेगअपुण्णवियलगा य तहा।
तित्थूणणरेवि तहाऽसण्णी घम्म य देवदुग ॥५४०॥

तजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तियच गति म और मनुष्य गति म ही जन्म लते हैं। किन्तु तीथकर वगरह नही हो सकते हैं तथा असनी पचेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तियच और मनुष्य गति म तथा घर्मा नाम क पहले नरक म और स्वद्धिक यानी भवनवासी और व्यन्तर देवो म उत्पन्न होते हैं।

१ आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स। —गो० कमकांड १५८

इस अन्य कर्मों म स्थिति के प्रतिभाग क अनुसार अबाधा का प्रमाण निकाला जाता है वसा आयुकम म नही निकाला जाता है।

जैसे कि यदि किसी मनुष्य की आयु ९९ वर्ष है तो उसमे से ६६ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बाँध सकता है, उससे पहले उसके आयुकर्म का बंध नहीं हो सकता है। इसलिये मनुष्यो और तिर्यंचो के वध्यमान आयुकर्म का अवाधाकाल एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग बतलाया है, क्योकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है और उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है।

कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचो की अपेक्षा से आयुकर्म को अवाधा की उक्त व्यवस्था है, लेकिन भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंचो तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बाधते है। क्योकि ये अनपवर्त्य आयु वाले है, इनका अकाल मरण नही होता है।[1] इसी से निरुपक्रम आयु वालो के वध्यमान आयु का अवाधाकाल छह मास बतलाया है।

आयुकर्म की अवाधा के संबंध मे एक बात और ध्यान मे रखने योग्य है कि पूर्व मे जो सात कर्मों की स्थिति बतलाई है उसमे उनका अबाधाकाल भी संमिलित है। जैसे कि मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की बतलाई है और उसका अवाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम की स्थिति मे संमिलित हैं। अत. जब मिथ्यात्व मोहनीय की अवाधारहित स्थिति (अनुभवयोग्या) को जानना चाहे तो उसकी अवाधा के सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिए। किन्तु

१ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

—तत्वार्थसूत्र २।५२

—औपपातिक (नारक और देव), चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असख्यात वर्ष जीवी, ये अनपवर्तनीय आयु वाले होते है।

आयुकर्म की स्थिति मे यह बात नही है। आयुकम की तेतीस सागर, तीन पल्य, पल्य का असख्यातवा भाग आदि जो स्थिति वतलाई है, वह शुद्ध स्थिति है, उसमे अवाधाकाल समिलित नही है। इस अन्तर का कारण यह है कि अन्य कर्मो की अवाधा स्थिति के अनुपात पर अवलवित है जिससे वह सुनिश्चित है किन्तु आयुकम की अवाधा सुनिश्चित नही है। क्योकि आयु के त्रिभाग मे भी आयुकर्म का वध अवश्यभावी नही है। त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ विभाग पडते ह। उनमे भी यदि आयु का वध न हो तो मरण से अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य ही आयु का वध हो जाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्म की स्थिति मे उसका अवाधाकाल समिलित नही किया गया है।

परभव संबधी आयुवध के सवध मे सग्रहणी सूत्र मे भी इसी वात को स्पष्ट किया है—

> वधति देवनाराय असखनरतिरि छमाससेसाऊ।
> परभवियाऊ सेसा निरुवक्कमतिभागसेसाऊ॥३०१॥
> सोवक्कमाउया पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे।
> सत्तावीस इमेया अतमुहुत्ततिमेवावि ॥३०२॥

देव, नारक और असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच छह मास की आयु वाकी रहने पर और शेष निरुपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु का त्रिभाग वाकी रहने पर परभव की आयु वाधते हैं। सोपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु के त्रिभाग मे अथवा नौवें भाग मे अथवा सत्ताईसवें भाग म परभव की आयु वाधते ह। यदि इन त्रिभागो मे भी आयु वध नही कर पाते ह तो अन्तिम अन्तमुहूर्त मे

परभव की आयु का बध करते है।'

---

१ गो० कर्मकाड मे भी आयुबध के सबध मे सामान्यतया यही विचार प्रगट किये है किन्तु देव नारक और भोगभूमिजो की छह माह प्रमाण अबाधा को लेकर उसमे मतभेद है कि छह मास मे आयु का बध नही होता किन्तु उसके त्रिभाग मे आयुबध होता है और उस त्रिभाग मे भी यदि आयु न बधे तो छह मास के नौवे भाग मे आयु बध होता है। इसका साराश यह है कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यचो मे अपनी-अपनी पूरी आयु के त्रिभाग मे परभव की आयु का बध होता है, वैसे ही देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यचो के छह माह के त्रिभाग मे आयुबध होता है। दिगम्बर सप्रदाय मे सामान्यत: यही मत मान्य है। भोगभूमिजो को लेकर मतभेद है। किन्ही का मत है कि उनमे नौ मास आयु शेष रहने पर उसके त्रिभाग मे परभव की आयु का बध होता है। इसके सिवाय एक मतभेद यह भी है कि यदि आठो त्रिभागो मे आयु बध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रह जाने पर परभव की आयु नियम से बध जाती है। यह सर्वमान्य मत है किन्तु किन्ही-किन्ही के मत मे अनुभूयमान आयु का काल आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभव की आयु का बध नियम से होता है।

गो० कर्मकाड मे गा० १२८ से १३३ तक कर्मग्रन्थ के समान ही उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध का कथन किया है। लेकिन एक बात उल्लेखनीय है कि उसमे वर्णादि चतुष्क की स्थिति बीसकोडाकोडी सागरोपम की बतलाई है और कर्मग्रथ मे उसके अवान्तर भेदो को लेकर दस कोड़ाकोडी सागरोपम से लेकर बीस कोडाकोडी सागरोपम तक बताई है। इस अन्तर का कारण यह है कि कर्मग्रथ मे पचसग्रह के आधार से वर्ण, गध, रस, स्पर्श के अवान्तर भेदो की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया है। वैसे तो बध की अपेक्षा से वर्णादि चार ही है। स्वोपज्ञ टीका मे ग्रथकार ने स्वय इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतिया की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल को बतलाकर अब आगे उनकी जघन्य स्थिति बतलाते है।

लहुठिइबधो सजलणलोहपणविग्घनाणदसेसु।
भिन्नमुहुत्त ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥

शब्दार्थ—लहुठिइबधो—जघन्य स्थितिबध सजलणलोह—सज्व जन लोभ पणविग्घ—पाच अतराय नाणदसेसु—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का भिन्नमुहुत्त—अतमुहूर्त त—वह, अट्ठ—आठ मुहूर्त, जसुच्चे—यश कीर्ति और उच्च गोत्र का बारस—बारह मुहूर्त, य—और साए—साता वेदनीय का।

गाथार्थ—सज्वलन लोभ, पाच अतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य स्थितिबध अन्तर्मुहूर्त है। यश कीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र का आठ मुहूर्त तथा साता वेदनीय का बारह मुहूर्त जघन्य स्थितिबध है।

विशेषार्थ—पूर्व मे कर्म प्रकृतिया का उत्कृष्ट स्थितिबध बतलाया जा चुका है। इस गाथा से उनके जघन्य स्थितिबध का कथन प्रारभ करते है। इस गाथा मे जिन प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध के प्रमाण का निर्देश किया है, उनमे घाती कर्मो की पन्द्रह और अघाती कर्मो की तीन प्रकृतिया है। विभागानुसार उनके नाम इस प्रकार है—

घाती—मतिज्ञानावरण आदि पाच ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, सज्वलन लोभ, दानान्तराय आदि पाच अन्तराय।

अघाती—यश कीर्ति नामकर्म, उच्चगोत्र, साता वेदनीय।

जघन्यस्थितिबध के सम्बन्ध मे यह सामान्य नियम है कि यह स्थिति बध अपने अपने बंधविच्छेद के समय होता है। अर्थात् जब उन प्रकृतियो का अन्त आता है, तभी उक्त जघन्य स्थितिबध होता है।

संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबंध नौवें गुणस्थान में और पाच अंतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का बंधविच्छेद दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे होता है तथा यश कीर्ति नामकर्म व उच्चगोत्र का भी बंधविच्छेद दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे होता है। तभी उनका जघन्य स्थितिबंध समझना चाहिये। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा नाम, गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण है। साता वेदनीय की जघन्य स्थिति जो बारह मुहूर्त बताई है वह जघन्य स्थिति सकषाय जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि यह पहले बतलाया जा चुका है कि अकषाय जीवो की अपेक्षा से तो उपशान्तमोह आदि गुणस्थानो मे उसकी जघन्य स्थिति दो समय है। साता वेदनीय की बारह मुहूर्त की जघन्य स्थिति दसवे गुणस्थान के अंतिम समय मे होती है।

दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥३६॥

शब्दार्थ—**दोइगमासो**—दो मास और एक मास **पक्खो**—पक्ष (पखवाड़ा), **संजलणतिगे**—संज्वलनत्रिक की **पु**—पुरुषवेद, **अट्ठ**—आठ, **वरिसाणि** वर्ष, **सेसाण**—शेष प्रकृतियो की, **उक्कोसाओ**—अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे, **मिच्छत्तठिईइ**—मिथ्यात्व की स्थिति का भाग देने से, **जं**—जो, **लद्धं**—लब्ध प्राप्त हो।

गाथार्थ—संज्वलनत्रिक की जघन्य स्थिति क्रम से दो मास, एक मास और एक पक्ष है। पुरुष वेद की आठ वर्ष तथा शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति के द्वारा भाग देने पर प्राप्त लब्ध के बराबर है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे चार प्रकृतियो की तो निश्चित जघन्य स्थिति व शेष की जघन्य स्थिति जानने के लिये सूत्र का सकेत किया है।

गाथा मे चार प्रकृतियो के नाम इस प्रकार बताये हैं—सज्वलन क्रोध, सज्वलन मान, सज्वलन माया और पुरुष वेद, इनका जघन्य स्थितिबध क्रमश दो मास, एक मास, एक पक्ष (पन्द्रह दिन) और आठ वर्ष है। यह जघन्य स्थितिबध अपनी अपनी बधव्युच्छित्ति के समय मे होता है और इनका बधविच्छेद नौवे गुणस्थान मे होता है।

शेष प्रकृतिया की जघन्य स्थिति जानने के लिये ग्रन्थकार ने एक नियम बतलाया है कि उन उन प्रकृतिया की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति जो सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है, का भाग देने पर प्राप्त लब्ध उनकी जघन्य स्थिति है। जघन्य स्थिति को बतलाने वाला यह नियम ८५ प्रकृतिया पर लागू होता है। क्योकि तीर्थंकर और आहारकद्विक तथा पूर्व गाथा मे निर्दिष्ट अठारह प्रकृतिया व इस गाथा मे बताई चार प्रकृतिया की जघन्य स्थिति का कथन किया जा चुका है तथा चार आयु व वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का कथन आगे किया जा रहा है। अत बधयोग्य १२० प्रकृतिया मे से ३, १८, ४, ४, ६ = ३५ प्रकृतिया को कम करने पर ८५ प्रकृतिया शेष रहती है। जिनकी जघन्य स्थिति इस प्रकार है—

निद्रापचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति $\frac{3}{7}$ सागर, मिथ्यात्व की एक सागर, अनन्तानुबधी क्रोध आदि बारह कषायो की $\frac{4}{7}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की $\frac{1\frac{1}{2}}{7}$ सागर ($\frac{1}{2}$ के ऊपर नीचे मे अका को ४ से काटने से) सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक $\frac{18}{35}$ ($\frac{18}{35}$ को २ से अश मे काटने से), स्थिर शुभ सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, शुभ विहायोगति, वज्रऋषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान सुगध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की $\frac{1}{7}$ सागर तथा

शेष शुभ और अशुभ वर्णादि चतुष्क की $\frac{३}{७}$ सागर,[1] दूसरे संस्थान और संहनन की $\frac{६}{३५}$ सागर, तीसरे संस्थान और संहनन की $\frac{७}{३५}$ सागर, चौथे संस्थान और संहनन की $\frac{८}{३५}$ सागर, पाचवें संस्थान और संहनन की $\frac{९}{३५}$ सागर और शेष प्रकृतियो की $\frac{२}{७}$ सागर जघन्य स्थिति समझना चाहिये।

इन ८५ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिवंध वादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव ही कर सकते है। इन जघन्य स्थितियो मे पल्य का असंख्यातवा भाग वढा देने पर एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से इन प्रकृतिया के उत्कृष्ट स्थितिवंध का प्रमाण जानना चाहिये।[2]

गाथा के उत्तरार्ध—सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्त ठिईइ जं लद्धं - का उक्त विवेचन पंचसंग्रह के अनुसार किया गया है। लेकिन कर्मप्रकृति ग्रन्थ के अनुसार इसका विवेचन निम्न प्रकार से होगा—

'उक्कोसाओ' का अर्थ उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति न लेकर वर्ग[3] की उत्कृष्ट स्थिति ग्रहण करना चाहिये। जैसे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियो का समुदाय ज्ञानावरण वर्ग कहा जाता है। चक्षुदर्शनावरण आदि प्रकृतियो का समुदाय दर्शनावरण वर्ग है। साता वेदनीय आदि प्रकृतियो का वर्ग वेदनीय वर्ग है। दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृतियो का समुदाय दर्शनमोहनीय वर्ग है। कषाय मोहनीय की प्रकृतियो का समुदाय कषाय मोहनीय वर्ग, नोकषाय मोहनीय

---

१ बंध अवस्था मे वर्णादि चार लिये जाते है, उनके भेद नही, तथा उनकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोड़ी सागरोपम होती है। अत चारो को जघन्य स्थिति सामान्य मे $\frac{३}{७}$ सागर की समझना चाहिये। वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति पंचसंग्रह के अनुसार बताई है।

२ जा एगिंदि जहन्ना पल्लासखस संजुया सा उ।
तेसिं जेट्ठा . . . .। —पंचसंग्रह ५।५४

३ सजातीय प्रकृतियो के समुदाय को वर्ग कहते है।

की प्रकृतियो का समुदाय नोकपाय मोहनीय वर्ग, नामकर्म की प्रकृतियो का समुदाय नामकर्म का वर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियो का समुदाय गोत्रकर्म वर्ग और अन्तरायकर्म की प्रकृतियो का समुदाय अन्तरायकर्म वर्ग कहलायेगा।

इस प्रकार के प्रत्येक वर्ग की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उस वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं और उस स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमे से पल्य का असख्यातवा भाग कम कर देने पर उस वर्ग के अतगत आने वाली प्रकृतियो की जघन्य स्थिति प्राप्त हो जाती है।

ऐसा कथन का कारण यह है कि एक ही वर्ग की विभिन्न प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे बहुत अन्तर देखा जाता है। जैसे कि वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है लेकिन उसके ही भेद सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति उससे आधी अर्थात् पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की बताई। पचसग्रह के विवेचनानुसार साता वेदनीय की जघन्य स्थिति मालूम करने के लिये उसकी उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देना चाहिये और कर्मप्रकृति के अनुसार साता वेदनीय के वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध मे पल्य के असख्यातवें भाग को कम करना चाहिये।[1]

---

1 वग्गुक्कोसठिईण मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध ।
सेसाण तु जहन्ना पल्लासखिज्जभागूणा । —कर्मप्रकृति ७९
अपने अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है उसमे पल्य के असख्यातवें भाग को कम कर देने पर शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

इसके अनुसार दर्शनावरण और वेदनीय वर्ग को उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा-कोडी सागर का भाग देने पर जो ३/७ लब्ध आता है उसमें पल्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर निद्रापंचक और असाता वेदनीय की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। दर्शनमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर प्राप्त लब्ध एक सागर मे पल्य का असंख्यातवा भाग कम करने पर मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति होती है। कषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध के ४/७ सागर मे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम करने पर अनन्तानुवंधी क्रोधादि वारह कषायो की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। नोकषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडा-कोडी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध २/७ सागर मे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम करने पर पुरुष वेद के सिवाय शेष आठ नोकषायो की जघन्य स्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्ग की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोड़ाकोड़ी सागर मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध मे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम कर देने पर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थंकर, यशः-कीर्ति को छोडकर नामकर्म की शेष सत्तावन प्रकृतियो और नीच-गोत्र की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है।

यहा पर जो ८५ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति वतलाई है, उसमे कर्मप्रकृति की विवेचना के अनुरूप पल्य के असंख्यातवे भाग को कम करने का संकेत इस गाथा मे नही किया गया है, लेकिन आगे की गाथा मे 'पलियासंखंसहीण लहुवंधो' पद दिया है। जिसका अर्थ है पल्य के असंख्यातवं भाग को कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव को उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति होती है। अत. कर्मप्रकृति के अनुसार

कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति की विवेचना करने में आगे की गाथा के उक्त पद की अनुवृत्ति कर लेने पर किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं रहती है। क्योंकि यह पहले संकेत कर आये हैं कि जघन्य स्थिति[1] का बंध एकेंद्रिय जीव करते हैं।

कुछ एक प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियों की सामान्य से जघन्य स्थिति बतलाकर अब एकेंद्रिय आदि जीवों के योग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाते हैं।

> अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासंखंससहीण लहुबंधो।
> कमसो पणवीसाए पन्नासयसहस्ससंगुणिओ ॥३७॥
> विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभागूणो।
> सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ॥३८॥

शब्दार्थ—अयं यह (पूर्वोक्त रीति से बनाया गया) उक्कोसो—उत्कृष्ट स्थितिबंध गिंदिसु—एकेंद्रिय का पलियासंख-सहीण—पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन लहुबंधो—जघन्यस्थिति बंध कमसो—अनुक्रम से, पणवीसाए—पच्चीस से पन्ना—पचास से सय—सौ से सहस हजार से संगुणिओ गुणा करने पर।

विगलिअसन्निसु—विकलेंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय का जिट्ठो—उत्कृष्ट स्थितिबंध कणिट्ठउ—जघन्य स्थितिबंध पल्ल-संखभागूणो—पल्योपम के संख्यातवें भाग को कम करने से सुर नरयाउ - देवायु और नरकायु की समा वर्ष दससहस्सा—दस हजार सेसाउ - बाकी की आयु की खुड्डभवं—क्षुद्रभव।

गाथार्थ एकेंद्रिय जीवों के पूर्वोक्त स्थितिबंध उत्कृष्ट और जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम समझना

---

1 जघन्य स्थितिबंध के संबंध में विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

चाहिए तथा अनुक्रम से पच्चीस, पचास, सौ, हजार से गुणा करने पर –

विकलेन्द्रियो और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है तथा जघन्य स्थितिबंध पल्योपम का संख्यातवा भाग न्यून है। देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा शेष आयुओ की क्षुद्रभव प्रमाण है।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथाओ मे उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्य से बतलाई है। लेकिन इन दो गाथाओ मे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा उत्तर प्रकृतियो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाने के साथ-साथ आयुकर्म के चारो भेदो की जघन्य स्थिति भी बतलाई है।

पूर्व गाथा मे शेष ८५ प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध को बतलाने के लिये उन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति या उनके वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने का जो विधान किया गया है, उसी को एकेन्द्रिय जीवो के उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध को निकालने के लिये भी काम मे लाया जाता है। तदनुसार विवक्षित प्रकृतियो की पूर्व मे बताई गई उत्कृष्ट स्थितियो मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जितना लब्ध आता है, उतना ही एकेन्द्रिय जीव के उस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जैसे कि पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पॉच अंतराय और असातावेदनीय, इन बीस प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है तो इसको मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध $\frac{3}{7}$ सागर प्रमाण का उत्कृष्ट स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव का होगा। कर्मप्रकृति के मंतव्यानुसार इनके वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोहनीय

की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध के बराबर समझना चाहिए। जैसे कि पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाच अतराय के वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। उसमे मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध ३/७ एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबध का प्रमाण होगा। इस प्रकार से दोनो की कथन शैली मे भिन्नता होने पर भी मूल आशय समान है।

इसी क्रम से अन्य प्रकृतियो की स्थिति निकालने पर मिथ्यात्व की एक सागर, सोलह कषायों की ४/७ सागर, नो नोकषायो की २/७ सागर, वैक्रियषट्क[1], आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम को छोडकर एकेन्द्रिय

---

१ एकेन्द्रियादिक जीवो के वैक्रियषट्क का बध नही होने से उसकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति नही बतलाई है किन्तु असज्ञी पचेन्द्रिय को उसका बध होता है। अत उसकी अपेक्षा पचसग्रह मे वैक्रियषट्क की निम्न प्रकार से जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

वेउव्विछक्कि त सहसताडिय ज असन्निणो तेसि ।
पलियासखसूण ठिई अबाहूणियनिसेगो ॥

—पचसग्रह ५/४६

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो लब्ध आये उसको हजार से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल मे से पल्योपम का असख्यातवा भाग न्यून वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है। अबाधाकाल न्यून निषेक काल है।

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि नरकद्विक, वैक्रियद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम बतलाई है तथापि यहाँ उसकी जघन्य स्थिति निकालने के लिए बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण लिया गया है। यह स्पष्टीकरण टीका मे किया गया है।

के वंध योग्य नामकर्म की ५८ प्रकृतियो और दोनो गोत्रो की ३/७ सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आती है।

एकेन्द्रिय के इस उत्कृष्ट स्थितिवध मे से पल्य का असंख्यातवा भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के जघन्य स्थितिवंध का प्रमाण होगा पलियासखंसहीण लहुवधो। अर्थात् जो विभिन्न प्रकृतियो की ३/७ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितिया वतलाई है, उनमे से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के लिए वहाँ उस प्रकृति की जघन्य स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय की अपेक्षा से स्थितिवंध का परिमाण वतलाने के पश्चात अव विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो के लिये उसका परिमाण वतलाते है।

एकेन्द्रिय जीव के जो ३/७ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितिवंध वतलाया है, उसको पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रिय का, पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो का उत्कृष्ट स्थितिवंध का परिमाण होता है। इसका अर्थ यह है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों का स्थितिवंध एकेन्द्रिय जीव के स्थितिवंध की अपेक्षा पच्चीस, पचास गुणा आदि अधिक है। जैसे एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर है तो द्वीन्द्रिय जीव के उसकी उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर वंधती है। अन्य प्रकृतियो के लिये भी इसी अपेक्षा को समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय के लिए जानना चाहिये कि एकेन्द्रिय जीव की मिथ्यात्व को उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है तो उससे पचास गुणी यानी पचास सागर प्रमाण वंधती है। अन्य प्रकृतियो के स्थितिवंध के वारे मे भी इसी नियय का उपयोग करना चाहिए। चतुरिन्द्रिय जीव के लिए एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति मे सौ का

गुणा तथा असज्ञी पचेन्द्रिय के लिय हजार का गुणा करना चाहिए। इसका जो गुणनफल प्राप्त हो वह उन उन जीवो की उस उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति होगी।

द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय पयन्त जो उनका उत्कृष्ट स्थितिबध बतलाया है, उसमे से पल्य का सख्यातवा भाग कम कर देने पर उनका अपना अपना जघन्य स्थितिबध होता है।[1] इस प्रकार एकेद्रिय से लेकर असज्ञी पचेद्रिय पयन्त जीवा के स्थितिबध का प्रमाण समझना चाहिय।

---

१ कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाड मे भी एकेन्द्रिय आदि जीवा के स्थिति-बध का प्रमाण बतलाया है। उसका कथन प्रणाली इस प्रकार है—

एय पणकदि पण्ण सय सहस्स च मिच्छवरबधो ।
इगविगलाण अवर पल्लासखूणसखूण ॥१४४॥

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय चतुष्क (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असज्ञी पचेन्द्रिय) जीवा के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबध क्रमश एक सागर पच्चीस सागर पचास सागर सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण है तथा उसका जघन्य स्थितिबध एकेन्द्रिय के पल्य के असख्यातवें भागहीन एक सागर प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय जीवा के पल्य के सख्यातवें भाग हीन अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण होता है।

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्त कि होदि तीसियादीण ।
इदि सपाते सेसाण इगिविगलेसु उभयठिदी ॥१४५॥

यदि सत्तर कोडाकोडी सागर की स्थिति वाला मिथ्यात्व कर्म एकेन्द्रिय जीव एक सागर प्रमाण बाधता है तो तीस कोडाकोडी सागर आदि की स्थिति वाले बाकी कर्मों को एकेन्द्रिय जीव कितनी स्थिति प्रमाण बाध सकता है? इस प्रकार त्रैराशिक विधि करने से एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति ३ सागर प्रमाण होगी है इस प्रकार दोनों स्थितिया त्रैराशिक के द्वारा निकल आता है।

आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध इस प्रकार समझना चाहिये कि 'सुरनरयाउ समादससहस्स' देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है तथा देवायु व नरकायु के सिवाय शेष दो आयुओं—तिर्यंचायु, मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है। आगमों मे जो मनुष्यायु और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है, उसका यहाँ बतलाये गये क्षुद्रभव प्रमाण से कोई विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त के बहुत से भेद है, उनमे से यहा क्षुद्रभव प्रमाण अन्तर्मुहूर्त लेना चाहिये। अन्तर्मुहूर्त न लिखकर उसके ठीक-ठीक परिमाण का सूचक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभव का निरूपण आगे किया जा रहा है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध का कथन करके अब जघन्य अबाधा तथा तीर्थंकर व आहारकद्विक के जघन्य स्थितिबंध संबंधी मतान्तर को बतलाते है।

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अबाह आउजिट्ठे वि।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू विंति आहारं ॥३६॥

शब्दार्थ—**सव्वाण**—सब प्रकृतियो की, **वि**—तथा, **लहुबंधे**—जघन्य स्थितिबंध की, **भिन्नमुहू**—अन्तर्मुहूर्त, **अबाह** अबाधाकाल, **आउजिट्ठे वि**—आयु के उत्कृष्ट स्थितिबंध की भी, **केइ**—कुछ एक, **सुराउसम** देवायु के समान, **जिणं**—तीर्थंकर नामकर्म की, **अंतमुहु**—अन्तर्मुहूर्त, **विंति**—कहते हैं, **आहारं** आहारकद्विक की।

गाथार्थ—समस्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध की अन्तर्मुहूर्त की अबाधा होती है। आयुकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध की जघन्य अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। किन्ही

आचार्यों के मत से तीर्थंकर नामकम की जघन्य स्थिति देवायु की जघन्य स्थिति के समान दस हजार वर्ष की है और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

विशेवार्थ—गाथा मे दो बातो का कथन किया गया है। गाथा के पूर्वार्ध मे सभी उत्तर प्रकृतियो का जघन्य अबाधाकाल और उत्तरार्ध मे तीर्थकर व आहारकद्विक की जघन्य स्थिति का मतान्तर बतलाया है।

जघन्य स्थितिबध मे जो अबाधाकाल होता है, उसे जघन्य अबाधा और उत्कृष्ट स्थितिबध मे जो अबाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं। अत जघन्य स्थितिबध मे सभी उत्तर प्रकृति के जघन्य स्थितिबध का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाया है—"सव्वाणवि लहुबधे भिन्नमुहू अबाह।" लेकिन यह नियम आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों के अबाधाकाल को बतलाने के लिए लागू होता है। क्योकि उनकी अबाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है। लेकिन आयुकर्म के बारे मे प्रतिभाग की निश्चित निर्णयात्मक स्थिति नही है। आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। इसीलिये आयुकर्म की अबाधा मे चार विकल्प माने जाते हैं—(१) उत्कृष्ट स्थितिबध मे उत्कृष्ट अबाधा, (२) उत्कृष्ट स्थितिबध मे जघन्य अबाधा, (३) जघन्य स्थितिबध मे उत्कृष्ट अबाधा और (४) जघन्य स्थितिबध मे जघन्य अबाधा। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है कि जब कोई मनुष्य अपनी पूर्व कोटि की आयु मे तीसरा भाग शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बाधता है तब उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बाधता

है तव उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अवाधा होती है। जव कोई मनुष्य एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग शेप रहते परभव की जघन्य स्थिति वांधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हो सकती है, तव जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट अवाधा होती है और जव कोई अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेप रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वांधता है तव जघन्य स्थिति मे जघन्य अवाधा होती है। अतः आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अवाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अवाधा हो सकती है। विशेप स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे किया गया है।

इस प्रकार से कर्मों की स्थिति की अवाधा का स्पष्टीकरण समझना चाहिये। अव दूसरी वात तीर्थंकर नामकर्म व आहारकद्विक की जघन्य स्थितिवंध के मतान्तर पर विचार करते है।

ग्रन्थकार ने पूर्व मे तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो को जघन्य स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम वतलाई है। लेकिन कोई-कोई आचार्य इन तीनो की जघन्य स्थिति वतलाते है—

सुरनारयाउयाणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं ।[1]

तीर्थंकर नामकर्म सहित देवायु, नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। यानी तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। तथा—

साए वारस हारगविग्घावरणाण किंचूण ।[2]

साता वेदनीय की वारह मुहूर्त और आहारक, अंतराय, ज्ञानावरण व दर्शनावरण को कुछ कम मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है।

---

१. पचसग्रह ५।४६ २. पचसग्रह ५।४७

एक मुहूर्त मे पैसठ हजार पाच सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते है और एक क्षुद्रभव मे दो सौ छप्पन आवली होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे क्षुद्र (क्षुल्लक) भव का स्वरूप बतलाया है। सम्पूर्ण भवो मे सब से छोटे भव को क्षुल्लक भव कहते है। यह भव निगोदिया जीव के होता है। क्योकि निगोदिया जीव की स्थिति सब भवो की अपेक्षा अल्प होती है और वह भव मनुष्य व तिर्यंच पर्याय मे ही होता है। जिससे मनुष्य और तिर्यंच आयु की जघन्य स्थिति क्षुल्लक भव प्रमाण बतलाई है। क्षुल्लक भव का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए कि—

जैन कालगणना के अनुसार असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्‌वास-निश्वास होता है। एक निरोग, स्वस्थ, निश्चिन्त, तरुण पुरुष के एकबार श्वास लेने और त्यागने के काल को एक उच्छ्‌वास काल या श्वासोच्छ्‌वास काल कहते है। सात श्वासोच्छ्‌वास काल का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव तथा साढे अड़तीस लव की एक नाली या घटिका होती है। दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[1]

---

१ कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समय तु।
समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवावि य सत्त लवमाहु ॥
अट्ठतीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।

—ज्योतिष्करण्डक ८, ९, १०

काल के अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अश को समय कहते है। असंख्यात समय का एक उच्छ्‌वास-निश्वास होता है, इसे प्राण भी कहते है। सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, साढे अड़तीस लव की एक नाली होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है—वे नालिया मुहुत्तो।

इमीलिये एक मुहूत मे श्वासोच्छ्वासा की सख्या मालूम करने के लिए १ मुहूत × २ घटिका × ३७½ लव ७ स्तोक × ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करने पर ३७७३ सख्या आती है तथा एक मुहूत म एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है, जिसमे ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर १७[illegible] लब्ध आता है, अत एक श्वासोच्छ्वास काल मे सत्रह स कुछ अधिक क्षुद्र भवो का प्रमाण जानना चाहिये।[1] अथात् एक क्षुल्लक भव का काल एक उच्छ्वास निश्वास काल के कुछ अधिक सत्रहवें भाग प्रमाण होता है और उतने ही समय मे दो सौ छप्पन आवली होती हैं।

आधुनिक कालगणना के अनुसार क्षुल्लक भव के समय का प्रमाण इस प्रकार निकाला जायेगा कि एक मुहूत मे अडतालीस मिनट होते ह

---

१ दिगम्बर साहित्य म एक श्वासोच्छ्वास काल म १८ क्षुल्लक भव मान हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अतोमुहुत्तकाल तावदिया चव खुद्दभवा ॥ —गो० जीवकाड १२३

लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तमुहूत म ६६३३६ बार मरण कर उतन ही भवो—जन्मो को भी धारण करता है, अत एक अन्तमुहूत म उतन हो अथात् ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं। इन भवो को क्षुद्रभव इसलिए कहते हैं कि इनसे अल्पस्थिति वाला अन्य कोई भी भव नहीं पाया जाता है। इन भवो म से प्रत्येक का कालप्रमाण श्वास का अठारहवा भाग है। कलन करानिक के अनुसार ६६३३६ भवो के श्वासो का प्रमाण ३६८५⅓ होता है। इतने उच्छ्वासो के समूह प्रमाण अन्तमुहूत म पृथ्वीकायिक से लेकर पचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के क्षुद्र भव ६६३३६ हो जाते हैं। ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूत होता है तथा इन ६६३३६ भवो म से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६० चतुरिन्द्रिय के ४०, पचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं।

यानी एक मुहूर्त ४८ मिनट के बराबर होता है और एक मुहूर्त मे ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते है। अत. ३७७३ मे ४८ से भाग देने पर एक मिनट मे साढे अठहत्तर के लगभग श्वासोच्छ्वास आते है, अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास का काल एक सेकिण्ड से भी कम होता है और उतने काल मे निगोदिया जीव सत्रह से भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे क्षुल्लक भव की क्षुद्रता का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

क्षुल्लक भव की इसी सूक्ष्मता को गाथा मे स्पष्ट किया गया है कि क्षुल्लक भव का समय एक श्वासोच्छ्वास के सत्रह से भी कुछ अधिक अंशो मे से एक अंश है।

इस प्रकार से वैक्रियपट्क के सिवाय शेष प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध और सभी प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबंध का निरूपण करके अव आगे उनके उत्कृष्ट स्थितिवंध के स्वामियो को वतलाते है।

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बधइ जिट्ठठिई सेसपयडीण ॥४२॥

शब्दार्थ—**अविरयसम्मो** अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, **तित्थ**—तीर्थंकर नामकर्म को, **आहारदुग**—आहारकद्विक, **अमराउ**—देवायु को, **य**—और **पमत्तो**—प्रमत्तविरति, **मिच्छदिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **बधइ**—बाधता है, **जिट्ठठिई**—उत्कृष्ट स्थिति, **सेसपयडीणं**—शेप प्रकृतियो की।

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म के, प्रमत्तविरति आहारकद्विक और देवायु के और मिथ्यादृष्टि शेप प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध को करता है।

विशेषार्थ—गाथा में उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों का कथन किया गया है कि बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से किस प्रकृति का बंध उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है।

सर्वप्रथम तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी का संकेत करते हुए कहा है कि—'अविरयसम्मो तित्थं' अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी मनुष्य है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बंध चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश में ही बंधती है और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के बंधकों में से उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के होता है जो अविरत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व ग्रहण करने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बंध कर लेता है और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है, वह मनुष्य जब नरक में जाने का समय आता है तो सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व को अंगीकार करता है। जिस समय में वह सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व को अंगीकार करता है, उससे पहले समय में उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है।

देवगति और नरकगति में तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो होता है किन्तु वहाँ तीर्थंकर प्रकृति का बंधक चौथा गुणस्थानवर्ती नारक मिथ्यात्व के अभिमुख नहीं होता है। अतः ऐसा हुए बिना तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी उत्कृष्ट संक्लेश नहीं माना। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए

मनुष्य का ग्रहण किया तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से पहले जो मनुष्य नरकायु का बंध नही करता है वह तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के वाद नरक मे उत्पन्न नही होता है। अत वैसे मनुष्य का ग्रहण किया गया जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से पहले नरकायु वाध लेता है। कोई-कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव (राजा श्रेणिक जैसे) सम्यक्त्व दशा मे मरकर नरक मे जा सकते है किन्तु विशुद्ध परिणामो के कारण वे जीव तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिवंध नही कर सकते है। अत तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिवंध के प्रकरण मे मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ही ग्रहण किया है।

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिवंध के संवन्ध मे उक्त कथन का साराश यह है कि यद्यपि चौथे से लेकर आठवे गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का वंध हो सकता है किन्तु उत्कृष्ट स्थितिवंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश की आवश्यकता है और तीर्थंकर प्रकृति के वधक मनुष्य को उत्कृष्ट संक्लेश उसी दशा मे हो सकता है जव वह मिथ्यात्व के अभिमुख हो और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्व के अभिमुख तभी होता है जव उसने तीर्थंकर प्रकृति का वंध करने के पहले नरकायु का वंध कर लिया है। वद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य जव मिथ्यात्व के अभिमुख होता है, उसी समय मे उसके तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिवंध होता है। क्षायिक सम्यक्त्व सहित जो नरक मे जाता है वह उससे विशुद्धतर है अतः उसका यहा ग्रहण नही किया गया है।[1]

---

१ तथा चोक्त शतकचूर्णौ—'तित्थयरनामस्स उक्कोसठिइ मणुस्सो असंजओ वेयगसम्मद्दिट्ठी पुव्व नरगवद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्तं पडिवज्जिही इति अतिमे ठिईवन्धे वट्टमाणो वधइ, तब्वधगेसु अइसकिलिट्ठो त्ति काउ। जो सम्मत्तेण खाइगेण नरग वच्चई सो तओ विसुद्धपरोत्ति का उ तम्मि उक्कोसो न हवइ त्ति।' —पचसग्रह प्र० भाग, मलयगिरि टीका

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिवध के स्वामी का कथन करने के वाद अब आहारकद्विक और देवायु के वधस्वामी के वारे मे कहते ह कि—'आहारदुगामराउ य पमत्तो'—आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिवध का स्वामी प्रमत्तसयत मुनि है। यहा प्रमत्तसयत शब्द द्व्यर्थक है। आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अगोपाग के उत्कृष्ट स्थितिवध के प्रसग मे इसका अर्थ यह है कि अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत हुआ प्रमत्तसयत मुनि। क्योंकि इन दोनों प्रकृतिया के उत्कृष्ट स्थितिवध के लिए उत्कृष्ट सक्लेश होना आवश्यक है और उनके वधक प्रमत्त मुनि के उसी समय उत्कृष्ट सक्लेश होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत होकर छठे गुणस्थान मे आता है। अत उसके ही इन दो प्रकृतिया का उत्कृष्ट स्थितिवध जानना चाहिये।[1]

देवायु के उत्कृष्ट स्थितिवध के लिये आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिवध से विपरीत स्थिति है। आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिवध के लिये उत्कृष्ट सक्लेश की आवश्यकता है। यह उत्कृष्ट सक्लेश प्रमत्त मुनि के उसी समय होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत

---

१ (क) तथा आहारकद्विक' आहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण पमत्त' त्ति प्रमत्तसयतो अप्रमत्तभावान्निवर्तमान इति विशेषो दृश्य उत्कृष्ट स्थितिं वध्नाति। अशुभा हीय स्थितिरित्युत्कृष्टसक्लेशेनवोत्कृष्टा वध्यते, तस्य वधकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्तमान एवोत्कृष्ट सक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थ विशिष्यते। —कर्मग्रन्थ टीका

(ख) आहारकद्विकस्याप्रमत्तयति प्रमत्ताभिमुख।

—कर्मप्रकृति यशोविजयजी कृत टीका

(ग) आहारकद्विकस्यापि योऽप्रमत्तयत प्रमत्तभावाभिमुख स तद्वधकेषु सर्वसक्लिष्ट इत्युत्कृष्ट स्थितिवध करोति।

—पचसग्रह ५।६४ की टीका

होकर छठे प्रमत्त गुणस्थान में आता है। लेकिन देवायु का उत्कृष्ट स्थिति-बंध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है। क्योंकि यह स्थिति शुभ है।[1] अतः उसका बंध विशुद्ध दशा में ही होता है और यह विशुद्ध दशा अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि के ही होती है।

आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध होने के उक्त कथनों का सारांश यह है कि आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख हुए अप्रमत्तसंयत को होता है। उसके बंधयोग्य अति संक्लिष्ट परिणाम उसी समय होते हैं तथा देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी भी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती है किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रमत्त गुणस्थान में आयुबंध को प्रारंभ करके अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का आरोहण कर रहा हो। यानी आहारकद्विक का बंध सातवें गुण-स्थान से छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने वाले अप्रमत्तसंयत मुनि को और देवायु का बंध छठे गुणस्थान में प्रारम्भ करके सातवें गुणस्थान की ओर आरोहण करने वाले मुनि को होता है।[2]

---

१ सव्वाण ठिइ असुभा उक्कोसुक्कोससंकिलेसेण।
इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं।

—पंचसंग्रह ५। ५

२ (क) आहारकशरीर तथा आहारकअंगोपांग, ए वे प्रकृतिनो उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमत्तगुणठाणाने सन्मुख थयेलो एवो अप्रमत्त यति ते अप्रमत्त गुणठाणाने चरमबंधे बांधे। एना बंधक माहे एहिज अति संक्लिष्ट छे। तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिबंधस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधु जाणवो। पण एटलुं विशेष जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबंध आरंभीने अप्रमत्ते चढतो साधु बांधे।

—पंचम कर्मग्रन्थ टबा

(अगले पृष्ठ पर देखें)

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशुद्ध भावों से होने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रमत्त गुणस्थान की बजाय अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाना चाहिए था। क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि से, भले ही वह अप्रमत्त भाव के अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनि के भाव विशुद्ध होते हैं।

इसका समाधान यह है कि अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ नहीं होता है किन्तु प्रमत्त गुणस्थान में प्रारम्भ हुआ देवायु का बंध कभी-कभी अप्रमत्त गुणस्थान में पूर्ण होता है। इसीलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती किन्तु अप्रमत्त संयत गुणस्थान की ओर अभिमुख मुनि को देवायु का बंधक कहा है। द्वितीय कर्मग्रन्थ में छठे, सातवें गुणस्थान में जो बंध प्रकृतियों की संख्या बतलाई है, उसमें भी यही आशय निकलता है। छठे, सातवें गुणस्थान में बंध प्रकृतियों की संख्या बतलाने वाली द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथायें इस प्रकार हैं—

तेवट्ठि पमत्त सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्साय ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व नेइ सुराउ जया निट्ठ ॥७॥
गुणसट्ठि अप्पमत्त सुराउबंध तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना ज आहारगदुग बंध ॥८॥

(ग) देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥
—गो० कर्मकांड १३

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त यति करता है और आहारकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमत्त भाव के अभिमुख अप्रमत्त यति करता है।

(घ) कर्मप्रकृति स्थितिबंध गाथा ७० [illegible] में भी इसी प्रकार का कथन है।

—शेष ६३ प्रकृतियों का बंध प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है। शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयश कीर्ति और असाता वेदनीय –इन छह प्रकृतियों का बंधविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से और आहारकद्विक का बंध होने से अप्रमत्त संयत गुणस्थान मे ५६ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान मे पूरा कर लेता है तो उसकी अपेक्षा अरति आदि छह प्रकृतियो का तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का बंधविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का बंध माना जाता है।

प्रमत्त मुनि जो देवायु के बंध का प्रारम्भ करते है, उनकी दो अवस्थाये होती है १—उसी गुणस्थान मे देवायु के बंध का प्रारम्भ करके उसी गुणस्थान मे उसकी समाप्ति कर देते है, २—छठे गुणस्थान मे देवायु के बंध का प्रारम्भ करके सातवें गुणस्थान मे उसकी पूर्ति करते है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि अप्रमत्त अवस्था मे देवायु के बंध की समाप्ति तो हो सकती है, किन्तु उसका प्रारम्भ नही होता है। इसलिये देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि न होकर अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयमी को बतलाया है।[1]

आहारकद्विक, तीर्थंकर और देवायु के सिवाय शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि ही करता है[2]—मिच्छद्दिट्ठी

---

१ सर्वार्थसिद्धि मे भी देवायु के बंध का प्रारंभ छठे गुणस्थान मे बतलाया है—

देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्न ।

२ सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ।
आहार तित्थयर देवाउं वा विमोत्तूण ॥

—गो० कर्मकांड १३५

बधइ जिट्ठठिई सेसपयडीण । इन शेप ११६ प्रकृतियो का वधक मिथ्या दृष्टि को मानने का कारण यह है कि उत्कृष्ट स्थितिवध प्राय सक्लेश परिणामो मे ही होता है तथा जघन्य स्थितिवध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामो से[1] और सव बधको मे मिथ्यादृष्टि के ही विशेष सक्लेश पाया जाता है। किन्तु यहा इतना विशेष जानना चाहिए कि इन ११६ प्रकृतियो मे से मनुष्यायु और तियचायु का उत्कृष्ट स्थिति वध विशुद्धि से होता है अत इन दोना का वधक सक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

प्रश्न—मनुष्यायु का वध चौथे गुणस्थान तक और तियचायु का वध दूसरे गुणस्थान तक होता है। अत मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थिति वध अविरत सम्यग्दृष्टि को और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिवध सासादन सम्यग्दृष्टि को होना चाहिए, क्योकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के परिणाम विशेष शुद्ध होते है और तियचायु व मनुष्यायु के उत्कृष्ट स्थितिवध के लिये विशुद्ध परिणामो की आवश्यकता है।

उत्तर—अविरत सम्यग्दृष्टि के परिणाम मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा विशुद्ध होते है, किन्तु उनसे मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिवध नही हो सकता है। क्योकि मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है। यह उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिज मनुष्यो और तियचो की होती है। लेकिन चौथे गुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायु का वध करके भी कर्मभूमि मे ही जन्म लेते है और मनुष्य

---

१ सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाण तु ॥

—गो० कर्मकांड १३४

तथा तिर्यंच यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायु का बंध करते हैं। जिससे चौथे गुणस्थान की विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायु के बंध का कारण नहीं हो सकती है।

अब दूसरे सासादन गुणस्थान में तिर्यंचायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के बारे में विचार करते हैं। दूसरा सासादन गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व के अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्व गुण के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व गुण से विमुख सासादन सम्यग्दृष्टि में अधिक विशुद्धि नहीं होती है, जिससे तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध सासादन सम्यग्दृष्टि को नहीं हो सकता है।

इस प्रकार से तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का तथा मिथ्यादृष्टि को शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने का सामान्य से स्पष्टीकरण करने के बाद अब आगे की गाथा में चार गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव किन-किन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं, यह विस्तार से बतलाते हैं।

विगलसुहुमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग।
एगिंदिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥४३॥

शब्दार्थ—विगलसुहुमाउगतिग—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और आयुत्रिक, तिरिमणुया—तिर्यंच और मनुष्य, सुरविउव्विनिरयदुग—देवद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक को, एगिंदिथावरायव—एकेन्द्रिय स्थावर और आतप नामकर्म, आईसाणा—ईशान तक के, सुर—देव, उक्कोस—उत्कृष्ट स्थितिबंध।

गाथार्थ—मिथ्यात्वी तिर्यंच और मनुष्य विकलेन्द्रियत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, आयुत्रिक तथा देवद्विक, वैक्रियद्विक और नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हैं। ईशान देवलोक

तक के देव एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबध करते ह ।

विशेषार्थ—इस गाथा मे पन्द्रह प्रकृतिया का उत्कृष्ट स्थितिबध मिथ्यात्वी तिर्यचो और मनुष्या का तथा तीन प्रकृतिया का उत्कृष्ट स्थितिबध भवनवासी, व्यतर, ज्योतिष्क और साधम, ईशान स्वग के देवा को बतलाया है।

तिर्यंच और मनुष्या द्वारा उत्कृष्ट स्थिति का बध की जाने वाली पन्द्रह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार ह—

विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), आयुत्रिक (नरकायु तियचायु मनुष्यायु), देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय अगोपाग), नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी) ।

उक्त पन्द्रह प्रकृतियो मे से तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियो का बध देवगति और नरकगति मे जन्म से ही नही होता है तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट स्थिति जो तीन पल्य की है, वह भोगभूमिजो की होती है और नारक, देव मरकर भोगभूमिजा म जन्म ले नही सकते ह । इसीलिये इन पन्द्रह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध मनुष्य और तियचो को बतलाया है ।

ईशान स्वग तक के देवा द्वारा निम्नलिखित तीन प्रकृतिया का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप नामकम । क्योकि ईशान स्वग म ऊपर के देव तो एकेन्द्रिय जाति मे जन्म ही नही लेत ह । जिससे एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतिया का बंध उनके नही होता है । मनुष्या और तियचा के यदि इस प्रकार के सक्लिष्ट परिणाम हो तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतिया का बध करते ह, जिससे उनके एकेन्द्रिय जाति आदि तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट

स्थितिबंध नहीं हो सकता है। किन्तु भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। क्योंकि देव मरकर नरक में जन्म नहीं लेते हैं।

इसीलिये विकलत्रिक आदि पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मनुष्य और तिर्यंच गति में तथा एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के बतलाया है। इन अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष ८८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों तथा सभी बंधयोग्य १२० प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का कथन आगे किया जा रहा है।

तिरिउरलदुगुज्जोयं छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहुं ॥४४॥
सायजसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नीवि आउ बायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥४५॥

शब्दार्थ—तिरिउरलदुग—तिर्यंचद्विक और औदारिकद्विक, उज्जोयं—उद्योत नामकर्म, छिवट्ठ—सेवार्तसंहनन, सुरनिरय—देव और नारक, सेस—बाकी की, चउगइया—चारों गति के मिथ्यादृष्टि, आहारजिण आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म को, अपुव्वो—अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती, अनियट्टि—अनिवृत्तिबादर संपराय वाला संजलण पुरिस – संज्वलन कषाय और पुरुष वेद का, लहुं—जघन्य स्थितिबंध।

सायजसुच्च—साता वेदनीय, यशःकीर्ति नामकर्म, उच्च गोत्र, आवरणा विग्घं ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार और अंतराय पांच, सुहुमो सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, विउव्विछ—वैक्रियषट्क, असन्नी - असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, सन्नी—संज्ञी, वि –

मी, आउ—चार आयु का, बायरपज्जेगिंदि—बादर पर्याप्त एके न्द्रिय, उ—और, सेसाण—शेष प्रकृतियो को।

गाथार्थ—तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, उद्योत नाम, सेवार्त सहनन का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्वी देव और नारक और बाकी की ८२ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारो गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य स्थिति बंध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान मे तथा सज्वलन कषाय और पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबंध अनिवृत्तिबादर नामक नौवें गुणस्थान मे होता है।

साता वेदनीय, यश कीर्ति, उच्च गोत्र, पाच ज्ञाना वरण, चार दर्शनावरण, पाच अतराय इन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के अंत मे होता है। वैक्रियषट्क का जघन्य स्थितिबंध असज्ञी पचेन्द्रिय तियच करता है, चार आयुओ का जघन्य स्थितिबंध सज्ञी और असज्ञी दोनो ही करते है तथा शेष प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव करता है।

विशेषार्थ—गाथा ४४ के पूर्वार्ध मे प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थिति बंध के स्वामियो का तथा उत्तरार्ध और गाथा ४५ मे जघन्य स्थिति बंध के स्वामियो का कथन किया गया है।

पूर्व गाथा मे १८ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियो को बतलाया था और अब शेष रही ८८ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियो को बतलाते हुए कहते हैं कि तियचद्विक (तिर्यंचगति, तियचानुपूर्वी), औदारिकद्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग), उद्योत नाम और सेवार्त सहनन, इन छह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थिति बंध देव और नारक करते हैं।

देव और नारको के उक्त छह प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध होने का कारण यह है कि उक्त प्रकृतियो के बंधयोग्य संक्लिष्ट परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यंच इन छह प्रकृतियो को अधिक-से-अधिक अठारह सागर प्रमाण ही स्थिति का बंध करते है। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते है तो इन प्रकृतियो के बंध का अतिक्रमण करके वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का बंध करते है। किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट संक्लेश परिणामो के होने पर भी तिर्यंचगति के योग्य ही प्रकृतियो का बंध करते है, नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध नही कर सकते है। क्योकि देव और नारक मरकर नरक मे उत्पन्न नही होते है। इसीलिए उत्कृष्ट संक्लेश परिणामो से युक्त देव और नारक ही इन छह प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण का बंध करते है।

उक्त छह प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रसंग मे इतना विशेष समझना चाहिये कि ईशान स्वर्ग से ऊपर के सनत्कुमार आदि स्वर्गों के देव ही सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपाग का उत्कृष्ट स्थितिबध करते है, ईशान स्वर्ग के देव नही करते है। क्योकि ईशान स्वर्ग तक के देव उनके योग्य संक्लेश परिणामो के होने पर भी दोनो प्रकृतियो की अधिक से अधिक अठारह सागर प्रमाण मध्यम स्थिति का बंध करते है और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते है तो एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियो का बंध करते है। सनत्कुमार आदि के देव उत्कृष्ट संक्लेश होने पर भी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के योग्य प्रकृतियो का बंध करते है, एकेन्द्रिय मे उनका जन्म नही होने से एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियो का बंध नही करते है। अत सेवार्त सहनन और औदारिक अंगोपाग इन दो प्रकृतियो की बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले सनत्कुमार आदि स्वर्गो

के देव ही बंध करते हैं, नीचे के देव नही करते है। क्योंकि एकेंद्रिय के सहनन और अंगोपाग नही होने से ये दो प्रकृतिया एकेंद्रिय योग्य नहीं है।

साराश यह है कि एक सरीखे परिणाम होने पर भी गति आदि के भेद से उनमे भेद हो जाता है। जैसे कि ईशान स्वर्ग तक के देव जिन परिणामो से एकेंद्रिय के योग्य प्रकृतियो का बंध करते हैं, वैसे ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यंच नरकगति के योग्य प्रकृतियो का बंध करते है।

इस प्रकार से मिथ्यादृष्टि के बंधन योग्य ११६ प्रकृतियो मे से पूर्वोक्त विकलत्रिक आदि सेवार्त सहनन पर्यन्त २४ प्रकृतियो के सिवाय शेष ९२ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारो गतियो के मिथ्या दृष्टि जीव करते है—सेस चउगइया।[1]

---

१ गा० कर्मकाण्ड मे भी ११६ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियो का कथन इस प्रकार किया है—

नरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥
देवा पुण एइंदियआदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥

देवायु के बिना शेष तीन आयु वैक्रियषट्क विकलत्रिक सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य तिर्यंच करते हैं। औदारिक द्विक तिर्यंचद्विक, उद्योत असंप्राप्तासृपाटिका (सेवार्त) सहनन का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। एकेंद्रिय आतप और स्थावर का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। शेष प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट सक्लेश वाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

जघन्य स्थितिबंध का स्वामित्व

उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाकर अब जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों को बतलाते है। जघन्य स्थितिबंध के स्वामित्व के बारे मे विचार करने से पूर्व दो बातो का जानना जरूरी है। एक तो जैसे उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है, वैसे ही जघन्य स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट विशुद्धि होना चाहिये। दूसरी यह है कि जिस गुणस्थान तक यथायोग्य कषायो का सद्भाव रहने से जिन-जिन प्रकृतियो का बन्ध होता है और उसके आगे के गुण-स्थान मे बंधविच्छेद हो जाने से बंध की संभावना ही नही है, उस गुणस्थान मे उन कर्म प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध होता है। अतएव जघन्य स्थितिबंध का कथन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम तीर्थंकर नाम और आहारद्विक के जघन्य स्थितिबंध के लिये कहते है कि 'आहार-जिणमपुव्वो' आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म इन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान मे होता है। क्योकि इनके बंधको मे उक्त गुणस्थान वाले जीव ही अति विशुद्ध परिणाम वाले होते है और 'अनियट्टि संजलण पुरिस लहु' अनिवृत्ति-बादर नामक नौवे गुणस्थान तक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुष वेद इन पाच प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध होता है।[1] आहारकद्विक आदि पुरुष वेद पर्यन्त आठ प्रकृतियो के जघन्य स्थिति-बंध के स्वामी के संबंध मे इतना विशेष जानना चाहिये कि आठवा और नौवा यह दोनो गुणस्थान क्षपक श्रेणि के ही लेना चाहिए, क्योकि उपशम श्रेणि से क्षपक श्रेणि मे विशेष विशुद्धि होती है।

---

१ आठवे, नौवें, दसवे गुणस्थान मे बंधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो के नाम द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० ९, १०, ११ मे देखिये।

साता वेदनीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र, मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण कम की पाच प्रकृतिया चक्षुदशनावरण आदि चार दशनावरण कर्म की प्रकृतिया तथा दानान्तराय आदि पाच अतराय कर्म की प्रकृतिया, कुल सत्रह प्रकृतिया के जघन्य स्थितिवध का स्वामी सूक्ष्मसपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती क्षपक है—सायजसुच्चावरणा विग्घ सुहुमो। क्याकि सातावेदनीय के सिवाय सालह प्रकृतिया इसी गुणस्थान तक बधती ह, अत उनके बधका मे यही गुणस्थान विशेप विशुद्ध है। यद्यपि साता वेदनीय का बध तेरहवें गुणस्थान तक हाता है, तथापि स्थितिवध दसवें गुणस्थान तक ही होता हे, क्याकि स्थिति वध का कारण कपाय है। सज्वलन लाभ कपाय का उदय दसव सूक्ष्मसपराय गुणस्थान तक रहता है, जिससे साता वेदनीय का जघन्य स्थितिवध भी दसवें गुणस्थान मे ही वतलाया है।

आयुकर्म की चारो प्रकृतिया का जघन्य स्थितिवध असज्ञी जीव भी करत है और सज्ञी जीव भी करते हे—सन्नी वि आउ। उनमे से देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिवध पचेंद्रिय तिर्यच आर मनुष्य करते है तथा मनुष्यायु आर तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिवध एकेंद्रिय आदि।

इस प्रकार से आहारकद्विक आदि आयुचतुष्क तक मे अतर्भूत ३५ प्रकृतियो को बधयोग्य १२० प्रकृतिया मे स कम कर देने पर शेप रही ८५ प्रकृतिया का जघन्य स्थितिवध—बायरपज्जेगिदिउ सेसाणं—बादर पर्याप्त एकेंद्रिय जीव करते ह। क्याकि प्रकृतिया के स्थितिवध को वतलाने के प्रसग मे यह सकेत कर आये है कि इन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिवध वादर पर्याप्त एकेंद्रिय जीव को ही होता है। इन प्रकृतिया के वधका मे वही विशेप विशुद्धि वाला होता है और अन्य एकेंद्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होने के कारण उक्त प्रकृतिया

को अधिक स्थिति बांधते हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय में विकलेन्द्रियों में अधिक विशुद्धि होती है किन्तु वे स्वभाव से ही इन प्रकृतियों की अधिक स्थिति बांधते हैं, जिससे शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का स्वामी बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों को ही बतलाया है।[1]

प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिबंध में मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं।

> उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा।
> चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥

शब्दार्थ — उक्कोसजहन्न — उत्कृष्ट और जघन्य बंध, इयर - प्रतिपक्षी (अनुत्कृष्ट, अजघन्य बंध), भंगा - भंग, साइ— सादि, अणाइ—अनादि, धुव —ध्रुव, अधुवा - अध्रुव, चउहा — चार प्रकार, सग —सात मूल प्रकृतियों के, अजहन्नो —अजघन्य बंध, सेसतिगे - बाकी के तीन, आउचउसु —चार आयु में, दुहा—दो प्रकार।

गाथार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, यह बंध के चार भेद हैं अथवा दूसरी प्रकार से सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये बंध के चार भेद हैं। सात कर्मों का अजघन्य बंध

---

१ (क) सत्तरसपंचतित्थाहाराणं सुहुमबादरापुव्वो ॥
छव्वेगुव्वमसण्णी जहण्णमाऊण सण्णी वा ॥
—गो० कर्मकांड १५१

(ख) कर्मप्रकृति बंधनकरण तथा पंचसंग्रह गा० ७७० में जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों को बतलाया है।

चार प्रकार का होता है। बाकी के तीन बन्ध और आयुकर्म के चारों बंध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मूल प्रकृतियों के स्थितिबंध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य भेद बतलाकर यथासंभव उनमें सादि, अनादि आदि भेद बतलाये हैं।

अधिकतम स्थितिबंध होने को उत्कृष्ट बंध कहते हैं अर्थात् उससे अधिक स्थिति वाला बंध हो ही नहीं सकता, वह उत्कृष्ट बंध है। सबसे कम स्थिति वाले बंध को जघन्य बंध कहते हैं। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर जघन्य स्थितिबंध तक के सभी बंध अनुत्कृष्ट बंध कहलाते हैं। यानी उत्कृष्ट बंध के अलावा जघन्य बंध से पूर्व तक के शेष बंध अनुत्कृष्ट बंध कहलाते हैं। एक समय अधिक जघन्य बंध से लेकर उत्कृष्ट बंध से पूर्व तक के सभी बंध अजघन्य बंध कहे जाते हैं। इस प्रकार से उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में स्थिति के सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है और जघन्य व अजघन्य बंधभेद में भी स्थिति के सभी भेद गर्भित हो जाते हैं।

इन चारों ही बंध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भंग यथायोग्य होते हैं। जो बंध रुककर पुनः होने लगता है, वह सादिबंध कहलाता है और जो बंध अनादिकाल से सतत हो रहा है, वह अनादिबंध है। यह बंध बीच में एक समय को भी नहीं रुकता है। जो बंध न कभी विच्छिन्न हुआ और न होगा, वह ध्रुवबंध है और जो बंध आगे जाकर विच्छिन्न हो जाता है, उसे अध्रुवबंध कहते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, कर्मों की ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमें उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, यह चारों ही बंध होते हैं। इनमें से आयु

कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का अजघन्य वंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इन चारो प्रकार का होता है, क्योकि मोहनीय कर्म का जघन्य वंध क्षपकश्रेणि के अनिवृत्तिवादर संपराय नामक नौवे गुणस्थान के अन्त मे होता है और शेष छह कर्मों का जघन्य स्थिति-वंध क्षपकश्रेणि वाले दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त मे होता है।

अन्य गुणस्थानों व उपशमश्रेणि मे भी इन सातो कर्मो का अजघन्य वंध होता है। अत. ग्यारहवें गुणस्थान मे अजघन्य वंध न करके वहाँ से च्युत होकर जव जीव सात कर्मो का अजघन्य वंध करता है तव वह वंध सादि कहा जाता है। नौवे, दसवें आदि गुण-स्थानो मे आने से पहले उक्त सात कर्मो का जो अजघन्य वंध होता है, वह अनादिकाल से निरंतर होते रहने के कारण अनादि कह-लाता है। अभव्य के वंध का अंत नही होता है, अत. उसको होने वाला अजघन्य वंध ध्रुव और भव्य के वंध का अंत होने से उसको होने वाला अजघन्य वंध अध्रुव कहलाता है। इस प्रकार सात कर्मों के अजघन्य बंध मे चारो भंग होते है।

अजघन्य वंध के सिवाय शेष तीन वंधभेदों मे सादि और अध्रुव, यह दो प्रकार होते है। क्योकि मोहनीय कर्म का नौवे गुणस्थान के अंत मे और शेष छह कर्मों का दसवे गुणस्थान के अंत मे जघन्य स्थिति-वंध होता है, उससे पूर्व नही, अतः वह वंध सादि है और वारहवें आदि गुणस्थानो मे उसका सर्वथा अभाव हो जाता है अतः वह अध्रुव है। इस प्रकार जघन्य वंध मे सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते है। उत्कृष्ट स्थितिवंध संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को होता है। वह बंध कभी-कभी होता है, सर्वदा नही, जिससे वह सादि है तथा अन्तमुंहूर्त के वाद नियम से उसका स्थान वदल जाने से अनुत्कृष्टवंध स्थान ले लेता है, अत वह अध्रुव

है। जिमसे उत्कृष्ट स्थितिवध मे भी मादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते है।

उत्कृष्ट वध के वाद अनुत्कृष्ट वध होता है। इसीलिये वह सादि है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त के वाद और अधिक-से अधिक अनत उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के वाद उत्कृष्ट वध होने से अनुत्कृष्ट वध रुक जाता है, जिससे उसे अध्रुव कहा जाता है। यानी उत्कृष्ट वध यदि हो तो लगातार अधिक-से-अधिक अतर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट वध लगातार अधिक-से अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक होता है और उसके वाद दोनो एक दूसरे का स्थान ले लेते हैं, अत दोनो सादि और अध्रुव हैं।

इस प्रकार सात कर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य इन तीनो वधो मे सादि और अध्रुव यह दो ही भग होते है।

आयुकर्म के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य ये चारो वध होते हैं। लेकिन इन चारों मे सादि और अध्रुव यही दो विकल्प हैं—आउचउसु दुहा। क्योंकि आयुकर्म का वध अन्य सात कर्मों की तरह निरन्तर नही होता रहता है किन्तु नियत समय पर होता है। जिससे वह सादि है और उसका वधकाल भी अन्तर्मुहूत प्रमाण है, अन्तमुहूत के वाद वह नियम से रुक जाता है, जिससे वह अध्रुव है। इस प्रकार से आठो कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारो वधो मे सादि आदि विकल्प जानना चाहिए।[1]

---

१ (क) सतण्ह अजहन्नो चउहा ठिइबध मूलपगईण।
सेसा उ साइअधुवा चत्तारि वि आउए एव॥ —पचसग्रह ५।५६

(ख) अजहण्णट्ठिदिबंधो चउव्विहो सत्तमूलपयडीण।
सेसतिय दुवियप्पो आउचउक्केवि दुवियप्पो॥

—गो० कर्मकांड १५२

इस प्रकार से आयुकर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारो बंधप्रकारो के सादि, अनादि आदि चार बंधभेदो की अपेक्षा से प्रत्येक के दस-दस और आयुकर्म के आठ भंग होने से कुल ७८ भंग होते है, जो इस प्रकार है—

ज्ञानावरण के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य बंध मे से प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते है, अत. तीनो के कुल मिलाकर छह भंग हुए तथा अजघन्य बंध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारो विकल्प होने से पूर्व के छह भेदो को इन चार के साथ मिलाने से कुल दस भंग हो जाते है। इसी प्रकार से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय के बंधभेदो मे प्रत्येक के दस-दस भंग जानना चाहिये। आयुकर्म के भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य ये चारो प्रकार के बंध होते है, लेकिन ये चारो प्रत्येक सादि और अध्रुव विकल्प वाले होने से प्रत्येक के दो-दो भंग है और कुल मिलाकर आठ भंग होते है। इस प्रकार १०+१०+१०+१०+१० +१०+१०+८=७८ भंग ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों के होते है।

मूल कर्मों के अजघन्य आदि बंधो में सादि आदि भंगो का निरूपण करने के बाद अब उत्तर प्रकृतियो मे उनका कथन करते है।

चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाणं।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीण ॥४७॥

शब्दार्थ—चउभेओ—चार भेद, अजहन्नो—अजघन्य बंध मे, संजलणावरणनवगविग्घाणं—संज्वलन कषाय, नौ आवरण और अन्तराय के, सेसतिगि—शेष तीन बंधो मे, साइअधुवो—सादि और अध्रुव, तह—वैसे ही, चउहा—चारो बंध प्रकारो मे, सेसपयडीण—बाकी की प्रकृतियो के।

गाथाथ - सज्वलन कपाय चतुष्क, ना आवरण (पाच - नानावरण, चार दशनावरण) आर पाच अतराय के अजघन्य बध मे चारा भेद होते है। शेप तीन बधा के सादि आर अध्रुव यह दो विकल्प तथा शेप प्रकृतिया के चारा बधा के भी सादि और अध्रुव ये दा ही विकल्प हाते हैं।

विशेषाथ—इस गाथा मे उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि बधो के सादि आदि भेद बतलाये है। जसा मूल प्रकृतिया मे सबमे पहले अजघन्य बध के विकल्पा का कथन किया गया है, वस ही उत्तर प्रकृतियो भी अजघन्य बध के विकल्पा का यहा विवेचन किया जा रहा है। १२० प्रकृतिया मे से अजघन्य बध वाली प्रकृतिया सिफ अठारह है। जिनके नाम क्रमश इस प्रकार ह—सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, मतिनानावरण, श्रुतनानावरण, अवधिनानावरण, मनपयाय ज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, चक्षुदशनावरण, अचक्षुदशनावरण, अवधि दशनावरण, केवलदशनावरण तथा दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीय अन्तराय—सजलणावरणनवगविग्घाण । इन अठारह प्रकृतियो की अजघन्य स्थिति की शुरूआत उपशम श्रेणि से पतित होने वाले के होती है।

इन अठारह प्रकृतियों के अजघन्य बध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव य चारा ही विकल्प होते है जा मूल कमा के अजघन्य बध की तरह ही जानना चाहिये। उपशम श्रेणि में इन अठारह प्रकृतियो का बधविच्छेद करके जब वहा से च्युत होकर पुन उनका अजघन्य बध करने हैं तो वह बध सादि और उपशम श्रेणि म आरोहण करन स पहले तक बध अनादि हाना है। अभव्य की अपेक्षा वही बध ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है। इसीलिये इन प्रकृतिया के अजघन्य

बंध के सादि आदि चार विकल्प माने है।[1]

उक्त अठारह प्रकृतियो के अजघन्य बंध के सिवाय शेष तीन बंधो मे प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते है। क्योंकि नौवें गुणस्थान मे अपनी-अपनी बंधव्युच्छित्ति के समय संज्वलन-चतुष्क का जघन्य बंध होता है और शेष ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियो का जघन्य बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती क्षपक को होता है। यह बंध इन गुणस्थानो मे आने से पूर्व नही होता है, अत. सादि है और आगे के गुणस्थानो मे बिल्कुल रुक जाने से अध्रुव है। इसी प्रकार से उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट बंध मे भी समझना चाहिए। क्योकि ये दोनो बंध परिवर्तित होते रहते है। जीव कभी उत्कृष्ट और कभी अनुत्कृष्ट बंध करता है।

शेष एक सौ प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि चारो ही प्रकार के बंधो मे सादि और अध्रुव यह दो भंग होते हैं। क्योकि पाच निद्रा, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण इन उनतीस प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध विशुद्धियुक्त बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक करता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वही जीव संक्लिष्ट परिणामी होने पर उनका अजघन्य बंध करता है। उसके बाद उसी भव मे अथवा दूसरे भव मे विशुद्ध परिणामी होने पर वही जीव पुन उनका जघन्य बंध करता है। इस प्रकार से जघन्य और अजघन्य बंध के बदलते रहने से दोनो सादि और अध्रुव होते है।

---

१ अट्ठारसण्ऽजहन्नो उवसमसेढीए परिवडतस्स।
साई सेसविगप्पा सुगमा अधुवा धुवाण पि॥

— पंचसंग्रह ५।६३

इसी प्रकार इन उनतीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट बध सक्लिष्ट परिणामी पचेन्द्रिय जीव करता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद अनुत्कृष्ट बध करता है और बाद मे पुन उत्कृष्ट बध करता है। इस प्रकार बदलते रहने से ये दोनो बध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतिया अध्रुवबधिनी है और उनके अध्रुवबधिनी होने के कारण ही उनके जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट ये चारो ही स्थितिबध सादि और अध्रुव होते हैं।[1]

सज्वलन चतुष्क आदि अठारह प्रकृतिया मे से प्रत्येक के अजघन्य बंध के सादि आदि चार विकल्प तथा शेप उत्कृष्ट बंध आदि तीन स्थिति बधो म से प्रत्येक के सादि और अध्रुव विकल्प होने से प्रत्येक प्रकृति के दस दस भग होने से १८० तथा एक सौ दो प्रकृतिया मे से प्रत्येक के उत्कृष्ट आदि चार चार स्थितिबध और इन चारो के भी सादि व अध्रुव दो-दो विकल्प होने से आठ आठ भंग होते हैं। कुल मिलाकर ये भग १०२×४=४०८×२=८१६ होते हैं। उत्तर प्रकृतियो के कुल मिलाकर १८०+८१६=९९६ भंग होते हैं और इनमे मूल प्रकृतिया के ७८ भगो को मिलाने से सब मिलाकर १०७४ स्थितिबध के भग होते हैं।

---

१ नाणंतरायदसण चउदसमजलण ठिई भजहन्ना।
चउहा साई अधुवा सेसा इयराण सव्वाओ॥

—पचसग्रह ५।६०

इस गाथा की टीका मे उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबध के भगो का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार से गो० कर्मकाड गा० १५३ मे भी भगो का कथन किया है—

सज्जलणसुहुमचोद्दस घादीण चदुविधो दु अजहण्णो।
सत्तिया पुण दुविहा सेसाणं चदुविधावि दुधा॥

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध में सादि आदि भंगों का निरूपण करने के बाद अब गुणस्थानों में स्थितिबंध का निरूपण करते हैं।

गुणस्थानों मे स्थितिबंध

साणाइअपुव्वंते अयरतो कोडिकोडिओ न हिगो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि ॥४८॥

शब्दार्थ—साणाइअपुव्वंते—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक, अयरतो कोडिकोडिओ—अंत कोटाकोटी सागरोपम मे, न हिगो—अधिक (बंध) नही होता है, बंधो - बंध, न हु—नही होता है, हीणो—हीन, न य—तथा नही होता है, मिच्छ—मिथ्यादृष्टि, भव्वियरसन्निमि—भव्य संज्ञी व इतर अभव्य संज्ञी में।

गाथार्थ—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त कोडाकोडी सागरोपम से अधिक स्थितिबंध नही होता है और न हीन बंध होता है। मिथ्यादृष्टि भव्य संज्ञी और अभव्य संज्ञी के भी हीन बंध नही होता है।

विशेषार्थ—पहले सामान्य से और एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा से स्थितिबंध का प्रमाण बतलाया गया है। अब इस गाथा मे गुणस्थानों की अपेक्षा से उसका प्रमाण का कथन किया जा रहा है कि किस गुणस्थान मे कितना स्थितिबंध होता है।

पूर्व मे कर्मों की सत्तर, तीस, बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। उसमे से साणाइअपुव्वंतो—यानी दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान तक अन्त-कोड़ाकोडी सागर से अधिक स्थितिबंध नही होता है। यानी दूसरे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होने वाला बंध अन्त-कोड़ा-

कोडी सागर प्रमाण होता है और जो सत्तर आदि कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, वह मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही होता है। सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिबंध होने का कारण यह है कि इन गुणस्थानों वाले जीव मिथ्यात्वग्रंथि का भेदन कर देते है, जिससे उनके अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण से अधिक स्थितिबंध नही होता है।

प्रश्न—उक्त कथन पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कर्मप्रकृति आदि ग्रंथो मे मिथ्यात्वग्रंथि का भेदन करने वालो को भी मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोटाकोडी सागरोपम बतलाया है। अत यह कैसे माना जाय कि सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक जीव मिथ्यात्वग्रंथि का भेदन कर देते है, अत अन्त कोडाकोटी सागर प्रमाण से अधिक स्थिति का बंध नही करते है।

उत्तर यह ठीक है कि ग्रन्थि का भेदन करने वाला का भी उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, किन्तु सम्यक्त्व का वमन करके जो पुन मिथ्यात्व गुणस्थान मे आते है, उनके ही यह उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। यहा तो ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले सासादन आदि गुणस्थान वालो के ही उत्कृष्ट स्थितिबंध का निषेध किया है। आवश्यक आदि मे तो सैद्धान्तिक मत का सकेत करके ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले मिथ्यादृष्टि को भी उत्कृष्ट बंध का प्रतिषेध किया है।[1] कार्मग्रन्थिक मत मे सादि मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है लेकिन उसमे तीव्र अनुभाग शक्ति नही होती है। अत सासादन से

---

१ यतो नाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रंथिमुल्लंघ्य उत्कृष्टस्थिती कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बंधेण न वालइ कयाइ' इति वचनात्। एष सैद्धान्तिकाभिप्राय। कार्मग्रंथिकास्तु भिन्नग्रंथेरप्युत्कृष्टस्थितिबंधो भवतीति प्रतिपन्ना। —आव० नि० टीका पृ० १११

अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त:कोडाकोडी सागर से अधिक स्थिति का बंध नही होता है और न उससे कम भी होता है। यानी दूसरे से आठवें गुणस्थान तक अन्त:कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति बंधती है, न कम और न अधिक।

इस पर पुन प्रश्न होता है कि जब एकेन्द्रिय आदि जीव सासादन गुणस्थान में होते है, उस समय उनको ३/७ सागर आदि की स्थिति बंधती है। अत सासादन आदि गुणस्थानो में अन्त कोड़ाकोडी सागर से कम स्थितिबंध नही होता, यह कथन उचित प्रतीत नही होता है।

यह आशंका उपयुक्त नही है, क्योकि इस प्रकार की घटनाये कादाचित्क है, जिनकी यहां विवक्षा नही की गई है[1] तथा यहां एकेन्द्रिय आदि की विवक्षा नही, संज्ञी पंचेन्द्रिय की विवक्षा है। इसलिए संज्ञी पंचेन्द्रिय सासादन से अपूर्वकरण पर्यन्त अन्त:कोडाकोडी सागरोपम से न्यून स्थिति का बंध नही करता है।

सासादन से अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिबंध का भी निषेध किया है। इस पर जिज्ञासा होती है कि क्या कोई ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव भी होता है जिसे अन्त:कोड़ाकोडी सागर से भी कम स्थितिबंध नही होता है। इसका समाधान करते हुए गाथा मे कहा है भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के भी अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिबंध नही होता है। भव्य संज्ञी के साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगाने से यह आशय निकलता है कि भव्य संज्ञी को अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानो मे हीन बंध भी होता है और संज्ञी विशेषण से यह अर्थ निकलता है कि भव्य असंज्ञी के हीन स्थितिबंध होता है। अभव्य संज्ञी के तो

---

१ सत्यमेतत् केवल, कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक् इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि।

—पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका

अन्त कोडाकोडी सागर से हीन स्थितिबध होता ही नही है, क्याकि ग्रथिभेदन करने पर ही हीन बध होना सभव है लेकिन अभव्य सज्ञी ग्रथिदेश तक पहुँचता है परन्तु उसका भेदन करने मे असमथ होने से पुन नीचे आ जाता है।

सासादन मे अपूवकरण गुणस्थान तक के स्थितिबध मे अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण से न्यूनाधिकता नही होने पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि यदि न्यूनाधिकता नही है तो आगे स्थितिबध के अल्प बहुत्व मे जो यह कहा गया कि विरति के उत्कृष्ट स्थितिबध से देश विरति का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा, उससे अविरत सम्यग् दृष्टि अपर्याप्त का जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यात गुणा होता है, कैसे माना जायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जसे नौ समय मे लेकर समयन्यून मुहूर्त तक अन्तमुहूर्त के असख्यात भेद होते है वैसे ही साधु के उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर समयाधिक पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक असख्यात के स्थितिबध भेद होते हैं जो अन्त कोडाकोडी प्रमाण हैं। अत सख्यातगुणे मानने पर किसी प्रकार का विरोध नही है।

इस प्रकार से गुणस्थाना मे स्थितिबध का निरूपण करके अब आगे की गाथाओ म एकेन्द्रिय आदि जीवा की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व बतलाते है।

जइलहुबधो बायर पज्ज असखगुण सुहुमपज्जहिगो।
एसि अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥४६॥
लहु बिय पज्जअपज्ज अपजेयर बिय गुरू हिगो एव।
ति चउ असन्निसु नवर सखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥
तो जइजिट्ठो बधो सखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबधाणुकम सखगुणा ॥५१॥

शब्दार्थ—जइलहुबधो—साधु का जघन्य स्थितिबंध, बायर-पज्ज—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, असंखगुण—असंख्यात गुणा, सुहुमपज्ज—सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय का, हिगो—विशेषाधिक, एसि—इनके (बादर सूक्ष्म एकेन्द्रिय के), अपज्जाण—अपर्याप्त का, लहू—जघन्य स्थितिबंध, सुहूमेअरअपजपज्ज गुरु—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध।

लहु—जघन्य स्थितिबन्ध, बिय—द्वीन्द्रिय, पज्जअपज्जे—पर्याप्त अपर्याप्त में, अपजेयर—अपर्याप्त और इतर—पर्याप्त, बियगुरु—द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट, हिगो - अधिक, एव—इस प्रकार से, तिचउअसन्निसु—त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पचेन्द्रिय में, नवर—इतना विशेष, संखगुणो—संख्यात गुणा, बियअमणपज्जे—द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी पर्याप्त में।

तो—उसकी अपेक्षा, जइजिट्ठोबधो - साधु का उत्कृष्ट स्थितिबंध, संखगुणो—संख्यात गुणा, देसविरयहस्स—देशविरति का जघन्य, इयरो उत्कृष्ट स्थितिबंध, सम्मचउ—सम्यग्दृष्टि के चार प्रकार के स्थितिबंध, सन्निचउरो—संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चार, ठिइबधा—स्थितिबन्ध, अणुकम—अनुक्रम से, संखगुणा—संख्यात गुणा।

गाथार्थ—साधु का जघन्य स्थितिबंध सबसे अल्प होता है। बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उससे असंख्यात गुणा और सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उससे विशेषाधिक होता है। इनके (बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय के) अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उससे अधिक होता है। उसकी अपेक्षा सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध अनुक्रम से विशेषाधिक होता है।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उनकी अपेक्षा संख्यात गुणा और विशेषाधिक और उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भी इसी प्रकार (द्वीन्द्रिय में कहे गये अनुसार) जानना चाहिये, किन्तु इतना विशेष है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी अपर्याप्त में संख्यात गुणा समझना चाहिए।

उसकी अपेक्षा साधु का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा और उसकी अपेक्षा देशविरति का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध, सम्यग्दृष्टि के चारों स्थितिबंध और संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चारों स्थितिबंध अनुक्रम से संख्यात गुण होते हैं।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में स्थितिबंध का अल्पबहुत्व बतलाया गया है कि किस जीव को अधिक स्थितिबंध होता है और किस जीव को कम स्थितिबंध। बंध की इस हीनाधिकता को स्थितिबंध का अल्प-बहुत्व कहते हैं।

स्थितिबंध के इस अल्पबहुत्व के प्रमाण का कथन प्रारंभ करते हुए कहा है कि 'जइलहुबंधो' यानी साधु का सबसे कम स्थितिबंध होता है और वह भी सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में। इसका कारण यह है कि दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म कषाय का सद्भाव पाया जाता है और कषाय के द्वारा स्थितिबंध होता है। दसवें गुणस्थान से हीन स्थितिबंध किसी भी जीव को नहीं होता है। यद्यपि ग्यारहवें आदि आगे के गुणस्थानों में एक समय का स्थितिबंध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं, अतः वहाँ स्थितिबंध की विवक्षा नहीं है। इसलिये दसवें गुणस्थान में ही स्थितिबंध के अल्प

वहुत्व का कथन प्रारंभ होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को सबसे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जिससे अल्पवहुत्व का वर्णन वहां आकर समाप्त हो जाता है। अर्थात् स्थितिबंध का अल्पवहुत्व बतलाने के प्रसंग में सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान एक छोर है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि दूसरा छोर। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान जघन्य स्थितिबंध का चरमबिन्दु है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबंध का चरमबिन्दु और इन दोनों के बीच अल्पवहुत्व का कथन किया जाता है।

चरम जघन्य स्थितिबंध से प्रारंभ होकर चरम उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के अल्पवहुत्व का क्रम इस प्रकार है—

१. सबसे जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु—विरति को होता है।

२. उससे यानी सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु से वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा है।

३. वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

४. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त की अपेक्षा वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होनेवाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

५. वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

६. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

७. उससे वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

८. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

६ उससे वादर एकेद्रिय पयाप्न का उत्कृष्ट स्थितिवध कुछ अधिक है।

१० उसमे द्वीद्रिय पर्याप्न का जघन्य म्यितिवध सख्यात गुणा है।

११ उससे द्वीन्द्रिय अपयाप्त का जघन्य म्यितिवध कुछ अधिक है।

१२ उससे द्वीद्रिय अपर्याप्न का उत्कृष्ट स्थितिवध कुछ अधिक है।

१३ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध कुछ अधिक है।

१४ उमसे त्रीद्रिय पर्याप्ति का जघन्य स्थितिवध कुछ अधिक है।

१५ उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिवध कुछ अधिक है।

१६ उससे त्रीद्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध कुछ अधिक है।

१७ उससे त्रीद्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट म्यितिवध कुछ अधिक है।

१८ उससे चतुरिन्द्रिय पयाप्न का जघन्य स्थितिवध कुछ अधिक है।

१९ उमसे चतुरिद्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिवध कुछ अधिक है।

२० उससे चतुरिन्द्रिय अपयाप्न का उत्कृष्ट म्यितिवध कुछ अधिक है।

२१ उमसे चतुरिद्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट म्यितिवध कुछ अधिक है।

२२ उसमे असज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्न का जघन्य म्यितिवध संख्यात गुणा है।

२३. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२४. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२५. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

२६. उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२७. उससे देशसंयत का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२८. उससे देशसंयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

२९. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३०. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३१. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३२. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३४. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३५. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३६. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

स्थितिबंध के अल्पबहुत्व दर्शक इन स्थानों की संख्या ३६ है। यद्यपि जीवसमास के १४ भेद हैं और प्रत्येक जीवसमास की जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो-दो स्थितियां होती हैं। जिससे जीवसमासों की अपेक्षा २८ स्थान होते हैं, किन्तु स्थितिबंध के अल्पबहुत्व के निरूपण में अविरत सम्यग्दृष्टि के चार स्थान, देशविरति के दो स्थान, संयत का एक स्थान और सूक्ष्मसंपराय का एक स्थान और मिलाने से कुल छत्तीस स्थान हो जाते हैं।

इन छत्तीस स्थानों में आगे आगे का प्रत्येक स्थान पूर्ववर्ती स्थान से या तो गुणित है या अधिक है।[1] उक्त स्थितिस्थानों को यदि ऊपर से नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिकाधिक होती जाती है और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर स्थिति घटती जाती है। इससे यह सरलता से समझ में आ जाता है कि कौन-सा जीव अधिक स्थिति बांधता है और कौन-सा कम। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के अधिक स्थितिबंध होता है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के, संयमी से देशविरति के, देशविरति से अविरत सम्यग्दृष्टि के और अविरत सम्यग्दृष्टि से संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के स्थितिबंध अधिक होता है। उनमें भी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध अधिक होता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय से

1 किसी राशि में गुणा करने से उत्पन्न होने वाली राशि गुणित राशि कहलाती है, जैसे ४ से २ का गुणा करने पर आठ संख्या आती है। यह आठ संख्या पूर्ववर्ती ४ से दो गुणित है। किन्तु ४, ५, २ का भाग [illegible] को ४, ५ आदि [illegible]। [illegible] से कुछ अधिक कहा जायेगा। क्योंकि यह राशि गुणाधिक नहीं है किन्तु मात्र अधिक है। गुणित और विशेषाधिक में यही अन्तर है।

लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के होने वाले उत्तरोत्तर अधिक स्थितिबंध से यही स्पष्ट होता है कि चैतन्य-शक्ति के विकास के साथ संक्लेश की सभावना भी अधिक-अधिक होती है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव प्राय हिताहित के विवेक से रहित मिथ्यादृष्टि होते है और उनमे इतनी शक्ति नही होती कि वे अपनी विकसित चैतन्य शक्ति का उपयोग संक्लेश परिणामो के रोकने मे करे। इसलिए उनको उत्तरोत्तर अधिक ही स्थितिबंध होता है, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय होने के कारण संयमी मनुष्य की चैतन्यशक्ति विकसित होती है। जिससे संयमी होने के कारण संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उनका स्थितिबंध बहुत कम होता है किन्तु असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से वह अधिक ही है।[1]

---

१ गो० कर्मकाड मे स्थितिबंध का अल्पबहुत्व तो नही बताया है किन्तु एकेन्द्रिय आदि जीवो के अवान्तर भेदो मे स्थितिबध का निरूपण किया है। जिससे अल्पबहुत्व का ज्ञान हो जाता है, एकेन्द्रिय आदि जीवो के अवान्तर भेदो के स्थितिबध का निरूपण निम्न क्रम से किया है—

वासूप वासूअ वरट्ठिदीओ सूबाअ सूबाप जहण्णकालो।
बीबीवरो बीविजहण्णकालो सेसाणमेव वयणीयमेदं ॥१४८॥

वासूप—बादर-सूक्ष्म पर्याप्त और वासूअ—बादर-सूक्ष्म अपर्याप्त दोनो मिलाकर चार तरह के जीवो के कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तथा सूबाअ—सूक्ष्म-बादर अपर्याप्त, सूबाप—सूक्ष्म-बादर पर्याप्त जीवो के कर्मों की जघन्य स्थिति, इस तरह एकेन्द्रिय जीव की कर्मस्थिति के आठ भेद हैं। बीबीवरः– द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त इन दोनो की उत्कृष्ट कर्मस्थिति तथा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त इन दोनो का जघन्य काल, इस तरह द्वीन्द्रिय की स्थिति के चार भेद हैं।

(शेष पृष्ठ १९५ पर)

यहां यह विशेष समझना चाहिये कि संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के बताये गये स्थितिबंध स्थानों का प्रमाण अन्तःकोडाकोडी सागर ही है। अर्थात् सभी स्थितिबंधों का प्रमाण अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण ही होगा।[1] संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण सामान्य से बताये गये उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रमाण के समान समझना चाहिये।

[illegible] द्वीन्द्रिय [illegible] संज्ञी पंचेन्द्रिय तक की स्थिति में भी चार चार भेद जानना चाहिए। अर्थात् बादर पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति सूक्ष्म पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, बादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति सूक्ष्म अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति सूक्ष्म अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, बादर अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्त की जघन्य स्थिति, बादर पर्याप्त की जघन्य स्थिति ये एकेन्द्रिय के भेदों का क्रम है। द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि में जानना चाहिए।

एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि के इन अवान्तर भेदों में जो स्थिति बतलाई है वह उत्तरोत्तर कम है। उनके इस क्रम को नीचे से ऊपर की ओर पढ़ने पर कर्मग्रन्थ के प्रतिपादन के अनुकूल हो जाता है।

१ 'सोपुव्वाओ सन्निस्स होई पज्जत्तगस्सेव'॥८२॥
अब्भिंतरतो उ कोडाकोडी ए त्ति एव सव्वस्स उक्कोसातो आढत्तं कोडाकोडीए अब्भिंतरतो भवति।

—कर्मप्रकृति च चूर्णि

संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक जितना भी स्थितिबंध है वह कोडाकोडी सागर के अन्दर ही जानना चाहिये।

इस प्रकार के स्थितिबंध के अल्पबहुत्व की अपेक्षा से उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध के स्थानियों को बतलाकर अब स्थिति की शुभा-शुभता और उसके कारण को बतलाते हैं।

स्थितिबंध की शुभाशुभता

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा जं साइसंकिलेसेण।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरियाउं ॥५२॥

शब्दार्थ—सव्वाण वि—सर्व सभी प्रकृतियों की, जिट्ठठिई—उत्कृष्ट स्थिति, असुभा—अशुभ, जं—क्योंकि, सा—वह (उत्कृष्ट स्थिति), साइसंकिलेसेण—तीव्र संक्लेश (कषाय) के उदय होने से, इयरा—जघन्यस्थिति, विसोहिओ—विशुद्धि द्वारा, पुण—तथा, मुत्तुं—छोड़कर, नरअमरतिरियाउं—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु को।

गाथार्थ—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु के सिवाय सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों से बंधने के कारण अशुभ कही जाती है। जघन्य स्थिति का बंध विशुद्धि द्वारा होता है।

विशेषार्थ—गाथा में देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अशुभ और जघन्य स्थिति को शुभ बतलाया है। इसका कारण जन साधारण की उस भ्रांति का निराकरण करना है कि वह शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक शुभ फल देने के कारण अच्छा और अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक अशुभ फल देने के कारण बुरा मानता है। लेकिन शास्त्रकारों का कहना है कि अधिक स्थिति का बंधना अच्छा नहीं है। क्योंकि स्थितिबंध का मूल कारण कषाय है और कषाय की श्रेणी के अनुसार स्थितिबंध भी उसी श्रेणी

का होता है। उत्कृष्ट स्थितिबध उत्कृष्ट कपाय से होता है इसीलिये उसे अच्छा नही कहा जाता है।

उत्कृष्ट अनुभागबध शुभ क्यो ?

उत्कृष्ट स्थितिबध को जो अशुभ माना गया है, उसका कारण उत्कृष्ट कपाय है। इस पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि स्थितिबध की तरह अनुभागबध भी कपाय से होता है—'ठिइ अणुभाग कसायओ' इति वचनात। अत उत्कृष्ट स्थितिबध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग का भी अशुभ मानना चाहिये। क्योकि दोनो का कारण कपाय है। किन्तु शास्त्रो मे शुभ प्रकृतिया के अनुभाग को शुभ और अशुभ प्रकृतिया के अनुभाग को अशुभ बतलाया है।

इसका समाधान यह है कि स्थिति और अनुभाग बध का कारण कपाय अवश्य है। किन्तु दोनो मे बडा अन्तर है। क्योकि कपाय की तीव्रता होने पर अशुभ प्रकृतियो मे अनुभाग बध अधिक होता है और शुभ प्रकृतिया मे कम तथा कपाय की मदता होने पर शुभ प्रकृतिया के अनुभाग मे अधिकता और अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग मे हीनता होती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृति के अनुभाग बध की हीनाधिकता कपाय की हीनाधिकता पर निभर नही है। किन्तु शुभ प्रकृतियो के अनुभाग बध की हीनाधिकता कपाय की तीव्रता और मदता पर अवलबित है और अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग बध की हीनता और अधिकता कपाय की मदता और तीव्रता पर। किन्तु स्थितिबध मे यह बात नही है। क्योकि कपाय की तीव्रता के समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतिया बधती है, उन सब मे स्थितिबध अधिक होता है। अत स्थितिबध की अपेक्षा से कपाय की तीव्रता और मदता का प्रभाव सभी प्रकृतिया पर एक सा पडता है किन्तु अनुभाग बध मे यह बात नही है। अनुभाग मे शुभ और अशुभ प्रकृतिया पर कपाय का अलग अलग प्रभाव पडता है।

इसी बात को यों भी कह सकते है कि जब-जब शुभ प्रकृतियो में उत्कृष्ट अनुभाग होता है तब-तब जघन्य स्थितिबंध होता है और जब-जब उनमे जघन्य अनुभागबंध होता है तब-तब उनमे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्योकि शुभ प्रकृतियो मे उत्कृष्ट अनुभागबंध का कारण कपाय की मंदता और जघन्य अनुभागबंध का कारण कपाय की तीव्रता है। लेकिन स्थितिबंध मे कपाय की मंदता जघन्य स्थिति-बंध का कारण और कपाय की तीव्रता उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियो की बात। अशुभ प्रकृतियो मे तो अनुभाग अधिक होने पर स्थिति भी अधिक होती हे और अनुभाग कम होने पर स्थितिबंध कम होता है। क्योकि दोनो का कारण कपाय की तीव्रता है। अत उत्कृष्ट स्थितिबंध ही अशुभ है क्योकि उसका कारण कपायो की तीव्रता है और शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग-बंध शुभ है, क्योकि उसका कारण कपायो की मंदता है। इसीलिये उत्कृष्ट स्थितिबंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग बंध को सर्वथा अशुभ नही माना जा सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबंध और विशुद्धि से जघन्य स्थितिबंध होता है, किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु इन तीन प्रकृतियो के बारे मे यह नियम लागू नही होता है। क्योकि इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है और उसका बंध विशुद्धि से होता है और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योकि उसका बंध संक्लेश से होता है। साराश यह है कि इन प्रकृतियो के सिवाय शेप प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कपाय से बंधती है और जघन्य स्थिति मद कपाय से। किन्तु इन तीन प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मंद कपाय से और जघन्य स्थिति तीव्र कपाय से बंधती है। इसीलिये इन तीन प्रकृतियो को ग्रहण नही किया गया है।

यद्यपि उत्कृष्ट स्थितिवध तीव्र कपाय से होता है, लेकिन कपाय की अभिव्यक्ति योग द्वारा होती है। अत केवल कपाय से ही स्थिति वध नही होता है, किन्तु उसके साथ योग भी रहता है। इसलिये अब सब जीवो मे योग के अल्पबहुत्व और उसकी स्थिति पर यहा विचार किया जा रहा है।

योग का अल्पबहुत्व

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग वायरयविगलअमणमणा।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असखगुणो ॥५३॥
अपजत्त'तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा।
अपजेयर सखगुणा परमपजबिए असखगुणा ॥५४॥

शब्दार्थ—सुहुमनिगोय—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक आइखण—प्रथम समय म (उत्पत्ति क), अप्पजोग – अल्पयोग बायर—बादर एकेन्द्रिय य—और विगलअमणमणा विकलत्रिक असनी पचेन्द्रिय, सनी पचेन्द्रिय अपज्ज—अपर्याप्त क लहु—जघन्य योग पढमदु—प्रथमद्विक (अपर्याप्त सूक्ष्म बादर) का गुरु—उत्कृष्ट योग पजहस्सियरो—पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग असखगुणो—असख्यात गुणा।

अपजत्त—अपर्याप्त, तस—त्रस का उक्कोसो—उत्कृष्ट योग पज्जजहन्न—पर्याप्त त्रस का जघन्य योग इयरु—और इतर (उत्कृष्ट योग) एव—इस प्रकार, ठिइठाणा—स्थिति के स्थान, अपजेयर—अपर्याप्त का अपना पर्याप्त के सखगुणा=सख्यात गुणा पर—परन्तु अपजबिए—अपर्याप्त द्वीन्द्रिय म असखगुणा असख्यात गुणा।

---

1 'अगमत्त इति पाठान्तर।

गाथार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव को पहले समय में अल्प योग होता है, उसकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के पहले समय में क्रम से असंख्यात गुणा होता है। उसके अनन्तर प्रारंभ के दो लब्ध्यपर्याप्त अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्त का जघन्य व उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है।

उसकी अपेक्षा अपर्याप्त त्रस का उत्कृष्ट योग, पर्याप्त त्रस का जघन्य और उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्त के संख्यात गुणे होते हैं किन्तु अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में योग के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है। योग का अर्थ है सकर्मा जीव की शक्तिविशेष जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण है। योग के द्वारा कर्म रज को आत्मा तक लाया जाता है। कर्मप्रकृति (बंधनकरण) में योग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

परिणामा लंबण गहण साहणं तण लद्धनामतिग।

अर्थात् पुद्गलों का परिणमन, आलम्बन और ग्रहण के साधन यानी कारण को योग कहते हैं।[1] आत्मा में वीर्य-शक्ति है और

---

१ गो० जीवकांड गा० २१५ में योग का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ति कम्मागमकारणं जोगो॥

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की जो शक्ति कर्मों के ग्रहण करने में कारण है, उसे योग कहते हैं।

ससारी जीव मे वह शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रगट होती है। उस वीर्य के द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और ग्रहण करके उन्हे औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है और परिणमा कर उनका अवलवन यानी सहायता लेता है। यह क्रम सतत चलता रहता है। पुद्गलो को ग्रहण करने के तीन निमित्त है—मन, वचन और काय। इसीलिये योग के भी तीन नाम हो जाते है—मनोयोग, वचनयोग, काययोग।[1] मन के अवलवन से होने वाले योग-व्यापार को मनोयोग, वचन के अवलवन से होने वाले योग व्यापार को वचनयोग और श्वासोच्छ्वास आदि के अवलवन से होने वाले योग व्यापार को काययोग कहते हैं। साराश यह है कि जीव मे विद्यमान योग नामक शक्ति से वह मन, वचन, काय आदि का निर्माण करता है और ये मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्ति के अवलवन होते है। इस प्रकार से योग पुद्गलो का ग्रहण करने का, ग्रहण किये हुए पुद्गलो को शरीरादि रूप परिणमाने का और उनका अवलवन लेने का साधन है।[2]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योग के नामान्तर है।[3]

---

१ कायवाङ मन कर्मयोग । —तत्त्वार्थसूत्र ६।१

२ योग की विशेष व्याख्या और भेदो के नाम आदि के लिए चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे योगमार्गणा को देखिये।

३ जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवति पज्जाया ॥

—पचसग्रह ३९६

यह योग एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवो मे यथा-योग्य पाया जाता है। इसकी दो अवस्थाये है—जघन्य और उत्कृष्ट। यानी सबसे कम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव है और अधिक-तम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव। इसी बात को ग्रन्थकार ने इन दो गाथाओ मे स्पष्ट किया है। जो इस प्रकार है—

१. सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को प्रथम समय मे होता है—सुहुम निगोयाइखण। इसके बाद अन्य जीवो की योगशक्ति मे क्रमश वृद्धि होती जाती है।
२ बादर निगोदिया एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव के प्रथम समय मे जो योग होता है, वह उससे असंख्यात गुणा है।
३. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
४. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
५. उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
६. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात-गुणा है।
७. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य० का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
८. उससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
९. उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।
१०. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का जघन्ययोग असंख्यात गुणा है।
११. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
१२. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१३. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१४. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१५. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१६ उससे चतुरिन्द्रिय लब्य० का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

१७ उससे असनी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

१८ उससे सज्ञी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

१९ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असख्यात गुणा है।

२० उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असख्यात गुणा है।

२१ उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असख्यात गुणा है।

२२ उससे असनी पचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असख्यात गुणा है।

२३ उससे सनी पचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असख्यात गुण है।

२४ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

२५ उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

२६ उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

२७ उससे असनी पचे० पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

२८ उससे सनी पचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

इस प्रकार से चौदह जीवसमासो मे जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से योगो के २८ स्थान होते हैं। सनी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे कुछ और स्थान दूसरे ग्रन्थो मे कहे हैं। जो इस प्रकार है—

२९ सनी पचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

३० उससे ग्रैवेयकवासी देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

३१ उससे भोगभूमिज तिर्यच और मनुष्यो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

३२ उससे आहारक शरीर वालो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

२३. शेष देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है।[1]

इस प्रकार से सब जीवों के योग का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।[2] सर्वत्र गुणाकार का प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग जानना अर्थात् पहले-पहले योगस्थान में पल्य के असंख्यातवें भाग का गुणा करने पर आगे के योगस्थान का प्रमाण आता है। इसका यह अर्थ हुआ कि ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर जीव की शक्ति का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों योगस्थान में भी वृद्धि होती जाती है। जघन्य योग से जीव जघन्य प्रदेशबंध और उत्कृष्ट योग से उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है।

इस प्रकार से योगस्थानों[3] के अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिस्थानों का कथन करते हैं—ठिइठाणा अपजेयर संखगुणा—अपर्याप्त से पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं किन्तु

---

१ कर्मप्रकृति (बंधनकरण) में असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा बतलाया है—

अमणाणुत्तरगेविज्ज भोगभूमिगयतइयतणुगेसु ।
कमसो असखगुणिओ सेसेसु य जोग उक्कोसो ॥ १६ ॥

जब असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग को कहने के बाद अनुत्तरवासी देवों आदि के उत्कृष्ट योग का कथन करेंगे तो २८ वाँ स्थान २७ वाँ होगा और कुल मिलाकर सब स्थान ३२ होंगे। कर्मप्रकृति में इसी प्रकार है।

२ सब जीवों के योग का अल्पबहुत्व भगवती २५।१ में बतलाया है। उसमें पर्याप्त के जघन्य योग से अपर्याप्त का उत्कृष्ट योग अधिक कहा है। बोल भी आगे पीछे हैं। इसका कारण तो बहुश्रुतगम्य है।

३ गो० कर्मकांड गा० २१८ से २४२ तक योगस्थानों का विस्तृत वर्णन किया है। इसका उपयोगी अंश परिशिष्ट में देखिये।

इतनी विशेषता है कि 'अपजविगि असंखगुणा' द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

किसी कर्मप्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक एक समय बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के जो भेद होते हैं, वे स्थितिस्थान[1] कहलाते हैं। जैसे किसी कर्मप्रकृति की जघन्यस्थिति १० समय और उत्कृष्टस्थिति १८ समय है तो दस से लेकर अठारह तक स्थिति के नौ भेद होते हैं, जिन्हें स्थितिस्थान कहते हैं। ये स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर संख्यात गुणे हैं किन्तु द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के स्थितिस्थान सबसे कम हैं।
२ उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं।
३ उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
४ उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
५ उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं।
६ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
७ उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
८ उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
९ उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
१० उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
११ उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।
१२ उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं।

---

1 तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य [illegible] सर्वोत्कृष्टस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते। —पंचम कर्मग्रन्थ टीका पृ० ५५

१३ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।
१४ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे है।

इस प्रकार स्थिति के प्रमाण मे वृद्धि के साथ स्थितिस्थानो की भी संख्या बढती जाती है।

योग के प्रसंग मे योगो के अल्पबहुत्व, स्थितिस्थानो का निरूपण करने के बाद अब अपर्याप्त जीवो के प्रति समय जितने योग की वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं।

पइखणमसंखगुणविरिय अपज्ज पइठिइमसंखलोगसमा।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

शब्दार्थ—पइखण—प्रत्येक समय मे, असखगुणविरिय—असख्यात गुणा वीर्य वाले, अपज—अपर्याप्त जीव, पइठिइं—प्रत्येक स्थितिबध मे, **असंखलोगसमा**—असख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **अहिया**—अधिक, **सत्तसु**—सात कर्मों मे, **आउसु**—आयुकर्म मे, **असंखगुणा**—असख्यात गुणा।

गाथार्थ—अपर्याप्त जीव प्रत्येक समय असंख्यात गुणे वीर्य वाले होते हैं और प्रत्येक स्थितिबंध में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय होते हैं। सात कर्मों मे तो स्थितिबंध के अध्यवसाय विशेषाधिक और आयुकर्म मे असंख्यात गुणे होते है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे स्थितिस्थानो का प्रमाण बतलाया है। अब यहां बतलाते हैं कि अपर्याप्त जीवो के योगस्थानो में प्रति समय असंख्यात गुणी वृद्धि होती है किन्तु पर्याप्त जीवो मे ऐसा नही होता है। यह असंख्यात गुणी वृद्धि उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समझना चाहिए—

मनोवि अपज्जत्तो पइखण असखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइत्ति।
एत एक स्थितिस्थान के कारण असख्यात अध्यवसायस्थान होते है।

स्थितिबध के कारण कपायजन्य आत्मपरिणामो को अध्यवसायस्थान कहते हैं। कपायो के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मद, मदतर, मदतम रूप मे उदय होने से अध्यवसायस्थानो के अनेक भेद हो जाते हैं। एक स्थितिबध का कारण एक ही अध्यवसायस्थान नहीं है किन्तु अनेक अध्यवसायस्थान है। अर्थात् एक ही स्थिति नाना जीवो को नाना अध्यवसायस्थानो से बधती है। जैसे कुछ व्यक्तियो ने दो सागर प्रमाण की देवायु का बध किया हो लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उन सबके सर्वथा एक जैसे परिणाम हो। इसीलिए एक एक स्थिति स्थान के कारण अध्यवसायस्थान असख्यात लोकप्रमाण कह जाते है।

आयुकर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के अध्यवसायस्थान विशेषाधिक है। जैसे ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति के कारण अध्यवसायस्थान सबसे कम हैं, उससे द्वितीय स्थितिस्थान के कारण अध्यवसाय अधिक हैं, उससे तृतीय स्थितिस्थान के कारण अध्यवसायस्थान अधिक हैं। इसी प्रकार चौथे, पाचवें यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक समझना चाहिए। लेकिन इन सबका सामान्य से प्रमाण असख्यात लोकप्रमाण ही है। ज्ञानावरण की तरह दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय नाम, गोत्र और अतराय कर्म की द्वितीय आदि स्थिति से लेकर अपने अपने उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त अध्यवसायस्थानो की सख्या अधिक-अधिक जानना चाहिए।

लेकिन आयुकर्म मे अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर असख्यात गुणे हैं। अर्थात् चारो ही आयुकर्मों के जघन्य स्थितिबध के कारण अध्यवसायस्थान असख्यात लोक प्रमाण हैं और उसके बाद उनके दूसरे स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान उससे असंख्यात गुणे हैं,

तृतीय स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान उससे भी असंख्यात गुणे है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त अध्यवसायस्थानो की संख्या असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणी समझना चाहिये।

इस प्रकार से स्थितिबंध की अपेक्षा सब कर्मों के अध्यवसाय स्थानो को बतलाकर अब उन प्रकृतियो के नाम और उनका अबन्ध-काल बतलाते है, जिनको पंचेन्द्रिय जीव अधिक-से-अधिक कितने काल तक नही बाँधते है।

तिरिनरयतिजोयाण नरभवजुय सच्चउपल्ल तेसट्ठं।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥
अपढमसघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणतिग।
निय नपु इत्थि दुतीसं पणिदिसु अबन्धठिइ परमा ॥५७॥

शब्दार्थ—**तिरिनरयति** तिर्यंचत्रिक और नरकत्रिक, **जोयाण**—उद्योत नामकर्म का, **नरभवजुय**—मनुष्य भव सहित, **सच्चउपल्ल**—चार पल्योपम सहित, **तेसट्ठं**—त्रेसठ (अधिक सौ सागरोपम), **थावरचउ**—स्थावर चतुष्क, **इगविगलायवेसु**—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और आतप नामकर्म मे, **पणसीइसय**—एक सौ पचासी, **अयरा**—सागरोपम ॥

अपढमसंघयणागिइखगई—पहले के सिवाय शेष संहनन और संस्थान और विहायोगति, **अण**—अनतानुबधी कषाय, **मिच्छ**—मिथ्यात्व मोहनीय, **दुभगथीणतिग**—दुर्भगत्रिक स्त्यानर्द्धित्रिक, **निय**—नीच गोत्र, **नपुइत्थि**—नपुसकवेद, स्त्रीवेद, **दुतीसं**—बत्तीस (नरभवसहित एकसौ बत्तीस सागरोपम), **पणिदिसु**—पचेन्द्रिय मे, **अबन्धठिइ**—अबन्ध स्थिति, **परमा**—उत्कृष्ट।

गाथार्थ—तिर्यंचत्रिक, नरकत्रिक और उद्योत नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पल्योपम अधिक एकसौ त्रेसठ

सागरोपम उत्कृष्ट अबाधाकाल है। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रिय और आतप नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पल्योपम अधिक एकसौ पचासी सागरोपम उत्कृष्ट अबाधाकाल जानना चाहिए।

पहले सहनन और सस्थान व विहायोगति के सिवाय शेष पाच सहनन, पाच सस्थान, विहायोगति, अनतानुबधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र, नपुसक वेद और स्त्री वेद की अबाधस्थिति मनुष्य भव सहित एकसौ बत्तीस सागरोपम है। इन प्रकृतियो की अबाधस्थिति पचेन्द्रिय म जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ म उन उत्तर प्रकृतियो के नाम बतलाये है जिनका उत्कृष्ट अबाधाकाल पचेन्द्रियो म है। इन प्रकृतियो की कुल सख्या ४१ है जो पहले और दूसरे गुणस्थान म बधयोग्य है। पहले गुणस्थान म बधयोग्य सोलह और दूसरे गुणस्थान मे बध योग्य पच्चीस प्रकृतिया है। साराश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियो का बध उन्ही जीवो को होता है जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थान म होते है। जो जीव इन गुणस्थानो को छोडकर आगे बढ जाते है उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियो का बध तब तक नही होता है जब तक वे पुन उन गुणस्थानो म नही आते है। दूसरे गुणस्थान म आगे पचेन्द्रिय जीव ही जाते है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो के पहले, दूसरे के सिवाय आगे के गुणस्थान नही होते है। इसीलिए गाथा म बताई गई इकतालीस प्रकृतियो के अबाधाकाल का पचेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा बताया है।

किन्तु यहा इतना समझना चाहिए कि जो पचेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते है, उनके भी उक्त इकतालीस प्रकृतियो का बध

तब तक नही हो सकता जब तक वे सम्यक्त्व से च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थान मे नही आते, किन्तु पहले अथवा दूसरे गुण-स्थान मे आने पर भी कभी-कभी उक्त प्रकृतिया नही वंधती है। इन सब बातो को ध्यान मे रखकर उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट अबन्ध-काल को इन दो गाथाओ मे बतलाया है।

इन इकतालीस प्रकृतियो को तीन भागो मे विभाजित कर अबंध-काल बतलाया है। पहले भाग मे सात, दूसरे भाग मे नौ और तीसरे भाग मे पच्चीस प्रकृतियों का ग्रहण किया है। पहले भाग मे ग्रहण की गई सात प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—तिर्यंचत्रिक (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु) और उद्योत। इनका उत्कृष्ट अबन्धकाल—नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं—मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—कोई जीव तीन पल्य की आयु बाधकर देवकुरु भोगभूमि मे उत्पन्न हुआ। वहा उसके उक्त सात प्रकृतियो का बंध नही होता है। क्योकि ये सात प्रकृतियां नरक, तिर्यंच गति योग्य है, अतः इन प्रकृतियो का बंध वही करता है जो नरकगति या तिर्यंचगति मे जन्म ले सकता है। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियम से देव ही होते है। अत. इन नरक, तिर्यंच गति योग्य प्रकृतियो का बंध नही करते है। इसके बाद भोगभूमि मे सम्यक्त्व को प्राप्त करके वह एक पल्य की स्थिति वाले देवो मे उत्पन्न हुआ, अत' सम्यक्त्व होने के कारण वहा भी उसने उक्त सात प्रकृतियो का बंध नही किया। इसके बाद देवगति मे सम्यक्त्व सहित मरण करके मनुष्यगति मे जन्म लेकर और दीक्षा धारण कर नौवे ग्रैवेयक मे ३१ सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यादृष्टि हो गया। मिथ्यादृष्टि हो जाने पर भी ग्रैवेयक देवो के उक्त सात प्रकृतिया जन्म से ही न बंधने

के कारण उनका वध नही हुआ। वहा मरते समय क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति मे जन्म लेकर महाव्रत धारण करके दो वार विजयादिक मे जन्म लेकर पुन मनुष्य हुआ। वहा अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे मिश्र गुणस्थान[1] मे चला गया। पुन क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन वार अच्युत स्वर्ग मे जन्म लिया। इस प्रकार ग्रैवेयक के ३१ सागर, विजयादिक मे दो वार जन्म लेने के ६६ सागर और तीन वार अच्युत स्वर्ग मे जन्म लेने मे वहा के ६६ सागर मिलाने से १६३ सागर होते हैं। इसमे देवकुरु भोगभूमिज की आयु तीन पल्य, देवगति की आयु एक पल्य इस प्रकार चार पल्य और मिला देना चाहिए। बीच मे जो मनुष्यभव धारण किये उन्हे भी उसमे जोडकर मनुष्यभव सहित चार पल्य अधिक एक सौ त्रेसठ सागरोपम उक्त सात प्रकृतिया का अबंधकाल होता है।[2]

---

१ कार्मग्रन्थिक मत से चौथे गुणस्थान से च्युत होकर जीव तीसरे गुणस्थान मे आ सकता है। लेकिन सैद्धान्तिक मत इसके विरुद्ध है—

मिच्छत्ता सकंती अविरुद्धा होई सम्मसीसेसु।
मीसाउ वा दोसु सम्मा मिच्छ न उण मीसं ॥ —वृहत्क० भाष्य ११४

—जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे और चौथे गुणस्थान मे जा सकता है इसमे कोई विरोध नही है तथा मिश्र गुणस्थान से भी पहले और चौथे गुणस्थान मे जा सकता है, किंतु सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व मे जा सकता है मिश्र गुणस्थान मे नही जा सकता है।

२ पलियाइ तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चय पलियमेग।
मोहम्म सम्मतेण नरभवे सव्वविरईए ॥
मिच्छो भवपच्चइओ गविज्ज सागराइ इगतीस।
आमुहूणाइ सम्मत्त तम्मि लहिऊण ॥
विजयनरभवारिओ अन्तरमुहो उ अयर छावट्ठी।
मिस्स मुन्तासग फासिय सासुओ पुणो विरओ ॥
छावट्ठी अयराण अच्चुए विजयनरभवन्तरिओ।
निरिनरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबधम्मि ॥

इस अवन्धकाल को वतलाने मे जो ग्रैवेयक मे सम्यक्त्व से पतन वतलाया है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूरा हो जाने के कारण वतलाया है। इसी प्रकार विजयादिक मे ६६ सागर पूर्ण कर लेने के वाद मनुष्य भव मे जो अन्तमुंहूर्त के लिए तीसरे गुण-स्थान मे गमन वतलाया है, वह भी सम्यक्त्व के ६६ सागर पूरे हो जाने के कारण ही वतलाया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है।

दूसरे भाग मे स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय, विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और आतप इन नौ प्रकृतियो को ग्रहण किया है। ये नौ प्रकृतिया एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय प्रायोग्य है। इनका उत्कृष्ट अवन्धकाल मनुष्य भव सहित चार पल्य अधिक एक सौ पचासी सागर वतलाया है। जो इस प्रकार है—कोई जीव २२ सागर की स्थिति को लेकर छठे नरक मे उत्पन्न हुआ। वहाँ इन प्रकृतियो का बंध नही होता है। क्याकि नरक से निकलकर जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक होता है, एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय नही। वहा मरते समय सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य-गति मे जन्म हुआ और अणुव्रती होकर मरण करके चार पल्य की आयु वाले देवो मे उत्पन्न हुआ। वहा से च्युत होकर मनुष्य पर्याय मे जन्म लेकर महाव्रत धारण करके नौवे ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की स्थिति वाला देव हुआ। वहा अन्तमुंहूर्त के वाद मिथ्यादृष्टि हो गया। अन्त समय मे सम्यग्दृष्टि होकर मनुष्य पर्याय मे जन्म लेकर महाव्रत पालन करके दो वार विजयादिक मे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार ६६ सागर पूरे किये। पहले की तरह मनुष्य पर्याय मे अन्तमुंहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर पुन. सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन वार अच्युत स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार दूसरी वार ६६ सागर पूर्ण

किये। इन सब कालो को जोडने से मनुष्य भव सहित चार पल्य अधिक २२+३१+६६+६६=१८५ सागर उत्कृष्ट अबंधकाल होता है।[1]

तीसरे भाग मे ग्रहण की गई २५ प्रकृतिया के नाम इस प्रकार है—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त सहनन, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड सस्थान, अशुभ विहायोगति, अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानर्द्धि, नीच गोत्र, नपुसकवेद, स्त्रीवेद।

इन पच्चीस प्रकृतिया का अबधकाल मनुष्यभव सहित १३२ सागर है। जो इस प्रकार जानना चाहिए कि कोई जीव महाव्रत धारण कर मरकर दो बार विजयादिक मे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूर्ण किया। पुन मनुष्यभव मे अन्तर्मुहूर्त के लिये मिश्र गुणस्थान मे आकर और पुन सम्यक्त्व प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्ग मे जन्म लेकर दूसरी बार सम्यक्त्व का काल ६६ सागर पूर्ण किया। इस प्रकार ६६+६६=१३२ हुए। इसी लिये उक्त पच्चीस प्रकृतिया का उत्कृष्ट अबधकाल मनुष्यभव सहित १३२ सागर होता है।[2]

इस प्रकार से उक्त इकतालीस प्रकृतिया का उत्कृष्ट अबधकाल बतलाकर अब आगे यह बतलाते हैं कि उक्त प्रकृतिया का उत्कृष्ट

---

१ छट्ठीए नरइओ भवपच्चयओ उ अयर बावीस।
सम्मविरओ य भविउ पलियचउक्क पढमकप्पे।
पुव्वुत्तकालजोगा पणसीय सय सचउपल्ल।
आयवथावरचउविगलतियएगिदिय अबधो॥

२ पणवीसाए अबधो उक्कोसो होइ सम्मगोगजुए।
बत्तीस सयमयरा दो विजए अच्चुए तिभवा॥

अवन्धकाल १६३ सागर आदि क्यों है ? और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण क्या है ?

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो पल्लतिग सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

शब्दार्थ—विजयाइसु—विजयादिक मे, गेविज्जे—ग्रैवेयक मे, तमाई—तम प्रभा नरक मे, दहिसय—एक सौ सागरोपम, दुतीस—बत्तीस, तेसट्ठं—त्रेसठ सागरोपम, पणसीइ—पचासी सागरोपम, सययबंधो—निरन्तर बंध, पल्लतिग—तीन पल्य, सुरविउव्विदुगे—सुरद्विक और वैक्रियद्विक मे ।

गाथार्थ—विजयादिक में, ग्रैवेयक और विजयादिक मे तथा तम प्रभा और ग्रैवेयक मे गये जीव की उत्कृष्ट अवन्धस्थिति अनुक्रम से एक सौ बत्तीस, एक सौ त्रेसठ और एक सौ पचासी सागरोपम मनुष्यभव सहित होती है । देवद्विक और वैक्रियद्विक का निरन्तर बंधकाल तीन पल्य है ।

विशेषार्थ—इससे पूर्व की दो गाथाओ मे जो ४१ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अवन्धकाल बतलाया वह किस प्रकार घटित होता है, इसका संकेत यहां किया गया है तथा अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियो मे से कुछ प्रकृतियो के निरन्तर बंधकाल को बतलाया है ।

यद्यपि अबंधकाल का स्पष्टीकरण पूर्व की दो गाथाओ के भावार्थ मे कर दिया गया है, तथापि प्रसंगवशात् पुन यहा भी करते है ।

एक सौ बत्तीस सागर इस प्रकार होते है कि विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानो मे से किसी एक विमान मे दो बार जन्म लेने पर एक बार के ६६ सागर पूर्ण होते है । फिर अन्तर्मुहूर्त के लिये तीसरे गुणस्थान मे आकर पुन अच्युत स्वर्ग मे तीन बार

जन्म लेन से दूमरी वार के ६६ सागर पूण हात हैं। इन प्रकार विजयादिक मे जन्म लेने मे १३२ मागर पूण हात ह।

एक मा त्रेमठ मागर इम प्रकार हाते हैं कि नान ग्रैवयक मे इक्तीस मागर की आयु भोगकर वहा म च्युत होकर मनुष्यगति मे जन्म लेकर पूव की तरह विजयादिक म दो वार जाने से दो वार छियामठ सागर पूण करने पर एक मौ त्रेमठ मागर पूण हाने ह।

एक मा पचासी मागर होने के लिये इम प्रकार समझना चाहिए कि तम प्रभा नामक छठे नरक मे वाईस सागर की स्थिति पूण कर उसके वाद नौव ग्र वेयक म इक्तीस सागर की आयु भोगकर उसके वाद विजयादिक म दो वार छियामठ सागर पूरे करने मे एक सौ पचामी मागर का अन्तराल होता है।

इम प्रकार इक्तालीम प्रकृतिया अधिक-से अधिक इनन काल तक पचेन्द्रिय जीव के वध को प्राप्त नही होनी ह।

अध्रुवबधिनी प्रकृतिया के निरन्तर बधकाल के जघन्य व उत्कृष्ट प्रमाण का विवेचन प्रारभ करत हुए मवप्रथम उत्कृष्ट वंधकाल वतलान कि—पल्लतिग सुरविउव्विदुगे—यानी देवद्विक (देवगति आर देवानुपूर्वी) तथा वक्रियद्विक (वक्रिय शरीर, वक्रिय अगोपाग) इन चार प्रकृतिया का वध यदि वगवर होता रहे तो अधिक-से-अधिक तीन पल्य तक हा मकता है।

इसका कारण यह है कि भोगभूमिज जीव जन्म मे ही देवगति के योग्य इन चार प्रकृतिया का तीन पल्यापम काल तक वगवर वाधने ह। क्योंकि भोगभूमिज जीवा क नरक, तिर्यंच और मनुष्यगति के योग्य नामकम की प्रकृतियो का वध नही होता है। इनकि परिणामो मे उत्तरपक्ष पर भी इन चार प्रकृतिया की किसी विरोधिनी प्रकृति का वध नही होता है।

अब आगे की चार गाथाओं में शेष प्रकृतियों के नाम गिनाकर उनके निरन्तर बंध के समय को बतलाते हैं।

समयादसंखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अतमुहू ।
उरलि असखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५६॥
जलहिसयं पणसीयं परघुस्सासे पणिदितसचउगे ।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥
असुखगइजाइआगिइ सघयणाहारनरयजोयदुग ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसायं ॥६१॥
समयादतमुहुत्तं मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥६२॥

शब्दार्थ—समयादसखकाल—एक समय से लेकर असंख्य काल तक, तिरिदुगनीएसु - तिर्यचद्विक और नीचगोत्र का, आउ आयुकर्म का, अतमुह—अन्तर्मुहूर्त तक, उरलि—औदारिक शरीर का, असख परट्टा—असंख्यात पुद्गल परावर्त, सायठिई—सातावेदनीय का बंध, पुव्वकोडूणा—पूर्व कोटि वर्ष से न्यून ।

जलहिसयं—एक सौ सागरोपम, पणसीयं - पचासी, परघुस्सासे—पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का, पणिदि पचेन्द्रिय जाति का, तसचउगे - त्रसचतुष्क का, बत्तीसं—बत्तीस, सुहविहगइ - शुभ विहायोगति, पुम—पुरुष वेद, सुभगतिग—सुभगत्रिक, उच्च—उच्चगोत्र, चउरसे—समचतुरस्रसंस्थान का ।

असुखगइ—अशुभ विहायोगति, जाइ—एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक जाति, आगिइसघयण—पहले के सिवाय पांच संस्थान और पांच संहनन, आहारनरयजोयदुग—आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, थिरसुभजस – स्थिर, शुभ, यश कीर्ति नाम,

थावरदस—स्थावर दशक, नपुइत्थी—नपुसक वेद स्त्री वेद, दुजुयल – दो युगल असाय—असाता वेदनीय का।

समयादतमुहुत्त—एक समय से लेकर अतमुहूत पयन्त मणुदुग—मनुष्यद्विक, जिण—तीर्थंकर नामकम वइर—वज्र ऋपभनाराच सहनन, उरलुवगेसु—औदारिक अगोपाग का, तित्ती सयरा—तेतीस सागरोपम परमो—उत्कृष्ट बध अतमुहू – अत मुहूत लहु वि – जघन्य बध भी आउजिणे—आयुकम और तीर्थंकर नाम का।

गाथाथ—तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र का एक समय से लेकर असंख्यात काल तक निरतर बध होता है। आयुकर्म का अन्तमुहूत, औदारिक शरीर का असख्यात पुद्‌गल परावत और साता वेदनीय का कुछ कम पूव कोडी तक निरतर बध होता है।

पराघात, उच्छ्वास, पचेद्रिय जाति और त्रसचतुष्क का एकसौ पचासी सागरोपम निरतर बध होता है। शुभ विहायोगति, पुरुष वेद, सुभगत्रिक, उच्च गोत्र और समचतुरस्र संस्थान का उत्कृष्ट निरतर बध एक सौ बत्तीस सागरोपम होता है।

अशुभ विहायोगति, एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक अशुभ जातिचतुष्क, पहले के सिवाय पाच सस्थान, पाच सहनन, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यश -कीर्ति नामकम, स्थावर दशक, नपुसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल और असाता वेदनीय का—

एक समय से लेकर अन्तमुहूत पयन्त निरन्तर बध होता है। मनुष्यद्विक, तीर्थंकर नामकम, वज्रऋपभनाराच

संहनन और औदारिक अंगोपाग नामकर्म का तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट सतत वंध होता है। चार आयु और तीर्थकर नामकर्म का जघन्य निरंतर वंध भी अन्तर्मुहूर्त होता है।

विशेषार्थ— इन चार गाथाओ मे अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के नाम तथा उनके निरंतर वन्ध होने के उत्कृष्ट समय को वतलाया है। इन प्रकृतियो के निरंतर वन्ध होने के जघन्य समय का संकेत इसलिये नही किया है क्योकि अध्रुववन्धिनी होने से एक समय के वाद भी इनका वन्ध रुक सकता है।

सभी प्रकृतियो का निरंतर वन्धकाल समान नही होने से समान समय वाली प्रकृतियो के वर्ग वनाकर उन-उन के वन्ध का समय वतलाया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किये जा रहा है।

तिर्यचद्विक (तिर्यचगति, तिर्यंचानुपूर्वी) और नीच गोत्र का वन्धकाल एक समय से लेकर असंख्यात काल हो सकता है— समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु। इसका कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतिया जघन्य से एक समय तक वंधती है, क्योकि दूसरे समय मे इनकी विपक्षी प्रकृतियो का वन्ध हो सकता है। किन्तु जव कोई जीव तेजस्काय और वायुकाय मे जन्म लेता है तो उसके तिर्यंचद्विक व नीच गोत्र का निरंतर वन्ध होता रहता है, जव तक वह उस काय मे वना रहता है। तेजस्काय और वायुकाय के जीवो मे तिर्यचद्विक के सिवाय अन्य किसी गति और आनुपूर्वी का वन्ध नही होता और न उच्च गोत्र का ही। तेजस्काय व वायुकाय मे जन्म लेने वाला जीव लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते है, अधिक-से-अधिक उतने समय तक वरावर तेजस्काय व वायुकाय मे जन्म लेता रहता है। इसीलिए इन तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट निरन्तर वन्धकाल असंख्यात समय अर्थात्

असख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी बतलाया है। सातवें नरक म भी इन तीन प्रकृतिया का निरन्तर बध होता रहता है।

आयुकम की चारो प्रकृतियो—नरक, तियच, मनुष्य और देवायु का जघन्य और उत्कृष्ट बधकाल अन्तमुहूत है—आउ अतमुहू। क्योकि आयुकम का एक भव मे एक ही बार बध होता है और वह भी अधिक से अधिक अन्तमुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकम का एक समय से लेकर उत्कृष्ट बध काल असख्यात पुद्गल परावत है। क्याकि जीव एक समय तक औदारिक शरीर का बध करके दूसरे समय मे उसके विपक्षी वैक्रिय शरीर आदि का भी बध कर सकता है तथा असख्यात पुद्गल परावत का समय इसलिए माना जाता है कि स्थावरकाय मे जन्म लेन वाला जीव असख्यात पुद्गल परावत काल तक स्थावरकाय म पडा रह सकता है। तब उसके औदारिक के सिवाय अन्य किसी भी शरीर का बध नही होता है।

'सायठिइ पुव्वकोडूणा' साता वेदनीय का उत्कृष्ट बधकाल कुछ कम एक पूव कोटि है। जब कोई जीव एक समय तक साता वेदनीय का बध करके दूसरे समय मे उसकी प्रतिपक्षी असाता वेदनीय का बध करता है तब तो उसका काल एक समय ठहरता है और जब कोई कमभूमिज मनुष्य आठ वष की उम्र के पश्चात जिन दीक्षा धारण करके केवलज्ञान।प्राप्त कर लेता है तब उसके कुछ अधिक आठ वष कम एक पूव कोटि काल तक निरतर साता वेदनीय का बध होता रहता है। क्योकि छठे गुणस्थान के बाद साता वदनीय की विरोधिनी असाता वेदनीय प्रकृति का बध नही होता है तथा कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूव कोटि की होती है, अत

साता वेदनीय का निरन्तर उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि बतलाया है।[1]

एक सौ पचासी सागर तक निरन्तर बन्धने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं – 'परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे—पराघात, उच्छ्वास, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसचतुष्क, कुल ये सात प्रकृतियां हैं। इन प्रकृतियों के अध्रुवबन्धिनी होने से कम-से-कम इनका निरन्तर बन्धकाल एक समय है। क्योंकि एक समय के बाद इनकी विपक्षी प्रकृतियां इनका स्थान ले लेती हैं तथा उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ पचासी सागर है।

यद्यपि गाथा में उक्त सात प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध के उत्कृष्ट समय को एक सौ पचासी सागर बताया है और पचसंग्रह में भी इसी प्रकार कहा है। लेकिन इसके साथ चार पल्य अधिक और जोड़ना चाहिये।[2] क्योंकि इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों का जितना अबन्धकाल होता है उतना ही इनका बन्धकाल है। गाथा ५६ में इनकी प्रतिपक्षी स्थावरचतुष्क आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पल्य अधिक एकसौ पचासी सागरोपम बतलाया है, अतः इनका बन्ध-

---

१ देशोनपूर्वकोटिमात्रवनात्वेषा – इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान् सातिरेकान् गमयति, जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात्।

—पचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ० ७६

२ इह च 'सचतुःपल्यम' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतु:पल्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम्। यतो यावानतेद्विपक्षस्याबन्धकालस्तावानेवासां बन्धकाल इति। पचसंग्रहादौ च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विद्म इति।

—पचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० ६०

काल उतना ही समझना चाहिये। क्योंकि उनके अबन्धकाल मे ही इनका बध हो सकता है। इस समयप्रमाण को इस प्रकार समझना चाहिए कि—

कोई जीव बाईस सागर प्रमाण स्थितिबध करके छठे नरक मे उत्पन्न हुआ, वहा पराघात आदि इन सात प्रकृतियो की प्रतिपक्षी प्रकृतियो का बध न होने से इन सात प्रकृतियो का निरन्तर बन्ध किया और अतिम समय मे सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति मे जन्म लिया। यहा अणुव्रतो का पालन करके चार पल्य की स्थिति वाले देवो मे जन्म लिया और सम्यक्त्व सहित मरण करके पुन मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके मरकर नौवें ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की आयु वाला देव हुआ। वहा मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुन सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य हुआ। वहा से तीन बार मर-मरकर अच्युत स्वर्ग मे जन्म लिया और इस प्रकार छियासठ सागर पूर्ण किये। अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आया और उसके बाद पुन सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिक मे जन्म लेकर छियासठ सागर पूर्ण किये। इस प्रकार छठे नरक वगैरह मे भ्रमण करते हुए जीव को कहीं अवस्वभाव मे और कहीं सम्यक्त्व के कारण पराघात आदि प्रकृतियो का बध होता रहता है।

शुभ विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्र सस्थान इन सात प्रकृतियो का उत्कृष्ट निरतर बन्धकाल एकसौ बत्तीस[1]

---

१ पचसग्रह की टीका मे इन प्रकृतियो का निरतर बधकाल तीन पल्य अधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। वहा कहा है कि तीन पल्य की आयु वाला तिर्यच अथवा मनुष्य भव के अंत मे सम्यक्त्व को प्राप्त करके पहले बताये क्रम से १३२ सागर तक ससार मे भ्रमण करता है।

सागर है। अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां होने से इनका जघन्य बन्धकाल एक समय है लेकिन उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर होने का कारण यह है कि गाथा ५८ में इनकी विपक्षी प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बतलाया है, अतः इनका बन्धकाल इसी क्रम से उतना ही समझना चाहिये।

एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक बन्धने वाली इकतालीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

अशुभ विहायोगति, अशुभ जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), वज्रऋषभनाराच संहनन को छोडकर शेष ऋषभनाराच आदि पाच अशुभ संहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाच अशुभ संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर दशक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, युगलद्विक, (हास्य-रति और शोक-अरति) और असाता वेदनीय।

उक्त इकतालीस प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। ये प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं अतः अपनी-अपनी विरोधी प्रकृतियों की बन्धयोग्य सामग्री के होने पर इनका अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् बन्ध रुक जाता है। इन इकतालीस प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध होने के उत्कृष्ट काल को अन्तर्मुहूर्त मानने का कारण यह है कि साता वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यशःकीर्ति की विरोधिनी प्रकृतियां असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति का बन्ध छठे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक तो इनका निरन्तर बन्ध अन्तर्मुहूर्त तक होता है किन्तु उसके बाद के गुणस्थानों में भी इनका बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उन गुणस्थानों का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), तीर्थंकर नाम, वज्रऋषभ नाराच सहनन, औदारिक अगोपाग का निरन्तर बधकाल उत्कृष्ट से तेतीस सागर है। क्योकि अनुत्तरवासी देवो के मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियो का ही बध होता है। जिससे वे अपने जन्म समय से लेकर तेतीस सागर की आयु तक उक्त प्रकृतियो की विरोधिनी नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, देवद्विक, वैक्रियद्विक, पाच अशुभ सहनन ऋषभनाराच आदि का बध नही करते हैं। तीर्थंकर प्रकृति की कोई विरोधिनी प्रकृति नही है, अत उसका भी तेतीस सागर तक बराबर बध होता है।

मनुष्यद्विक आदि उक्त पाच प्रकृतियो मे से तीर्थकर प्रकृति के सिवाय चार प्रकृतियो का जघन्य बधकाल एक समय है, क्योकि उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ है।

सामान्यत यह बताया गया है कि अध्रुवबधिनी प्रकृतियो का जघन्य बधकाल एक समय है। लेकिन कुछ प्रकृतियो के जघन्य बध-काल मे विशेषता होने से ग्रन्थकार ने सकेत किया है कि 'लहु वि आउ-जिणे'—चार आयुकर्म और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य बधकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म और नरकायु आदि चार आयु, कुल पाच प्रकृतियो का उत्कृष्ट और जघन्य बंधकाल अन्तर्मुहूर्त ही है। न कि जघन्य बधकाल एक समय और उत्कृष्ट बंधकाल अन्तर्मुहूर्त है।

आयुकर्म के बधकाल के बारे मे पहले बता चुके हैं कि एक भव मे एक बार ही आयु का बंध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त के लिये ही होता है। तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई जीव तीर्थंकर प्रकृति का बध करके उपशम श्रेणि चढा, वहा आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध नही किया क्योकि तीर्थंकर प्रकृति के बंध का निरोध

आठवें गुणस्थान के छठे भाग मे ही हो जाता है। पुनः उपशम श्रेणि से गिरकर अन्तर्मुहूर्त तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके वह जीव उपशम श्रेणि चढा और वहा उसका अवन्धक हुआ। उस समय तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंधकाल अन्तर्मुहूर्त घटित होता है।

इस प्रकार से अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो के निरन्तर[1] बंधकाल के कथन के साथ स्थितिबंध का विवेचन पूर्ण होता है। अव आगे रसबंध (अनुभाग बंध) का विवेचन करते है।

रसबंध

बंध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और रस इन चार भेदो मे से प्रकृतिबंध और स्थितिबंध का वर्णन करने के बाद अब रसबंध अथवा अनुभाग बंध का वर्णन करते है। सबसे पहले ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियो के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणो को बतलाते है।

> तिव्वो असुहसुहाण संकेसविसोहिओ विवज्जयउ।
> मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहि ॥६३॥
> चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा।
> पुमसजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

शब्दार्थ—तिव्वो—तीव्ररस, असुहसुहाण— अशुभ और शुभ प्रकृतियो का, संकेसविसोहिओ—संक्लेश और विशुद्धि द्वारा, विवज्ज-

---

१ गो० कर्मकाड मे अध्रुवबंधिनी प्रकृतियो का सिर्फ जघन्य बन्धकाल ही बतलाया है—

> अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊण।
> समओ छावट्ठीण बंधो तम्हा दुधा सेसा ॥ १२६

तीर्थंकर, आहारकद्विक और चार आयुओ के निरन्तर बंध होने का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष छियासठ प्रकृतियो के निरन्तर बन्ध का जघन्य काल एक समय है।

पढ—विपरीतता मे, मवरसो—मदरस गिरिमहिरयजलरेहा—पर्वत, पृथ्वी, रेती और जल की रेखा के सरिस—समान कसाएहि—कषाय द्वारा।

चउठाणाई—चतु स्थानादि, असुहा—अशुभ प्रकृतियो म, सुह न्नहा—शुभ प्रकृतियो म विपरीतता म विग्घदसघाइआवरणा—अतराय और देशघाती आवरण प्रकृतिया पुमसजलण—पुरुषवद और सज्वलन कषाय, इगदुतिचउठाणरसा—एक दो, तीन चार स्थानिक रसयुक्त सेसा—बाकी की प्रकृतिया दुगमाइ—दो आदि स्थानिक रसयुक्त।

गाथार्थ—अशुभ और शुभ प्रकृतियो का तीव्र रस अनुक्रम म संक्लेश और विशुद्धि के द्वारा बधता है। पर्वत, पृथ्वी, रेती और पानी म की गई रेखा के समान कषाय द्वारा—

अशुभ प्रकृतियो मे चतु स्थानिक आदि रस होता है और शुभ प्रकृतियो म विपरीतता द्वारा चतु स्थानिक आदि रस होता है। पाच अतराय, देशघाती आवरण करने वाली प्रकृतियाँ, पुरुषवेद और संज्वलन कषाय चतुष्क, ये प्रकृतिया एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रस युक्त और बाकी की प्रकृतिया द्विस्थानिक आदि तीन प्रकार क रसयुक्त बधती है।

विशेषार्थ—[illegible] मे [illegible] व्याप्त है। [illegible] परमाणुओ [illegible] किसी प्रकार का [illegible] शक्ति [illegible] रहती है। किन्तु जब वे जीव के द्वारा [illegible] जाते है तब [illegible] परिणामो का निमित्त [illegible] [illegible] है।

इसीलिए बंध को प्राप्त कर्म पुद्गलों में फल देने की जो शक्ति होती है, उसे रसबंध अथवा अनुभाग बंध कहते हैं। इसको अब उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुंचकर वह दूध के रूप में परिणत होता है तथा उसके रस में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। अर्थात् उसी सूखे घास को खाकर ऊंटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई भी बहुत अधिक होती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई है तथा बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढ़ापन व चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते हैं। जो यथासमय अपना फल देते हैं।

जैसे ऊंटनी के दूध में अधिक शक्ति होती है और बकरी के दूध में कम। वैसे ही शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का अनुभाग तीव्र भी होता है और मंद भी। अर्थात् अनुभाग बंध के दो प्रकार हैं—तीव्र अनुभाग बंध और मंद अनुभाग बंध। ये दोनों प्रकार के अनुभाग बंध शुभ प्रकृतियों में भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियों में भी। इसीलिये ग्रन्थकार ने अनुभाग बंध का वर्णन शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणों को बतलाते हुए प्रारंभ किया है।

अशुभ और शुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध होने के कारणों को बतलाते हुए कहा है कि संक्लेश परिणामों से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बंध होता है और विशुद्ध भावों से शुभ

प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा इससे विपरीत भावों से मन्द अनुभाग बंध होता है अर्थात विशुद्ध भावों में अशुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध तथा संक्लेश भावों से शुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध होता है।

अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को नीम वगैरह के कडुवे रस की उपमा और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को ईख के रस की उपमा दी जाती है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे नीम का रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतियों को अशुभ फल देने के कारण उनका रस बुरा समझा जाता है। ईख का रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियों का रस सुखदायक होता है।

अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों के तीव्र और मंद रस की चार चार अवस्थायें होती हैं। जिनका प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथा २ की व्याख्या में संकेत मात्र किया गया है। यहाँ कुछ विशेष रूप से कथन करते हैं।

तीव्र और मंद रस की अवस्थाओं के चार-चार प्रकार इस तरह हैं—१ तीव्र, २ तीव्रतर, ३ तीव्रतम, ४ अत्यन्त तीव्र और १ मंद, २ मंदतर, ३ मंदतम और अत्यन्त मंद। यद्यपि इनके असंख्य प्रकार हैं यानी एक एक के अनन्त प्रकार जानना चाहिये लेकिन उन सबका समावेश इन चार स्थानों में हो जाता है। इन चार प्रकारों को क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है। अर्थात एकस्थानिक से तीव्र या मंद, द्विस्थानिक से तीव्रतर या मंदतर, त्रिस्थानिक से तीव्रतम या मंदतम और चतुःस्थानिक से अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मंद का ग्रहण करना चाहिये। इनको इस तरह समझना चाहिये कि जैसे नीम का तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से ही कटुक होता है जो उसकी तीव्र अवस्था है। जब उस रस

को अग्नि पर पकाने से सेर का आधा सेर रह जाता है तो वह कटुकतर हो जाता है, यह अवस्था तीव्रतर है। सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम हो जाता है, यह तीव्रतम अवस्था है और जब सेर का पाव भर रह जाता है जो अत्यन्त कटुक है, यह अत्यन्त तीव्र अवस्था होती है। यह अशुभ प्रकृतियो के तीव्र रस (अनुभाग) की चार अवस्थाओं का दृष्टान्त है। शुभ प्रकृतियो के तीव्र रस की चार अवस्थाओ का दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे ईख के पेरने पर जो स्वाभाविक रस निकलता है, वह स्वभाव से मधुर होता है। उस रस को आग पर पका कर सेर का आधा सेर कर लिया जाता है तो वह मधुरतर हो जाता है और सेर का एक तिहाई रहने पर मधुरतम और सेर का पाव भर रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इस प्रकार तीव्र रस की चार अवस्थाओ को समझना चाहिये।

अब मंद रस की चार अवस्थाओं को स्पष्ट करते है। जैसे नीम के कटुक रस या ईख के मधुर रस मे एक चुल्लू पानी डाल देने पर वह मंद हो जाता है। एक गिलास पानी डालने पर मंदतर, एक लोटा पानी डालने पर मन्दतम तथा एक घड़ा पानी डालने पर अत्यन्त मंद हो जाता है। इसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियो के मंद रस की मंद, मंदतर, मन्दतम और अत्यन्त मंद अवस्थायें समझना चाहिये।

इस तीव्रता और मंदता का कारण कषाय की तीव्रता और मंदता है। तीव्र कषाय से अशुभ प्रकृतियो मे तीव्र और शुभ प्रकृतियो मे मंद अनुभाग बंध होता है और मंद कषाय से अशुभ प्रकृतियो मे मंद और शुभ प्रकृतियो मे तीव्र अनुभाग बंध होता है। अर्थात् संक्लेश परिणामो की वृद्धि और विशुद्ध परिणामो की हानि से अशुभ प्रकृतियो का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र तथा शुभ प्रकृतियो का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद अनुभाग बंध होता है और विशुद्ध परिणामो की वृद्धि तथा संक्लेश परिणामो की हानि से शुभ प्रकृतियो

का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद अनुभाग बंध होता है।

अब तीव्र और मंद अनुभाग बंध के उक्त चार चार भेदों के कारणों का निर्देश करते हैं कि 'गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहिं'—पर्वत की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान, धूलि की रेखा के समान और जल की रेखा के समान कषाय परिणामों से क्रमशः अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), तीव्रतम (त्रिस्थानिक), तीव्रतर (द्विस्थानिक) और तीव्र (एकस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। यह संकेत अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा से किया गया है और शुभ प्रकृतियों में इसके विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् जल व धूलि रेखा के समान परिणामों से अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), पृथ्वी की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतम (त्रिस्थानिक) और पर्वत की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतर (द्विस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। शुभ प्रकृतियों में तीव्र (एकस्थानिक) रस बंध नहीं होता है, जिसका विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व में यह बताया गया है कि अनुभाग बंध का कारण कषाय है और तीव्र, तीव्रतर आदि व मंद, मंदतर आदि चार-चार भेद अनुभाग बंध के होते हैं। इनका कारण हेतु कषायिक परिणामों की अवस्थायें हैं। कषाय के चार भेद हैं क्रोध, मान, माया और लोभ और इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थायें होती हैं। अर्थात् क्रोध कषाय की चार अवस्थायें होती हैं। इसी प्रकार मान की, माया की और लोभ की चार चार अवस्थायें होती हैं। जिनके नाम क्रमशः अनन्तानुबंधी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कषाय हैं। शास्त्रकारों ने इन चारों कषायों के लिये चार उपमायें दी हैं। जिनका संकेत गाथा में किया गया है। अनन्तानुबंधी कषाय

की उपमा पर्वत की रेखा से दी जाती है। जैसे पर्वत में पडी दरार सैकडो वर्ष वीतने पर भी नही मिटती है, वैसे ही अनन्तानुवंधी कषाय की वासना भी असंख्य भवो तक वनी रहती है। इस कपाय के उदय से जीव के परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट होते है और पाप प्रकृतियो का अत्यन्त तीव्र रूप चतु स्थानिक अनुभाग वंध करता है। किन्तु शुभ प्रकृतियो मे केवल मधुरतर रूप द्विस्थानिक ही रसवंध करता है, क्योकि शुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक रसवंध नही होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कपाय को पृथ्वी की रेखा की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे तालाब मे पानी सूख जाने पर जमीन मे दरारे पड जाती है और वे दरारे समय पाकर पुर जाती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है कि इस कषाय की वासना भी अपने समय पर शात हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर अशुभ प्रकृतियो मे भी त्रिस्थानिक रसबंध होता है और शुभ प्रकृतियो मे भी त्रिस्थानिक रसवंध होता है। अर्थात् कटुकतम और मधुरतम अनुभाग वंध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय को बालू या धूलि की रेखा की उपमा दी जाती है। जैसे वालू मे खीची गई रेखा स्थायी नही होती है, जल्दी ही पुर जाती है। उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषाय की वासना को समझना चाहिए कि वह भी अधिक समय तक नही रहती है। उस कषाय का उदय होने पर पाप प्रकृतियो मे द्विस्थानिक अर्थात् कटुकतर तथा पुण्य प्रकृतियो से चतु स्थानिक रसबंध होता है।

संज्वलन कपाय की उपमा जलरेखा से दी जाती है। जैसे जल मे खीची गई रेखा खीचने के साथ ही तत्काल मिटती जाती है, वैसे ही संज्वलन कषाय की वासना भी अन्तमुहूर्त मे ही नष्ट हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर पुण्य प्रकृतियो में चतु.स्थानिक रसवंध

होता है और पाप प्रकृतियों में केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुक रूप ही रसबंध होता है।

इस प्रकार अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय में अशुभ प्रकृतियों में क्रमश: चतु:स्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबंध होता है तथा शुभ प्रकृतियों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक रसबंध होता है।

अनुभाग बंध के चारों प्रकारों के कारण चारों कषायों को बतलाकर अब किस प्रकृति में कितने प्रकार का रसबंध होता है, यह स्पष्ट करते हैं।

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में ८२ अशुभ प्रकृतियाँ और ४२ शुभ प्रकृतियाँ हैं।[1] इन ८२ पाप प्रकृतियों में से अन्तराय कर्म की ५, ज्ञानावरण की केवलज्ञानावरण को छोड़कर शेष ४, दर्शनावरण की केवलदर्शनावरण को छोड़कर चक्षुदर्शनावरण आदि ३, संज्वलन कषाय चतुष्क और पुरुषवेद इन सत्रह प्रकृतियों में एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक, इस प्रकार चारों ही प्रकार का रसबंध होता है। क्योंकि ये सत्रह प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं। घाति कर्मों की जो सर्वघातिनी प्रकृतियाँ हैं उनके तो सभी स्पर्धक सर्वघाती ही हैं किन्तु देशघाति प्रकृतियों के कुछ स्पर्धक सर्वघाती होते हैं और कुछ स्पर्धक देशघाती। जो स्पर्धक त्रिस्थानिक और चतु:स्थानिक रस वाले होते हैं

---

१ वर्णचतुष्क का पुण्य और पाप दोनों रूप होने से दोनों में ग्रहण किया जाता है। जब उन्हें पुण्य प्रकृतियों में ग्रहण करें तब पाप प्रकृतियों में और पाप प्रकृतियों में ग्रहण करें तब पुण्य प्रकृतियों में ग्रहण नहीं करना चाहिए।

२ आवरणदेसघादंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं।
चदुविधभावपरिणदा तिविधा भावा हु सेसाणं ॥

—गो० कर्मकांड १८२

वे तो नियम से सर्वघाती ही होते है और जो स्पर्धक द्विस्थानिक रस वाले होते है, वे देशघाती भी होते हे और सर्वघाती भी, किन्तु एक-स्थानिक रस वाले स्पर्धक देशघाती ही होते है।[1] इसीलिये इन सत्रह प्रकृतियो का एक, द्वि, त्रि और चतु.स्थानिक, चारो प्रकार का रसवंध माना जाता है। इनका एकस्थानिक रसवन्ध तो नौवे गुणस्थान के संख्यात भाग वीत जाने पर वंधता है और नौवे अनिवृत्तिवादर गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानो मे द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु'स्थनिक रस-वध होता है किन्तु एकस्थानिक रसवन्ध नही होता है। क्योकि शेप प्रकृतियो मे ६५ पाप प्रकृतियाँ है और नौवें गुणस्थान के संख्यात भाग वीत जाने पर उनका वन्ध नही होता है। अर्थात् अशुभ प्रकृतियो का एकस्थानिक रसवन्ध नौवे अनिवृत्तिवादर गुणस्थान के संख्यात भाग के वीत जाने के वाद ही होता है और वहा अन्तराय आदि की उक्त १७ प्रकृतियो को छोडकर शेप अशुभ प्रकृतियो का वन्ध ही नही होता है। इसीलिये शेप ६५ प्रकृतियो का एकस्थानिक रसवन्ध नही होता है। इन ६५ प्रकृतियो मे केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का भी समावेश है। लेकिन इन दोनो प्रकृतियो के वारे मे यह समझना चाहिये कि इनका वन्ध दसवे गुणस्थान तक होता है, किन्तु इनके सर्व-घातिनी होने से इनमे एकस्थानिक रसवन्ध नही होता है।

शेप ४२ पुण्य प्रकृतियो मे भी एकस्थानिक रसवंध नही होता है। इसका कारण यह है कि जैसे ऊपर चढ़ने के लिये जितनी सीढियाँ चढनी पडती है, उतारने के लिये उतनी ही सीढिया उतरनी होती है। वैसे ही संक्लिष्ट परिणामी जीव जितने संक्लेश के स्थानों पर चढता

---

१ चउतिट्ठाणरसाइ सव्वविघाइणि होति फड्डाइ।
दुट्ठाणियाणिमीसाणि देसघाईणि सेसाणि॥

—पचसग्रह १४६

है, विशुद्ध भावो के होने पर उतने ही स्थानो से उतरता है तथा उप शम श्रेणि चढते समय जितने विशुद्धिस्थानो पर चढता है, गिरते समय उतने ही सक्लेशस्थानो पर उतरता है। इस प्रकार से तो जितने सक्लेश के स्थान, उतने ही विशुद्धि के स्थान है। किन्तु जब क्षपक श्रेणि की दृष्टि से विचार करते है तो विशुद्धि के स्थान सक्लेश के स्थानो से अधिक है। क्योकि क्षपक श्रेणि चढने वाला जीव जिन विशुद्धिस्थानो पर चढता है, उन से नीचे नही उतरता है यदि उन विशुद्धि के स्थानो के बराबर संक्लेशस्थान भी होते तो उपशम श्रेणि के समान क्षपक श्रेणि मे जीव का पतन अवश्य होता, किंतु ऐसा होता नही है, क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने के बाद जीव नीचे नहीं आता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि क्षपक श्रेणि मे विशुद्धि के स्थानो की सख्या अधिक है और सक्लेशस्थानो की सख्या विशुद्धि के स्थानो की अपेक्षा कम। विशुद्धिस्थानो के रहते हुए शुभ प्रकृतियो का केवल चतु स्थानिक ही रसबध होता है तथा अत्यन्त सक्लेश स्थानो के रहने पर शुभ प्रकृतियो का बध ही नही होता है। कोई जीव अत्यन्त सक्लेश के समय नरकगति योग्य वैक्रिय शरीर आदि शुभ प्रकृतियो का बध करते हैं, किंतु उनके भी भवस्वभाव के कारण उस समय द्विस्थानिक ही रसबध होता है तथा मध्यम परिणामो से बधने वाली शुभ प्रकृतियो मे भी द्विस्थानिक रसबध होता है। अत एव शुभ प्रकृतियो मे कही भी एकस्थानिक रसबध नही होता है।

इस प्रकार से अनुभाग बध के स्थानो और उनके कारण कषाय स्थानो को तथा कितनी प्रकृतियो का चारो स्थानिक वाला बध होता है, आदि को बतलाकर पुन शुभ और अशुभ रस का विशेष स्वरूप कहते हैं।

निंबुच्छुरसो सहजो दुतिचउभाग कढ्ढिइक्कभागंतो।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाण तु ॥६५॥

शब्दार्थ – निंबुच्छुरसो—नीम और ईख का रस, सहजो—स्वाभाविक, दुतिचउभागकड्ढि—दो, तीन और चार भाग में उबाले जाने पर, इक्कभागंतो—एक भाग शेष रहे वह, इगठाणाई—एकस्थानिक आदि, असुहो—अशुभ रस, असुहाण—अशुभ प्रकृतियों का, सुहो—शुभ रस, सुहाण—शुभ प्रकृतियों का, तु—और।

गाथार्थ—नीम और ईख का स्वाभाविक रस तथा उसको दो, तीन, चार भाग में उबाले जाने पर एक भाग शेष रहे, उसे अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानिक आदि अशुभ रस और शुभ प्रकृतियों का शुभ रस जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में अनुभाग बंध के एकस्थानिक, द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये हैं। उनका विशेष स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ शुभ और अशुभ प्रकृतियों के स्वभाव का भी संकेत यहाँ किया गया है।

अशुभ प्रकृतियों को नीम और उनके रस को नीम के रस की तथा शुभ प्रकृतियों को ईख तथा उनके रस को ईख के रस की उपमा दी है। जैसे नीम का रस स्वभाव से ही कड़ुआ होने से पीने वाले के मुख को कड़ुवाहट से भर देता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियों का रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक है तथा जैसे ईख स्वभावतः मीठा और उसका रस मधुर, आनन्ददायक होता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियों का रस भी जीवों को आनन्ददायक होता है।

यह तो सामान्यतया बतलाया गया है कि नीम और ईख के पेरने पर उनमें से निकलने वाला स्वाभाविक रस स्वभावतः कड़ुवा और मीठा होता है। इस कड़ुवेपन और मीठेपन को एकस्थानिक रस जानना चाहिए। इस स्वाभाविक एकस्थानिक रस के द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक प्रकारों को क्रमशः इस प्रकार समझना

चाहिये कि नीम और ईख को एक एक सेर रस लेकर उन्हे आग पर उबाला जाये और जलकर आधा सेर रह जाये तो वह द्विस्थानिक रस कहा जायेगा, क्योकि पहले के स्वाभाविक रस से उस पके हुए रस मे दूनी कडुवाहट और दूनी मधुरता आ गई। वही रस उबलने पर सेर का तिहाई रह जाता है तो त्रिस्थानिक रस समझना चाहिए, क्योकि उसमे पहले के स्वाभाविक रस से तिगुनी कडुवाहट या तिगुनी मधुरता आ गई है। वही रस जब उबलने पर एक सेर का पाव भर रह जाता है तो वह चतुःस्थानिक रस है, क्योकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमे चौगुनी कडुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है।

अब उक्त उदाहरण के आधार से अशुभ और शुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक आदि को घटाते है। जैसे नीम के एकस्थानिक रस मे द्विस्थानिक रस मे दुगनी कडुवाहट होती है, त्रिस्थानिक मे तिगुनी कडुवाहट और चतुःस्थानिक मे चौगुनी कडुवाहट होती है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियो के जो स्पर्धक सबसे जघन्य रस वाले होते है, वे एकस्थानिक रस वाले कहे जाते है, उनसे द्विस्थानिक स्पर्धको मे अनंत गुणा रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्धको मे अनन्तगुणा रस और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्धको मे अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियो मे भी समझ लेना चाहिये कि एकस्थानिक मे द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थानो मे अनन्तगुणा शुभ रस होता है।

उक्त चारो स्थान अशुभ प्रकृतियो मे कषायो की तीव्रता बढने से और शुभ प्रकृतियो मे कषायो की मंदता बढने मे होते हैं। कषायो की तीव्रता के बढने से अशुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है और कषायो की मदता के बढने से शुभ प्रकृतियो मे द्विस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया

जाता है। शुभ प्रकृतियो मे एकस्थानिक रसबंध नही होता है।[1]

इस प्रकार से अनुभाग वंध का स्वरूप, उसके कारण और भेदो का वर्णन करके अव अनुभाग वन्ध के स्वामियो को वतलाते है। पहले उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियो का कथन करते है।

तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिग।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

शब्दार्थ—तिव्व—तीव्र अनुभाग वध, इगथावरायव—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का, सुरमिच्छा—मिथ्यादृष्टि देव, विगलसुहुमनिरयतिगं—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और नरकत्रिक का, तिरिमणुयाउ—तिर्यंचायु और मनुष्यायु का, तिरिनरा—तिर्यंच और मनुष्य, तिरिदुगछेवट्ठ—तिर्यंचद्विक और सेवार्त सहनन का, सुरनिरिया—देव और नारक।

---

१ गो० कर्मकाड मे भी अनुभाग वध का वर्णन कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलता जुलता है, लेकिन कथनशैली भिन्न है। उसमे घातिकर्मो की शक्ति के चार विभाग किये है—लता, दारु, अस्थि और पत्थर (गा०-१८०)। जैसे ये चारो पदार्थ उत्तरोतर अधिक कठोर होते हैं, उसी प्रकार कर्मो की शक्ति समझना चाहिए। इन चारो विभागो के क्रमश एक, द्वि, त्रि और चतु स्थानिक नाम दिये जा सकते है। इनमे लता भाग देशघाती है और दारु भाग का अनतवा भाग देशघाती और शेष वहुभाग सर्वघाती है। अस्थि और पत्थर भाग तो सर्वघाती ही है। अघातीकर्मो के पुण्य और पाप रूप दो विभाग करके पुण्य प्रकृतियो के गुड, खाड, शक्कर और अमृत रूप चार विभाग किये हैं और पाप प्रकृतियो मे नीम, कजीर, विष और हलाहल इस तरह चार विभाग किये हैं (गा० १८४)। इन विभागो को भी क्रमश एक, द्वि, त्रि और चतु स्थानिक नाम दिया जा सकता है।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। विकलेन्द्रियत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, नरकत्रिक, तिर्यंचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य करते हैं और तिर्यंचद्विक और सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं।

विशेषार्थ—अनुभाग बंध के दो प्रकार हैं—उत्कृष्ट और जघन्य। अनुभाग बंध का स्वरूप समझाकर इस गाथा से उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन प्रारम्भ किया गया है। चारों गति के जीव कर्म बंध के साथ ही अपनी अपनी काषायिक परिणति के अनुसार कर्मों में यथायोग्य फलदान शक्ति का निर्माण करते हैं।

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से किस गति और गुणस्थान वाले जीव उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं—को बतलाते हुए सर्वप्रथम कहा है कि 'तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा'—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम इन तीन प्रकृतियों का मिथ्यादृष्टि देव उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं। मिथ्यादृष्टि देवों को उक्त तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने का कारण यह है कि नारक तो मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म नहीं लेते हैं, अतः उक्त प्रकृति का बंध ही नहीं होता तथा आतप प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के लिये जितनी विशुद्धि की आवश्यकता है, उतनी विशुद्धि के होने पर मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय तिर्यंच में जन्म लेने के योग्य अन्य शुभ प्रकृतियों का बंध

---

१ ईशान स्वर्ग तक के देवों का यहां ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव ही मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म ले सकते हैं, उनसे ऊपर के देव एकेन्द्रिय पर्याय धारण नहीं करते हैं।

करते हैं और एकेन्द्रिय तथा स्थावर प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के लिये जितने संक्लेश भावों की आवश्यकता है, उतना संक्लेश होने पर वे नरकगति के योग्य अशुभ प्रकृतियों का बंध करते हैं। किन्तु देवगति में उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर भी नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध भवस्वभाव से ही नहीं होता है। अतः नारक, मनुष्य और तिर्यंच उक्त तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध नहीं करते हैं, लेकिन ईशान स्वर्ग तक के देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं।

विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य करते हैं—विगलसुहुमनिरयतिगं तिरिमणुयाउ तिरिनरा। इसका कारण यह है कि तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष नौ प्रकृतियों को नारक और देव जन्म से ही नहीं बांधते हैं तथा तिर्यंच और मनुष्य आयु का उत्कृष्ट अनुभाग बंध वे ही जीव करते हैं जो मरकर भोगभूमि में जन्म लेते हैं, जिससे देव और नारक इन दो प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध नहीं कर सकते हैं। किन्तु उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते हैं। इसी प्रकार शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग भी अपने-अपने योग्य संक्लेश परिणामों के धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते हैं। अतः उक्त ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचों को होता है।

'तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरिया'—तिर्यंचद्विक और सेवार्त संहनन इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। क्योंकि यदि तिर्यंच और मनुष्यों के उतने संक्लिष्ट परिणाम हों तो उनको नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध होता है किन्तु देव

और नारक अति संक्लिष्ट परिणाम होने पर तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का ही बंध करते हैं। इसीलिये उक्त तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी देवों और नारकों को बतलाया है।

उक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने के बारे में इतना विशेष जानना चाहिये कि देवगति में सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बंध ईशान स्वर्ग से ऊपर के सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव अति संक्लिष्ट परिणामों के होने पर एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियों का ही बंध करते हैं, किन्तु सेवार्त संहनन एकेन्द्रिय योग्य नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियों के संहनन नहीं होता है।

विउव्विसुराहारदुगं सुखगइ वन्नचउतेयजिणसायं।
समचउपरघातसदस पणिदिसासुच्च खवगाउ ॥६७॥
तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥

शब्दार्थ – विउव्विसुराहारदुगं—वैक्रियद्विक, देवद्विक और आहारकद्विक का, सुखगई—शुभ विहायोगति, वन्नचउतेय—वर्ण चतुष्क और तैजसचतुष्क, जिण—तीर्थंकर नामकर्म, साय—साता वेदनीय का, समचउ—समचतुरस्र संस्थान, परघा—पराघात, तस दस—त्रसदशक, पणिदिसासुच्च—पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास नाम कर्म और उच्च गोत्र का, खवगाउ—क्षपक श्रेणि वाले का।

तमतमगा—तमस्तमप्रभा के नारक, उज्जोयं—उद्योत नाम कर्म का, सम्मसुरा—सम्यग्दृष्टि देव, मणुयउरलदुग—मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वइरं—वज्रऋषभनाराच संहनन का, अपमत्तो—अप्रमत्त संयत, अमराउं—देवायु का, चउगइमिच्छा—चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव, उ—और, सेसाणं—शेष प्रकृतियों का।

गाथार्थ—वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, तीर्थंकर नामकर्म, साता वेदनीय, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, त्रसदशक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक श्रेणि चढ़ने वाले करते हैं।

तम-तमप्रभा के नारक जीव उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बांधते हैं तथा सम्यग्दृष्टि देव मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बांधते है। शेष प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बंध चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं मे पूर्व गाथा मे बताई गई सत्रह प्रकृतियो के अलावा शेष रही प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियो का कथन किया है। जिनमें कुछ प्रकृतियो का नामोल्लेख करके शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीवो को बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

'विउव्विसुरा ''सामुच्च' पद मे वैक्रियद्विक से लेकर उच्छ्वास, उच्चगोत्र तक बत्तीस प्रकृतियो को ग्रहण किया गया है। जिनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक श्रेणि आरोहण करने वाले मनुष्यो को बतलाया है। उनमे से साता वेदनीय, उच्च गोत्र और त्रसदशक में गर्भित यशःकीर्ति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त मे होता है। क्योकि इन तीन प्रकृतियो के बंधको मे वही सबसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामो से होता है।

उक्त तीन प्रकृतियो के सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बंध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग मे देवगति के

योग्य प्रकृतिया की बंधव्युच्छित्ति के समय होता है। इन उनतीस प्रकृतियो के बधका मे अपूर्वकरण क्षपक ही अति विशुद्ध होता है।

उक्त उनतीस प्रकृतिया के नाम गुणस्थानो के क्रम मे इस प्रकार है—

वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मणअगुरुलघु, निर्माण), तीर्थंकर, समचतुरस्र सस्थान, पराघात, यश कीर्ति नामकर्म को छोडकर त्रसदशक मे गर्भित त्रस बादर, पर्याप्त आदि नौ प्रकृतिया पचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, इन उनतीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग का बध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग म देवगति योग्य प्रकृतियो के बधविच्छेद के समय होता है।

साता वेदनीय, यश कीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र इन तीन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के अत म होता है।

इस प्रकार से अभी तक १७ और ३२ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग बध के स्वामियो का कथन करने के बाद अब शेष प्रकृतियो के बारे मे विचार करते है—

'तमतमगा उज्जोय' यानी तम तमप्रभा नामक सातवें नरक के नारक उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बध करते है। इसका कारण यह है कि सातवें नरक का नारक सम्यक्त्वप्राप्ति के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करते समय अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्व का अतरकरण करता है। उसके करने पर मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं—एक अन्तरकरण से नीचे की स्थिति का, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है तथा दूसरा उससे ऊपर की स्थिति का, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की स्थिति के अन्तिम समय मे यानी जिसम

आगे के समय मे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय मे उस जीव के उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। क्योकि यह उद्योत प्रकृति शुभ है और विशुद्ध परिणामो से ही उसका उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है तथा उसके बाधने वालो मे सातवे नरक का उक्त नारक ही अति विशुद्ध परिणाम वाला है। क्योंकि अन्य गतियो मे इतनी विशुद्धि होने पर मनुष्यगति अथवा देवगति के योग्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। उद्योत प्रकृति तिर्यचगति के योग्य प्रकृतियो मे से है और सातवे नरक का नारक मरकर नियम से तिर्यच मे जन्म लेता है, जिससे सातवे नरक का नारक मिथ्यात्व मे प्रतिसमय तिर्यंचगति योग्य कर्मों का वंध करता है।

मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन, इन पाच प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवो को वतलाया है—सम्ममुरा मणुयउरलदुगवइरं। यद्यपि इन पाच प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागवंध विशुद्ध परिणाम वाले नारक भी कर सकते है, लेकिन वे नरक के दु.खो से पीड़ित रहने के कारण उतनी विशुद्धि प्राप्त नही कर पाते है तथा उनको देवो की तरह तीर्थंकरो की विभूति के दर्शन, उपदेशश्रवण, वंदन आदि परिणामो को विशुद्ध करने वाली सामग्री भी नही मिलती है, जिससे नारको का ग्रहण नही किया गया है। तिर्यच और मनुष्य तो अति विशुद्धि परिणाम वाले होने पर देवगति के योग्य प्रकृतियो का ही वन्ध करते है। इसीलिये इन प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवो को वतलाया है।

देवायु के उत्कृष्ट अनुभाग वंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि को वतलाया है। क्योकि यहां उत्कृष्ट अनुभाग वंध के स्वामियो को वतलाया जा रहा है, अत. देवायु का वन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति आदि से वही अति [विशुद्ध होते है।

इस प्रकार से ४२ पुण्य प्रकृतिया और १४ पाप प्रकृतिया के उत्कृष्ट अनुभाग वध के स्वामियो को तो अलग अलग बतला दिया है। इनसे शेष रही ६८ प्रकृतिया के उत्कृष्ट अनुभाग वध का स्वामी चारो गति के सक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवो को बतलाया है—चउगइमिच्छा उ सेसाण।[1]

समस्त वधयोग्य प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग वध के स्वामियो को बतलाकर अब उनके जघन्य अनुभाग वध के स्वामियो को बतलाते है।

थीणतिग अणमिच्छ मदरस सजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥६६॥

शब्दार्थ—थीणतिग—स्त्यानर्द्धित्रिक, अणमिच्छ—अनतानुबधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का, मदरस—जघन्य अनुभाग वध सजमुम्मुहो—सम्यक्त्व चरित्र के अभिमुख, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि बियतियकसाय—दूसरी और तीसरी कषाय का अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि, देस—देशविरति, पमत्तो—प्रमत्त विरत, अरइसोए—अरति और शोक मोहनीय का।

---

१ यहाँ सामान्य से ६८ प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभाग बधक चारो गति के तीव्र कषायवत मिथ्यादृष्टि जीव बतलाये हैं। इसमे इतना विशेष समझना चाहिए कि हास्य रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद पहले और अतिम को छोडकर शेष सहनन और सस्थान के सिवाय ५६ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध तीव्र कषायी चारो गति के मिथ्यादृष्टि करते हैं और उक्त बारह प्रकृतियों का उस-उस प्रकृति के बध योग्य सक्लेश मे वर्तमान जीव उत्कृष्ट अनुभागबध करते हैं। जैसे कि नपुसकवेद के रसबध मे तीव्र सक्लेश चाहिए उसकी अपेक्षा स्त्रीवेद के रसबध मे कम और उसकी अपेक्षा भी पुरुषवेद के उत्कृष्ट रसबध मे हीन सक्लेश चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

गाथार्थ—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का सम्यक्त्व सहित चारित्र प्राप्त करने के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभाग बंध करते है। देश-विरति चारित्र के सन्मुख हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि दूसरी कषाय का और सर्वविरति चारित्र के सन्मुख होने वाला देश-विरति तीसरी कषाय का और प्रमत्तसंयत अरति व शोक मोहनीय का जघन्य अनुभाग बंध करता है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियो को बतलाकर इस गाथा मे जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियो का कथन प्रारम्भ करते है।

पूर्व मे यह बतलाया गया है कि विशुद्ध परिणामो से अशुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध और संक्लेश परिणामो से शुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध होता है। इस गाथा मे जिन प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध बतलाया है, वे सब अशुभ प्रकृतिया है। अत उनका अनुभाग बंध करने वाले स्वामियो के लिये विशेषण दिया है—'संजमुम्मुहो' संयम के अभिमुख मनुष्य जो गाथा मे बताई गई अशुभ प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी है।

गाथा में आये इस 'संजमुम्मुहो' पद को प्रत्येक के साथ लगाया जाता है अर्थात् जो संयम धारण करने के अभिमुख है—जो जीव तत्काल दूसरे समय मे ही संयम धारण कर लेगा, उसके अपने-अपने उस गुणस्थान के अंतिम समय मे उस प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध होता है। यहा संयम के अभिमुख पद को प्रत्येक गुणस्थान के साथ जोडकर आशय समझना चाहिये। जो इस प्रकार है—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय इन आठ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध सम्यक्त्व संयम के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अंतिम समय में करता है। अप्रत्याख्यानावरण

कपायचतुष्क का जघन्य अनुभाग वध सयम—देशसयम के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अन्त समय मे करता है। प्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का जघन्य अनुभाग वध सयम अथात सवविरति—महाव्रता को धारण करने के सन्मुख देशविरति गुणस्थान वाला जोव अपने गुणस्थान के अत समय मे करता है तथा अरति व शोक का जघन्य अनुभाग वध सयम अर्थात अप्रमत्त सयम के अभिमुख प्रमत्त मुनि अपने गुणस्थान के अन्त मे करता है।[1] साराश यह है कि स्त्यानर्द्धित्रिक आदि आठ प्रकृतिया का जघन्य अनुभाग वध पहले गुणस्थान वाला जब सम्यक्त्व के अभिमुख होकर चौथे गुणस्थान मे जाता है तब पहले गुणस्थान के अन्तिम समय मे करता है। अप्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का जघन्य अनुभाग वध पाचवें गुणस्थान—देशविरति

---

१ सयमसम्मुख इति सम्यक्त्वसयमाभिमुख सम्यक्त्वसामायिक प्रतिपित्सु। अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य अविरत सम्यग्दृष्टि सयमाभिमुख—देशविरतिसामायिक प्रतिपित्सुम दरस वध्नाति। तथा तृतीयकपायचतुष्कस्य देशविरति सयमोन्मुख सर्वविरतिसामायिक प्रतिपित्सुम न्दरस वध्नाति। तथा प्रमत्तयति सयमाभिमुख—अप्रमत्तसयम प्रतिपित्सु—।

—पचम कमग्रन्थ टीका पृ० ७१

लब्धि कमप्रकृति पृ० १६० तथा पचसग्रह प्रथम भाग मे सयम का अर्थ सयम ही लिया गया है। यथा—अष्टाना कर्मणा सम्यक्त्व सयम च युगपत्प्रतिपत्तुकामा मिथ्यादृष्टिश्चरमसमय जघन्यानुभागबध स्वामी अप्रत्याख्यानावरणकपायाणामविरतसम्यग्दृष्टि सयम प्रतिपत्तु काम प्रत्याख्यानावरणाना देशविरत सर्वविरतिप्रतिपित्सुजघन्यानुभाग वध करोति।

गो० कमकाड गाथा १७१ म सजमुम्मुहो पद का आशय वतलाने के लिए सजमगुणपच्छिदे' पद आया है। टीकाकार ने सयम का अर्थ सयम ही किया है।

की ओर उन्मुख चौथा गुणस्थानवर्ती जीव चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय मे करता है। प्रत्याख्यानावरण कपायचतुष्क का जघन्य अनुभाग वंध पाचवे गुणस्थान से छठे गुणस्थान मे जाता है तब पाचवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे तथा अरति और शोक इन दो प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध छठे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान मे जाने वाला छठे गुणस्थान के अंतिम समय मे करता है। यानी आगे-आगे का गुणस्थान प्राप्त करने से पहले समय मे स्त्यानर्द्धित्रिक आदि प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध होता है।

उक्त प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वंध होने के प्रसंग मे इतना और समझ लेना चाहिये कि यदि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान मे न जाकर पाचवें या छठे या सातवें गुणस्थान मे जाये, इसी तरह चौथे गुणस्थान से पाचवे मे न जाकर छठे या सातवें गुणस्थान मे जाये तो भी उनका जघन्य अनुभाग वंध होगा। क्योकि उक्त प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वंध के लिये विशुद्ध परिणामो की आवश्यकता है और उस दशा मे तो पहले से भी अधिक विशुद्ध परिणाम होते है। इसी से गाथा मे 'संजमुम्मुहो' पद दिया गया है। जिसका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक गुणस्थान वाले संयम के भेदो मे से किसी भी संयम की ओर अभिमुख होते है तो उनको उक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध होता है।

अव आगे अन्य प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वंध के स्वामियो को वतलाते है।

अपमाइ हारगदुगं दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

शब्दार्थ—**अपमाइ**—अप्रमत्त मुनि, **हारगदुगं**—आहारकद्विक, **दुनिद्द**—दो निद्रा, **असुवन्न**—अप्रशस्त वर्णचतुष्क, **हासरइकुच्छा**—हास्य, रति और जुगुप्सा, **भय**—भय, **उवघाय**—उपघात

नामकर्म का अपुव्वो—अपूवकरण गुणस्थान वाला, अनियट्टी—अनिवृत्तिवादर गुणस्थान वाला, पुरिस—पुरुप वेद सजलणे—सज्वलन कपाय का।

गाथार्थ—आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग वध अप्रमत्त मुनि करते हैं। दो निद्रा, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात नामकर्म का अपूवकरण गुणस्थान वाले जघन्य अनुभाग वध करते हैं और अनिवृत्तिवादर गुणस्थानवर्ती पुरुप वेद, सज्वलन कपाय का जघन्य अनुभाग वध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में आहारकद्विक आदि प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग वध के स्वामियों को बतलाते हैं।

सर्वप्रथम आहारकद्विक के बारे में कहते हैं कि 'अपमाइ हारगदुग' आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अगोपाग) का जघन्य अनुभाग वध अप्रमत्त मुनि—सातवें अप्रमत्त सयत गुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं। लेकिन कब करते हैं, उसका स्पष्टीकरण यह है कि आहारकद्विक यह प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं अत इनका जघन्य अनुभाग वध अप्रमत्त मुनि उस समय करते हैं जब वे छठे प्रमत्त सयत गुणस्थान के अभिमुख होते हैं। यानि सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने की स्थिति में होते हैं तब उनके परिणाम सक्लिष्ट होते हैं और उस स्थिति में आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग वध करते हैं।

निद्राद्विक (निद्रा और प्रचला), अशुभ वर्णचतुष्क, (अशुभ वर्ण, अशुभ गध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श) तथा हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात, इन ग्यारह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वध अपूर्वकरण गुणस्थानवाले तथा पुरुप वेद और सज्वलन कपाय का जघन्य अनुभाग वध अनिवृत्तिवादरसपराय गुणस्थान वाले करते हैं। यहाँ य दोनो

गुणस्थान क्षपक श्रेणि के लेना चाहिये। क्योंकि निद्रा आदि अशुभ प्रकृतिया है और अशुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध विशुद्ध परिणामो से होता है और उनके वंधको मे क्षपक अपूर्वकरण तथा क्षपक अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान वाले जीव ही विशेष विशुद्ध होते है। इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग वंध अपनी-अपनी व्युच्छित्ति के समय होता है।

विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेगुव्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुग ॥७१॥

शब्दार्थ—विग्घावरणे—पाच अंतराय और नौ आवरण (ज्ञान-दर्शन के) का, सुहमो—सूक्ष्मसपराय वाला, मणुतिरिया—मनुष्य और तिर्यच, सुहुमविगलतिग—सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, आऊ—चार आयु का, वेगुव्विछक्क—वैक्रियपट्क का, अमरा—देव निरय—नारक, उज्जोय - उद्योत नामकर्म का, उरलदुगं—औदारिकद्विक का।

गाथार्थ—पाच अंतराय तथा पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य अनुभाग वंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला करता है। मनुष्य और तिर्यच सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियपट्क का जघन्य अनुभाग वंध तथा उद्योत नामकर्म एवं औदारिकद्विक का जघन्य अनुभाग वंध देव तथा नारक करते है।

विशेषार्थ—'विग्घावरणे सुहुमो' अंतराय कर्म की पाच प्रकृतियो (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय), मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण की पाच प्रकृतियो तथा चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरण की चार प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय नामक

दसवें गुणस्थानवर्ती क्षपक उस गुणस्थान के चरमसमय मे करता है। क्योकि इनके बधका मे वही मवस विशुद्ध है।

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त नामकर्म), विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियषटक (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी), इन सोलह प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच है। इन सोलह प्रकृतिया मे से मनुष्यायु और तिर्यंचायु के सिवाय चौदह प्रकृतिया को तो देव व नारक जन्म से ही नही बाधते हैं तथा मनुष्य और तिर्यच आयु का जघन्य अनुभाग बध जघन्य स्थितिबध के साथ ही होता है। क्योकि ये दोनो प्रशस्त प्रकृतिया है अत इनका जघन्य अनुभाग बध तो सक्लेश परिणामो से होता ही है किन्तु जघन्य स्थितिबध भी सक्लेश परिणामो से होता है। देव और नारक जघन्य स्थिति वाले मनुष्य और तिर्यंचो मे उत्पन्न नही होते है, अत वे इनका जघन्य बध नही करते है। अर्थात इन दो प्रकृतियो का जो जघन्य स्थितिबध करता है वही उनका जघन्य अनुभाग बध भी करता है। इसलिये सूक्ष्मत्रिक आदि सोलह प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग बध का स्वामी मनुष्य और तिर्यंच को बतलाया है। उद्योत और औदारिकद्विक इन तीन प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बध देव और नारक करते हैं। इसमे इतना विशेष समझना चाहिये कि औदारिक अगोपाग का जघन्य अनुभाग बध ईशान स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव करते है। क्योकि ईशान स्वर्ग तक के देव उत्कृष्ट सक्लेश के होने पर एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियो का बध करते है और एकेन्द्रियो के अगोपाग नही होते है। अत ईशान स्वर्ग तक के देवो के औदारिक अगोपाग नामकर्म का जघन्य अनुभाग बध नही होता है।

मनुष्य और तिर्यंचो के उक्त तीन प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग

वन्ध न होने का कारण यह है कि जो जीव तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियो का वन्ध करता है, वही इनका भी जघन्य अनुभाग वन्ध करता है। किन्तु मनुष्य और तिर्यंचो के उतने संक्लिष्ट परिणाम हो जितने कि इन तीन प्रकृतियो के जघन्य अनुभागवंध के लिये आवश्यक है तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का ही वन्ध करते है। इसीलिये मनुष्य और तिर्यचो को इन प्रकृतियो का जघन्य अनुभागवंध नही वताया है।

तिरिदुगनिअ तमतमा जिणमविरय निरयविणिगथावरय।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

शब्दार्थ - **तिरिदुग**—तिर्यंचद्विक, **निअं**—नीचगोत्र का, **तमतमा** – तम तमप्रभा के नारक **जिण**—तीर्थंकर नामकर्म का, **अविरय**—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, **निरयविण** –नरक के सिवाय तीन गति वाले जीव, **इगथावरय**—एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का, **आसुहुमा** सौधर्म ईशान स्वर्ग तक के देव, **आयव** आतप नामकर्म का, **सम्मो व**—सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि, **सायथिरसुभजसा**—सातावेदनीय, स्थिर नाम, शुभ नाम और यश कीर्ति नामकर्म का, **सिअरा**—इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियो सहित।

गाथार्थ— तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र का जघन्य अनुभाग वंध तम तमप्रभा नामक सातवे नरक के नारक करते है। तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभागवन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। नरकगति के सिवाय शेष तीन गति वाले जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभागवन्ध करते है। सौधर्म और ईशान स्वर्ग तक के देव आतप नामकर्म का जघन्य अनुभागवंध करते है। सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और इन चारो की प्रतिपक्षी प्रकृतियो का जघन्य अनुभागवंध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

विशेषार्थ—'तिरिदुगनिअ तमतमा' तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और नीचगोत्र इन तीन प्रकृतिया का जघन्य अनुभागवध सातवे नरक मे वतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण यह है कि सातवें नरक का कोई नारक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये जब यथाप्रवृत्त आदि तीन करणा को करता हुआ अन्त के अनिवृत्तिकरण को करता है तब वहा अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय मे इन तीन प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वध होता है। ये तीना प्रकृतिया अशुभ है और सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागवध करता है। अत इनके बधको मे सातवें नरक का उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। क्योकि इस सरीखी विशुद्धि होने पर तो दूसरे जीव मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र का वध करते है। जिससे तिर्यचद्विक और नीच गोत्र इन तीन प्रकृतिया के लिये सातवें नरक के नारक का ग्रहण किया है।

तीर्थकर प्रकृति का जघन्य अनुभागवध सामान्य से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को बतलाया है—जिणमविरय। लेकिन यह विशेष समझना चाहिये कि यह शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतिया का जघन्य अनुभाग वध सक्लेश से होता है अत बद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक मे उत्पन्न होने के लिय जब मिथ्यात्व के अभिमुख होता है तब वह तीर्थकर नामकर्म का जघन्य अनुभाग वध करता है। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का वध चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है लेकिन शुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वध सक्लेश से होता है और वह सक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के वधका मे मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इसीलिए तीर्थकर प्रकृति के जघन्य अनुभाग वध के लिये अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ग्रहण किया है। तिर्यचगति मे तीर्थंकर प्रकृति का वध नही होता है जिससे यहा मनुष्य को बतलाया है और जिस मनुष्य ने तीर्थंकर प्रकृति का वध करने से पहले

नरकायु नही बांधी है वह नरक मे नही जाता है, अत बद्धनरकायु का ग्रहण किया है । क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व सहित मर कर नरक मे उत्पन्न हो सकते है, किन्तु उनके विशुद्ध होने से वे तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध नही कर सकते है। इसीलिये उनका यहा ग्रहण नही किया है ।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभाग वन्ध नरकगति के सिवाय शेप तिर्यंच, मनुष्य और देव इन तीन गतियो के जीव करते है। लेकिन इन तीन गतियो वाले जीवो के संवन्ध मे यह विशेप जानना कि परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले जीव करते है। क्योकि ये दोनो प्रकृतिया अशुभ है, अत अति संक्लिष्ट परिणाम वाले जीव उनका उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध करते है और अति विशुद्ध जीव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का वन्ध करते है। इसीलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। साराश यह है कि जव कोई जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का वन्ध करके पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का वंध करता है और उनका वंध करके पुन एकेन्द्रिय व स्थावर नामकर्म का वंध करता है तव इस प्रकार का परिवर्तन करके वंध करने वाला परावर्तमान मध्यम परिणाम वाला अपने योग्य विशुद्धि के होने पर उक्त दो प्रकृतियो का जघन्य अनुभागवंध करता है।

आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध ईशान कल्प तक के देवो को वतलाया है। यद्यपि गाथा मे 'आसुहुम' पद है, जिसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्ग तक' होता है। लेकिन सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणी मे विद्यमान होने से दोनो को ग्रहण कर लेना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देव आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध करते है।

उक्त देवो के ही आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वंध करने का

कारण यह है कि आतप शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वध विशेष सक्लिष्ट परिणामो मे होता है। अत उन देवो के एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियो के वध के समय आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग वध होता है। यदि आतप प्रकृति के जघन्य अनुभाग वध करने योग्य सक्लिष्ट परिणाम मनुष्य और तिर्यंचो के हो तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियो का ही वध करते है तथा नारक और सानत्कुमार आदि कल्पो के देव जन्म से ही इस प्रकृति का वध नही करते है। इसीलिये ईशान स्वर्ग तक के देवो को ही इसका वधक वतलाया है।

सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यश कीर्ति और इनकी प्रतिपक्षी असाता वेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्ति, इन आठ प्रकृतियो के जघन्य अनुभाग वध के स्वामी सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि है। इन वधको के लिये यह विशेष समझना चाहिये कि वे परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले हो। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

प्रमत्त मुनि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त असातावेदनीय की अन्त कोटा कोटि सागर प्रमाण जघन्य स्थिति वाधता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद सातावेदनीय का बध करता है, पुन असातावेदनीय का वध करता है। इसी तरह देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यगमिथ्या दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साता के बाद असाता का और असाता के बाद साता वेदनीय का वध करते हैं। इनमे से मिथ्यादृष्टि जीव साता के बाद असाता का और असाता के बाद साता का वध तब तक करता है जब तक साता वेदनीय की स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम होती है। उसके बाद और सक्लिष्ट परिणाम होने पर केवल असाता का ही तब तक वध करता है जब तक उसकी तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्त सयत से आगे अप्रमत्त सयत आदि गुणस्थानो मे जीव केवल सातावेदनीय का ही वध करता है।

इसका साराश यह है कि साता वेदनीय के जघन्य अनुभाग वन्ध के योग्य परावर्तमान मध्यम परिणाम साता वेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोडी सागर स्थितिबंध से लेकर छठे गुणस्थान मे असातावेदनीय के अन्त -कोडाकोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबंध तक पाये जाते है। परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते है जब तक प्रतिपक्षी प्रकृति का वंध होता है। यानी तब तक साता के साथ असाता वेदनीय का भी वंध संभव है जब तक परावर्तमान परिणाम होते है। लेकिन साता वेदनीय के उत्कृष्ट स्थितिवंध से लेकर आगे जो परिणाम होते है वे इतने संक्लिष्ट होते है कि उनसे असाता वेदनीय का ही वंध हो सकता है। इसीलिये साता और असाता वेदनीय के जघन्य अनुभागवंध का स्वामी परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवो को वतलाया है ।

अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागर और स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडा-कोडी सागर वतलाई है। प्रमत्त मुनि अस्थिर, अशुभ, अयश.कीर्ति की अन्त.कोड़ाकोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति वाधता है और विशुद्धि के कारण फिर इनकी प्रतिपक्षी स्थिर, शुभ, यश'कीर्ति का वंध करता है, उसके वाद पुन. अस्थिर आदिक का वंध करता है। इसी प्रकार देशविरति, अविरत सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि, सासादन, मिथ्यादृष्टि स्थिरादिक के वाद अस्थिरादिक का और अस्थिरादिक के वाद स्थिरा-दिक का वंध करते है। उनमे से मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियो का उक्त प्रकार से तव तक वंध करता है जव तक स्थिरादिक का उत्कृष्ट स्थितिवंध नही होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के योग्य इन स्थितिवंधो मे ही उक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे स्थिरादिक के उत्कृष्ट स्थितिवंध के

पश्चात तो अस्थिरादिक का ही बध होता है और अप्रमत्त आदि गुण स्थानो म स्थिरादिक का ही। मिथ्यादृष्टि मे सक्लेश परिणामा की अधिकता ह आर अप्रमत्त मे विशुद्ध परिणामा की अधिकता, अत दोना मे ही अनुभाग बध अधिक माना मे होता ह। इसीलिए इन दोना के सिवाय शेष बताये गय स्थाना मे ही अस्थिर आदि छह प्रकृतिया का जघन्य अनुभाग बध होता है।

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुग पणिदिसासपरघुच्च ।
सघयणागिइनपुत्थीसुभगियरति मिच्छा चउगइगा ॥७३॥

शब्दार्थ—तसवन्नतेयचउ—त्रसचतुष्क वर्णचतुष्क तजस चतुष्क मणुखगइदुग—मनुष्यद्विक विहायोगतिद्विक पणिदि—पचेन्द्रिय जाति, सास—उच्छ्वास नामकम परघुच्च—पराघात नाम और उच्च गात्र का सघयणागिइ—छह सहनन और छह सस्थान, नपुत्थी—नपु सकवेद स्त्रीवेद सुभगियरति—सुभगत्रिक और इतर दुर्भगत्रिक का मिच्छ—मिथ्यादृष्टि चउगइया—चारो गति वाले।

गाथार्थ—त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, तजसचतुष्क, मनुष्य द्विक, विहायोगतिद्विक, पचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह सहनन, छह सस्थान, नपु सक वेद, स्त्री वेद, सुभगत्रिक, दुर्भगत्रिक का चारो गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य अनुभाग बध करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे चालीस प्रकृतिया का नामोल्लेख कर उनके जघन्य अनुभाग बध का स्वामी चारो गतियो के मिथ्यादृष्टि जीव को बतलाया है। इनमे से कुछ प्रशस्त और कुछ अप्रशस्त प्रकृतिया ह।

त्रसचतुष्क (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक), वर्णचतुष्क (शुभ वर्ण, गध, रस, स्पश), तजसचतुष्क (तजस, कामण, अगुरुलघु, निर्माण), पचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात ये पन्द्रह प्रकृतिया प्रशस्त ह अत

इनका जघन्य अनुभाग वंध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच अपने उत्कृष्ट संक्लेश परिणामो से जब नरकगति के योग्य प्रकृतियो का वध करते है उस समय इन पन्द्रह प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग बंध करते है तथा नारक और ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव संक्लेश के होने पर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय के योग्य प्रकृतियो का वंध करने के समय मे और ईशान स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोडकर शेप तेरह प्रकृतियो को एकेन्द्रिय जीव के योग्य प्रकृतियो को वाधते समय इनका जघन्य अनुभाग वंध करते है।

उक्त कथन का साराश यह है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तो त्रसचतुष्क आदि पन्द्रह प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध नरक-गति के योग्य प्रकृतियो का वध करने के साथ करते है। ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तथा नारक पंचेन्द्रिय तिर्यंचो मे जन्म लेने योग्य प्रकृतियो का वंध करते हुए तथा ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय पर्याय मे जन्म लेने योग्य प्रकृतियो का वंध करते हुए पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोड उसके योग्य उक्त प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वन्ध करते है।

ईशान स्वर्ग तक के देवो मे पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म को छोडने का कारण यह है कि इन दोनो का वंध ईशान स्वर्ग तक के देवो को विशुद्ध दशा मे ही होता है। अत इनके उक्त दोनो प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वंध नही होता है।

स्त्री वेद और नपुसक वेद ये दोनो प्रकृतिया अप्रशस्त है, इनका जघन्य अनुभाग वंध विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

मनुष्यद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि छह संहनन और समचतुरस्र सस्थान आदि छह संस्थान, शुभ और अशुभ विहायोगति, सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर, आदेय) और दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दु स्वर,

अनादेय) और उच्च गोत्र का जघन्य अनुभाग बंध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, लेकिन वे मध्यम परिणाम वाले होते हैं।

इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और सम्यग्दृष्टि मनुष्य देवद्विक का बंध करते हैं, मनुष्यद्विक का नहीं। संस्थानों में से समचतुरस्र संस्थान का बंध करते हैं। संहनन का बंध नहीं करते हैं। शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्च गोत्र का ही बंध करते हैं और मिथ्यादृष्टि दुर्भग आदि का बंध करते हैं।

सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक मनुष्यद्विक का ही बंध करते हैं—तिर्यंचद्विक का नहीं। संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान का और संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन का बंध करते हैं। शुभ विहायोगति, सुभग आदि ही बांधते हैं और उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों का नहीं बांधते हैं। जिससे उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है और उनका बंध न होने से परिणामों में परिवर्तन नहीं होता है तथा परिवर्तन न होने से परिणाम विशुद्ध बने रहते हैं जिससे प्रशस्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध नहीं होता है। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि का ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टि का ग्रहण किया है।

मनुष्यद्विक की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है और शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय, उच्च गोत्र, प्रथम संहनन और प्रथम संस्थान की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। इन शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ होकर प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ उनकी जघन्य स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबंध के अध्यवसाय तक परावर्तमान मध्यम परिणामों से होता है। यह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त के परावर्तन से चलता है। इन संस्थान और संहनन की अनुक्रम से वामन संस्थान और कीलिका संहनन के साथ अपनी अपनी उत्कृ

स्थिति तक परावृत्ति होने पर। इसी प्रकार शेष संहनन, सम्स्थान की सम्भवित शेष संहनन और संस्थान के साथ अपनी-अपनी जघन्य स्थिति तक परावृत्ति के होने पर जानना चाहिये। इन स्थितिस्थानों में मिथ्यादृष्टि परावर्तमान मध्यम परिणाम से जघन्य अनुभाग बंध को करता है। इसी तरह अन्य प्रकृतियों के लिए भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से बंधयोग्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों[1] का कथन करने के पश्चात् अब आगे मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनुभाग बंध के भंगों का विचार करते हैं।

चउतेयवन्नवेयणिय नामणुक्कोस सेसधुववंधी।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
सेसम्मि दुहा..

शब्दार्थ—**चउतेयवन्न**—तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क, **वेयणिय**—वेदनीय कर्म, **नाम**—नाम कर्म का, **अणुक्कोस**—अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध, **सेसधुववंधी**—बाकी की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, **घाइण**—घाति प्रकृतियों का, **अजहन्नो**—अजघन्य अनुभाग बंध, **गोए**—गोत्र कर्म का, **दुविहो**—दो प्रकार के अनुभाग बन्ध (अनुत्कृष्ट और अजघन्य बन्ध) **इमो**—ये, **चउहा**—चार प्रकार के, (सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव)।

सेसम्मि—बाकी के तीन प्रकार के अनुभाग बंध के, **दुहा**—दो प्रकार।

---

१ गो० कर्मकांड गा० १६५-१६९ तक में उत्कृष्ट अनुभाग बंध के और गाथा १७०-१७७ तक में जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन किया गया है। दोनों की कर्मग्रन्थ से समानता है। तुलना के लिये उक्त अंश परिशिष्ट में दिया है।

गाथाथ—तजस चतुष्क, वण चतुष्क, वेदनीय कर्म और नामकम का अनुत्कृष्ट अनुभाग वध तथा वाकी की ध्रुव वधिनी और घाती प्रकृतिया का अजघय अनुभाग वध और गोत्रकम ये दोनो वध (अनुत्कृष्ट आर अजघय) चारा प्रकार के है।

उक्त प्रकृतिया के शेष अनुभाग वध आर वाकी की अन्य शेप प्रकृतिया के सभी वध दो ही प्रकार के ह।

विशषाथ—इस गाथा मे मूल और उत्तर प्रकृतिया मे अनुभाग वध के भगा का विचार किया गया है।

वध के चार प्रकार हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघय और अजघन्य। इनमे से कर्मो की सबसे कम अनुभाग शक्ति को जघय और जघन्य अनुभाग शक्ति से ऊपर के एक अविभागी अंश को आदि लेकर सवस उत्कृष्ट अनुभाग तक के भेदा को अजघय कहते है। इन जघन्य और अजघन्य भेदा मे अनुभाग के अनन्त भेद गर्भित हा जाते हैं।

सबसे अधिक अनुभाग शक्ति को उत्कृष्ट और उसमे से एक अविभागी अश कम शक्ति स लेकर सवजघन्य अनुभाग तक के भेदा का अनुत्कृष्ट कहत है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद मे भी अनुभाग शक्ति के समस्त भेद गर्भित हा जात ह। इसको उदाहरण स इस प्रकार समझ सकते हैं कि कल्पना मे सवजघय का प्रमाण ८ है आर उत्कृष्ट का प्रमाण १६। तो इसमे ८ का जघन्य होंगे और आठ से ऊपर नौ से लेकर सोलह तक के भेदा का अजघय तथा सोलह को उत्कृष्ट और सोलह म स कम पद्रह से लेकर आठ तक के भेदा का अनुत्कृष्ट कहेंगे। मूल और उत्तर प्रकृतिया म इन भेदा का विचार सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भगा के साथ किया गया है।

गाथा मे वताये गये भेदो का विवरण इस प्रकार है कि तैजस-चतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण) तथा वर्णचतुष्क—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श (यहा शुभ वर्णचतुष्क समझना चाहिये), वेदनीय कर्म और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इस प्रकार चार तरह का होता है। जो इस प्रकार है—

तैजसचतुष्क और शुभ वर्णचतुष्क इन आठ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान मे देवगति योग्य तीस प्रकृतियो के वन्धविच्छेद के समय होता है। इसके सिवाय उपशम श्रेणि आदि अन्य स्थानो मे उक्त प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट वंध ही होता है। किन्तु ग्यारहवे गुणस्थान मे विल्कुल वंध नही होता है और ग्यारहवे गुणस्थान से गिरकर कोई जीव उक्त प्रकृतियो का पुन: अनुत्कृष्ट अनुभाग वन्ध करता है तव वह सादि कहलाता है और इस अवस्था को प्राप्त होने से पहले उनका वंध अनादि कहलाता है, क्योकि उसके वह वंध अनादि से होता चला आ रहा है। भव्य जीव का वंध अध्रुव और अभव्य जीव का वंध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट अनुभाग वंध सादि आदि चार प्रकार का होता है।

किन्तु इनके शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग वंध के सादि और अध्रुव यह दो ही भंग होते है। क्योकि पूर्व मे वताया है कि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभाग वंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान वाला करता है जो इससे पहले नही होता है। इसीलिये सादि है और एक समय तक होकर आगे नही होता है, अतः अध्रुव है। ये प्रकृतिया शुभ है जिससे इनका जघन्य अनुभाग वंध उत्कृष्ट सक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है और कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक दो समय के वाद वही जीव उनका अजघन्य वंध करता है। कालान्तर में उत्कृष्ट संक्लेश होने पर

वह पुन उनका जघन्य अनुभाग वध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभाग वंध सादि और अध्रुव है।

वेदनीय और नामकम का भी अनुत्कृष्ट अनुभाग वध सादि आदि चार प्रकार का है। क्योकि साता वेदनीय और यश कीर्ति नाम कर्म की अपेक्षा वेदनीय और नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग वध क्षपक सूक्ष्मसपराय नामक दसवें गुणस्थान मे ही होता है और शेप स्थानो मे अनुत्कृष्ट वध होता है। ग्यारहवे गुणस्थान मे उनका वध नही होता है। जिससे ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभाग वध होता है वह सादि और उससे पहले अनादि। भव्य जीव का वध ध्रुव और अभव्य का अध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नाम कर्म के अनुत्कृष्ट अनुभाग वध के सादि आदि चार भग होते हैं।

वेदनीय और नामकम के अनुत्कृष्ट वध के सिवाय शेप उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य वध के सादि और अध्रुव भग ही होते हैं। उत्कृष्ट वध तो क्षपक सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे ही होता है, अन्य गुणस्थान मे नही, अत सादि है और बारहवें आदि गुणस्थानो म नही होने स अध्रुव है। जघन्य अनुभाग वध मध्यम परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभाग वध अजघन्य अनुभाग वंध के बाद होने से सादि है और कम से कम एक समय और अधिक स अधिक चार समय तक जघन्य वध होने के पश्चात पुन अजघन्य वध होता है, जिससे जघन्य वध अध्रुव और अजघन्य वध सादि है। उसी बाद उसी भव म या दूसर किसी भव मे पुन जघन्य वध के होने पर अजघन्य वध अध्रुव होता है। इस प्रकार शेप उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य वध सादि और अध्रुव होते हैं।

अब ध्रुववंधिनी और अध्रुववधिनी प्रकृतिया के वधा के बारे मे

विचार करते हैं। तैजस चतुष्क के सिवाय शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो का अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता है। पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अंतराय, ये चौदह प्रकृतिया अशुभ है और इनका जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत मे होता है और ग्यारहवें मे इनका बंध नही होता है। अत ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुभाग बंध होता है वह सादि है और उससे पहले का बंध अनादि है। भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का बंध ध्रुव है।

संज्वलन चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे अपने बंधविच्छेद के समय मे होता है। इसके सिवाय अन्य सब जगह अजघन्य बन्ध होता है। ग्यारहवे गुणस्थान मे बंध नही होता है, अत वहा से च्युत होकर जो बंध होता है वह सादि है, उससे पहले का अनादि, भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का बन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णचतुष्क, उपघात, भय और जुगुप्सा का क्षपक अपूर्वकरण मे अपने-अपने बंधविच्छेद के समय मे एक समय तक जघन्य अनुभाग बंध और अन्य सब स्थानो पर अजघन्य अनुभाग बंध होता है। उपशम श्रेणि मे गिरने पर पुनः उनका अजघन्यबंध होता है जो सादि है। बंधविच्छेद से पहले उनका बंध अनादि, अभव्य का बंध ध्रुव और भव्य का बंध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध देशविरति गुणस्थान के अंत मे संयमाभिमुख करता है और उससे पहले होने वाला बंध अजघन्य बंध है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध क्षायिक सम्यक्त्व और संयम प्राप्त करने का इच्छुक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अंत मे करता है।

इसके सिवाय सवत्र उसका अजघन्य अनुभाग वध होता है। स्त्यानद्धि, निद्रा निद्रा और प्रचला प्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुवधी कपाय का जघन्य अनुभाग वध विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि अपने गुणस्थान के अतिम समय मे करता है और शेप सवत्र उनका अजघन्य अनुभाग वध होता है। उसके वाद सयम वगरह को प्राप्त करके वहा मे गिर कर पुन उनका अजघन्य अनुभाग वध करता है तो वह सादि और उसके पहले का अनादि, अभव्य का वध ध्रुव और भव्य का वध अध्रुव होता है। इस प्रकार ४३ ध्रुवप्रकृतियो का अजघन्य अनुभाग वध चार प्रकार का होता है।

अव उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग वध के दो दो प्रकारो को स्पष्ट करते है। उक्त ४३ प्रकृतियो का जघन्य अनुभाग वध सूक्ष्मसपराय आदि गुणस्थाना मे होता है जो उन उन गुणस्थाना मे पहली वार होने से सादि है। वारहवें आदि ऊपर के गुणस्थाना मे नही होने से अध्रुव है। उत्कृष्ट अनुभाग वध उत्कृष्ट सक्लेश वाला पर्याप्त सनी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है जो एक या दो समय तक होता है। उसके वाद अनुत्कृष्ट अनुभाग वध करता है। काला न्तर मे उत्कृष्ट सक्लेश के होने पर पुन उनका उत्कृष्ट अनुभाग वध होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग वध मे सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होत है।

अव अध्रुववधिनी प्रकृतिया के उत्कृष्ट आदि चारा अनुभाग वधा का वतलाते हैं। अध्रुववधिनी होने से इन प्रकृतिया के उत्कृष्ट, अनु त्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग वध के सादि और अध्रुव यह दो प्रकार हाते है।

नानावरण, दशनावरण, मोहनीय और अतराय ये चारा घाति कम अशुभ हैं। इनका अजघन्य अनुभाग वध चार प्रकार का होता

है। अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध और शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामी बंधक करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय अशुभ है अत इनका जघन्य अनुभाग बंध क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत समय मे होता है और मोहनीय का बंध नौवें गुणस्थान तक होता है। जिसमे नौवें गुणस्थान के अंत मे उसका जघन्य अनुभाग बंध होता है। इन गुणस्थानो के सिवाय शेष सभी स्थानो मे उक्त चारो कर्मों का अजघन्य अनुभाग बंध होता है। ग्यारहवें और दसवें गुणस्थान मे उक्त चारो कर्मों का बंध न करके वहा से गिरने के बाद जब पुन· उनका अजघन्य अनुभाग बंध होता है तब वह सादि है और जो जीव नौवें, दसवे आदि गुणस्थानो मे कभी नही आये, उनकी अपेक्षा वह अजघन्य बंध अनादि है। अभव्य का बंध ध्रुव है और भव्य का बंध अध्रुव है।

अब घातिकर्मों के शेष तीन—जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंधो मे होने वाले सादि और अध्रुव प्रकारो को स्पष्ट करते है। मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिबादर के अंतिम समय मे और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में। यह बंध पहली बार ही होता है अत· सादि है और बारहवे गुणस्थान मे जाने पर होता ही नही अतः अध्रुव है। यह अनादि नही है। क्योंकि उक्त गुणस्थानो मे आने से पहले कभी नही होता है और अभव्य के नही होने से ध्रुव भी नही है। अनुत्कृष्ट के बाद उत्कृष्ट बंध होता है अत. सादि है और उसके एक या दो समय बाद पुन. अनुत्कृष्ट बंध होता है अत· उत्कृष्ट बंध अध्रुव है और अनुत्कृष्ट बंध सादि है। कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बाद उत्कृष्ट संक्लेश होने पर पुनः उत्कृष्ट बंध होता है

जिससे अनुत्कृष्ट वध अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट वध वदलते रहने के कारण सादि और अध्रुव है।

गोत्र कम मे अजघन्य और अनुत्कृष्ट वध चार प्रकार का और जघन्य और उत्कृष्ट वध दो प्रकार का होता है। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग वध के प्रकार वेदनीय और नाम कम के समान समझना चाहिये। अब जघन्य और अजघन्य वध के बारे मे विचार करते है कि सातवें नरक का नारक सम्यक्त्व के अभिमुख होता हुआ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो को करता है तब अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है, जिससे मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते है। एक नीचे की अतमुहूत प्रमाण स्थिति और दूसरी शेष ऊपर की स्थिति। नीचे की स्थिति का अनुभव करते हुए अतमुहूत प्रमाण स्थिति के अन्तिम समय मे नीच गोत्र की अपेक्षा से गोत्र कर्म का जघन्य अनुभाग वध होता है। अन्य स्थान मे यदि इतनी विशुद्धि हो तो उसमे उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग वध होता है। सातवें नरक मे मिथ्यात्व दशा मे नीच गोत्र का ही वध होने से उसका ग्रहण किया है तथा जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व के अभिमुख नहीं, उसके नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग वध और सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग वध होता है। नीच गोत्र का यह जघन्य अनुभाग वध अन्यत्र सम्भव नही है और उसी अवस्था मे पहली वार होने स सादि है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होन पर वही जीव उच्च गोत्र की अपेक्षा स नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग वध करता है अत जघन्य अनुभाग वध अध्रुव है और अजघन्य अनुभाग वध सादि है। इमस पहले होनेवाला अजघन्य अनुभाग वध अनादि है। अभव्य का अजघन्य वध ध्रुव और भव्य का अध्रुव है। इस प्रकार गोत्र कम के जघन्य अनुभाग वध के दो और अजघन्य अनुभाग वध के चार विकल्प जानना चाहिए।

आयुकर्म के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प होते हैं। क्योंकि भुज्यमान आयु के त्रिभाग मे ही आयु कर्म का बंध होता है जिससे उसका जघन्यादि रूप अनुभाग बंध सादि है और अन्तमुहूर्त के बाद उस बंध के अवश्य रुक जाने से अध्रुव है। इस प्रकार आयुकर्म के जघन्य आदि अनुभाग बंधो के सादि और अध्रुव प्रकार समझना चाहिये।

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियो मे उत्कृष्ट आदि अनुभाग बंधो के सादि आदि भंगो को जानना चाहिये।[1] अब अनुभाग बंध का वर्णन करने के पश्चात आगे प्रदेशबंध का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। प्रदेशबंध के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम वर्गणाओ का निरूपण करते है।

प्रदेशबंध

.... इगदुगणुगाइ जा अभवणतगुणियाणू।
खधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणतरिया ॥७५॥

शब्दार्थ—इगदुगणुगाइ—एकाणुक, द्व्यणुक आदि, जा—यावत्, तक, अभवणतगुणियाणू—अभव्य से अनत गुणे परमाणु वाला खधा—स्कंध, उरलोचियवग्गणा—औदारिक के योग्य वर्गणा, तह तथा, अगहणतरिया—ग्रहणयोग्य वर्गणा के बीच अग्रहणयोग्य वर्गणा।

गाथार्थ—एकाणुक, द्व्यणुक आदि से लेकर अभव्य जीवो से भी अनन्तगुणे परमाणु वाले स्कंधो तक ही औदारिक की

---

१ गो० कर्मकाड मे अनुभाग बध के जघन्य, अजघन्य आदि प्रकारो मे सादि आदि का विचार दो गाथाओ मे किया गया है। एक मे मूल प्रकृतियो की अपेक्षा, दूसरी मे उत्तर प्रकृतियो की अपेक्षा। उक्त विचार कर्मग्रथ के समान है। गाथायें परिशिष्ट मे देखिये।

ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है तथा एक एक परमाणु की वृद्धि से ग्रहणयोग्य वर्गणा के अन्तरित अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है।

विशेषार्थ—यह लोक परमाणु और स्कंध रूप पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है और पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओं में विभाजित है, जिनमें एक कर्मवर्गणा भी है। ये वर्गणायें जीव के योग और कषाय का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती हैं। पुद्गल के एक परमाणु के अवगाहस्थान को प्रदेश कहते हैं। अतः कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल स्कंधों का परिमाण परमाणु द्वारा आंका जाता है कि अमुक समय में इतने परमाणु वाले पुद्गलस्कंध अमुक जीव को कर्म रूप में परिणत हुए हैं, इसी को प्रदेशबंध कहते हैं। अतः प्रदेशबंध का स्वरूप समझने के पूर्व कर्मवर्गणा का ज्ञान होना जरूरी है। कर्मवर्गणा का स्वरूप समझने के लिए भी उसके पूर्व की औदारिक आदि वर्गणाओं का स्वरूप जान लिया जाये। इसीलिये उन उन वर्गणाओं का भी स्वरूप समझना चाहिये। इस कारण औदारिक आदि वर्गणाओं का यहां स्वरूप कहते हैं।

ये औदारिक आदि वर्गणायें दो प्रकार की होती हैं—ग्रहणयोग्य, अग्रहणयोग्य। अग्रहणवर्गणा का आदि लेकर कर्मवर्गणा तक वर्गणाओं का स्वरूप गाथा में स्पष्ट किया जा रहा है।

समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा[1] कहते हैं। ये वर्गणायें

---

1 पंचसंग्रह की टीका में स्वजातीय स्कंधों के समूह का नाम वर्गणा कहा है। यद्यपि कर्मप्रकृति की टीका में स्कंध और वर्गणा को एकार्थक कहा है। तथापि स्कंध—वर्गणा की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग कही है। यदि स्वजातीय स्कंधों के समूह को वर्गणा कहा जाय तो [illegible] लोक

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अनंत होती है। जैसे समस्त लोकाकाश मे जो कुछ एकाकी परमाणु पाये जाते हैं, उन्हें पहली वर्गणा कहते है। दो प्रदेशो के मेल से बनने वाले स्कंधो की दूसरी वर्गणा, तीन प्रदेशो के मेल से बननेवाले स्कंधो की तीसरी वर्गणा कहलाती है। इसी प्रकार एक-एक परमाणु बढते-बढते संख्यात प्रदेशी स्कंधो की संख्याताणु वर्गणा, असंख्यात प्रदेशी स्कंधो को असंख्याताणु वर्गणा, अनंत प्रदेशी स्कंधो की अनन्ताणु वर्गणा और अनंतानन्त प्रदेशी स्कंधो की अनन्तानन्ताणु वर्गणा समझना चाहिये।

ये वर्गणायें अग्रहणयोग्य और ग्रहणयोग्य, दो प्रकार की है। जो वर्गणायें अल्प परमाणु वाली होने के कारण जीव द्वारा ग्रहण नही की जाती, उन्हे अग्रहणवर्गणा कहते है। अभव्य जीवो की राशि से अनंतगुणे और सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं से बने स्कंध यानी इतने परमाणु वाले स्कंध जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते है और जीव उन्हे ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप परिणमाता है। इसलिये उन्हे औदारिक वर्गणा कहते है। किन्तु औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ मे यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, उसके ऊपर एक-एक परमाणु बढते स्कंधो की पहली, दूसरी, तीसरी आदि अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य होती है। जिससे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से अनन्तवें

व्यापी होने से उसकी अवगाहना लोकप्रमाण होगी। वर्गणा और स्कध को जहाँ एकार्थक कहा गया हो वहाँ तो अवगहना संबधी आपत्ति नहीं। किन्तु जहा स्वजातीय स्कधो के समूह का नाम वर्गणा कहा जाये वहा अवगाहना स्कन्ध की ली जाये तो बराबर एकरूपता बनती है। अत कर्मग्रन्थ की टीका के अनुसार स्कध की अवगाहना लेना चाहिये किन्तु वर्गणा की नहीं।

भाग अधिक परमाणु वाली औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वगणा होती है। इस अनन्तवें भाग मे अनन्त परमाणु होते है। अत जघन्य वगणा से लेकर उत्कृष्ट वगणा पर्यन्त अनन्त वगणाय औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जानना चाहिये।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वगणा से ऊपर एक एक परमाणु वढने स्कधा से बनने वाली वर्गणायें औदारिक की अपेक्षा से अधिक प्रदेश वाली और सूक्ष्म होती हैं, जिससे औदारिक के ग्रहण योग्य नही होती ह और जिन स्कन्धो से वैक्रिय शरीर बनता है, उनकी अपेक्षा से अल्प प्रदेश वाली और स्थूल होती है जिससे वे वैक्रिय शरीर के ग्रहण योग्य नही होती हैं। इस प्रकार औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वगणा के ऊपर एक एक परमाणु बढो स्कधो की अनन्त अग्रहणयोग्य वगणा होती हैं। जसे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वगणा से उसी की उत्कृष्ट वगणा अनतव भाग अधिक है, वसे ही अग्रहणयोग्य जघन्य वगणा से उसकी उत्कृष्ट वगणा अनतगुणी है। इस गुणाकार का प्रमाण अभव्य राशि से अनतगुणा और सिद्धराशि का अनतवा भाग है।

इस अग्रहणयोग्य वगणा के ऊपर पुन ग्रहणयोग्य वगणा आती है और ग्रहणयोग्य वगणा के ऊपर अग्रहणयोग्य वगणा। इस प्रकार ये दोना एक दूसरे से अन्तरित है।

इस प्रकार से औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वगणाओ का कथन करने के बाद वक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य, अग्रहणयोग्य वगणाओ का स्पष्टीकरण करते है।

> एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
> सुहुमा कमावगाहो ऊणूणगुलअसखसो ॥ ७६ ॥

शब्दाय—एमेव—पूर्वोक्त क समान, विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे—वक्रिय आहारक, तैजस भाषा श्वासोच्छ्वास मन

और कार्मण वर्गणा है, सुहुमा—सूक्ष्म, कम—अनुक्रम में, अवगाहो—अवगाहना, ऊणूण—न्यून-न्यून अगुलअसंखंसो—अगुल के असंख्यातवें भाग।

गाथार्थ—पूर्वोक्त के समान ही वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्‌वास, मन और कार्मण वर्गणाये होती है। ये औदारिकादि वर्गणाये क्रमश. सूक्ष्म समझना चाहिये और उनकी अवगाहना उत्तरोत्तर न्यून-न्यून अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणा का और उसकी अग्रहणयोग्य वर्गणा का स्वरूप वतला आये है। इस गाथा मे उसके वाद की वर्गणाओ का निर्देश कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। पौद्गलिक वर्गणाओ के आठ प्रकार है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्‌वास, मन और कार्मण। ये आठो वर्गणाये प्रत्येक ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य होती है, जिससे कुल मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं। इन सोलह वर्गणाओ मे से प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते है और जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त अनंत मध्यम विकल्प होते है। ग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनंतवें भाग अधिक होता है और अग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनन्त गुणा होता है।

मनुष्य और तिर्यंचो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते है और जिन पुद्गल वर्गणाओ से यह शरीर वनता है, वे वर्गणायें औदारिक की ग्रहणयोग्य कही जाती है।

देव और नारको के शरीर को वैक्रिय कहते है। जिन वर्गणाओ से यह शरीर वनता है वे वर्गणाये वैक्रिय की ग्रहणयोग्य कही जाती है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। जो शरीर चौदह पूर्व के पाठी

मुनि के द्वारा ही रचा जा सके, उसे आहारक शरीर कहते हैं। जो शरीर भोजन पचाने मे हेतु और दीप्ति का निमित्त हो, उसे तैजस शरीर कहते है। शब्दोच्चार को भाषा कहते हैं। बाहर की वायु को शरीर के अन्दर ले जाना और अन्दर की वायु को बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। विचार करने के साधन को मन कहते हैं। कर्मों के पिंड को कार्मण—कर्म शरीर कहते है।

ये वर्गणायें क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय मे शरीरों का वर्णन करते हुए इसी प्रकार बतलाया है—परंपरं सूक्ष्मम् (२।७)। यद्यपि ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तथापि उनके निर्माण मे अधिक-अधिक परमाणुओं का उपयोग होता है। जैसे रुई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर और लोहा अमुक परिमाण मे लेने पर भी रुई से लकड़ी का आकार छोटा होगा, लकड़ी से मिट्टी का आकार छोटा होगा, मिट्टी से पत्थर का आकार छोटा होगा और पत्थर से लोहे का आकार छोटा होगा। लेकिन आकार मे छोटे होने पर भी ये वस्तुयें उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती है। वैसे ही औदारिक शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओं से बनता है, वे रुई की तरह अल्प परिमाण वाली किन्तु आकार मे स्थूल होती है। वैक्रिय शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओं से बनता है वे लकड़ी की तरह औदारिक योग्य वर्गणाओं से अधिक परमाणु वाली किन्तु अल्प परिमाण वाली है। इसी प्रकार आगे आगे की वर्गणाओं के बारे मे भी समझना चाहिये कि आगे आगे की वर्गणाओं मे परमाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है किंतु आकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होता जाता है। इसीलिये इनकी अवगाहना अर्थात् लम्बाई चौडाई वगैरह सामान्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बताई है और वह अंगुल का असंख्यातवां भाग उत्तरोत्तर हीन-हीन है। इसका कारण यह है कि ज्यों ज्यों पर-

माणुओं का संघात होता है त्यो-त्यो उनका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रूप परिमाण होता है।

औदारिक आदि वर्गणाओं की अवगाहना जो उत्तरोत्तर हीन-हीन अंगुल के असंख्यातवे भाग कही है वह पूर्व की अपेक्षा क्रम से एक के वाद दूसरी उत्तरोत्तर असंख्यातवा भाग हीन समझना चाहिये। इस न्यूनतर की वजह से ही अल्प परमाणु वाले औदारिक शरीर के दिखने पर भी उसके साथ विद्यमान रहने वाले तैजस और कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणु वाले होने पर भी दिखाई नही देते है।

तैजस वर्गणा के वाद भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा का उल्लेख करके सवसे अंत मे कार्मण वर्गणा को रखा है, इसका कारण यह है कि तैजस वर्गणा से भी भाषा आदि वर्गणाये अधिक सूक्ष्म है। अर्थात् तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ से वे वर्गणाये अधिकसूक्ष्म है जो वातचीत करते समय शब्द रूप परिणत होती है, उनसे भी वे वर्गणाये सूक्ष्म है जो श्वासोच्छ्वास रूप परिणत होती है। श्वासोच्छ्वास वर्गणा से भी मानसिक चिन्तन का आधार वनने वाली मनोवर्गणाये और अधिक सूक्ष्म है। कर्मवर्गणा मनोवर्गणा से भी सूक्ष्म है। इससे यह अनुमान हो जाए कि वे कितनी अधिक सूक्ष्म है किन्तु उनमे परमाणुओ की संख्या कितनी अधिक होती है।

औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओ का विववेचन पूर्व गाथा मे किया जा चुका है। शेष रही वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओ को यहा स्पष्ट करते है।

औदारिक शरीर की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंधो के परमाणुओ से एक अधिक परमाणु जिन स्कंधो मे पाये जाते है उन स्कंधो की समूह रूप वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इस जघन्य वर्गणा के स्कंध के प्रदेशो से एक अधिक प्रदेश जिस-जिस स्कंध मे पाया जाता है उनका समूह रूप दूसरी

उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते तैजसशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा के अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की उत्कृष्ट वर्गणा होती है। तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा से अनन्तगुणे अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की उत्कृष्ट अग्रहण-योग्य वर्गणा होती है। ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणायें तैजस शरीर की अपेक्षा से बहुत प्रदेश वाली और सूक्ष्म होने तथा भाषा की अपेक्षा स्थूल और अल्प प्रदेश वाली होने से अग्रहणयोग्य है।

उक्त उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है वह भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की भाषाप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणायें भाषा की ग्रहणयोग्य होती है। भाषा की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कन्धो की अग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस वर्गणा के स्कन्धो से एक प्रदेश अधिक स्कन्धो की वर्गणा श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध प्रदेशो के अनन्तवे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो की श्वासोच्छ्वास की ग्रहण-योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धो से एक प्रदेश अधिक स्कंधो की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और

उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इस वर्गणा के स्कंधों से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कंधों के प्रदेशों से अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कंधों की मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

मनोद्रव्य की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उसके ऊपर एक एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कंध प्रदेशों से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंध के प्रदेशों से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की वर्गणा कर्म की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कंधों की कर्म की योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस प्रकार से आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहण योग्य होती हैं। अग्रहण वर्गणायें ग्रहण वर्गणाओं के मध्य में होती हैं। अर्थात् अग्रहण वर्गणा, आहारक वर्गणा, अग्रहण वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा इत्यादि। जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कंध में जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक एक स्कंध में होते हैं और जघन्य ग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कंध में जितने परमाणु होते हैं उनसे अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा के स्कंध में होते हैं।

इस प्रकार [illegible] पूर्व पूर्व की [illegible] वर्गणा के स्कंध, [illegible] एक एक प्रदेश बढ़ते बढ़ते आगे आगे की जघन्य वर्गणा का प्रमाण आता है। अर्थात् वर्गणा की [illegible] अनन्त

जघन्य वर्गणा से सिद्ध राशि के अनन्तवे भाग गुणित है और ग्राह्य वर्गणा की उत्कृष्ट वर्गणा अपनी जघन्य वर्गणा से अनन्तवें भाग अधिक है।

यहा पर वर्गणाओ के सोलह भेद[1] बताने और उनके कथन करने का उद्देश्य यही है कि जो चीज कर्म रूप परिणत होती है, उसके स्वरूप की रूपरेखा दृष्टि मे आ जाये।

ग्रहणयोग्य वर्गणाओ का स्वरूप और उनकी अवगाहना का प्रमाण बतलाकर अब आगे की गाथा मे अग्रहण वर्गणाओ के परिमाण का कथन करते है।

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अग्गहणा।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

शब्दार्थ—इक्किक्कहिया—एक एक परमाणु द्वारा अधिक सिद्धाणतंसा—सिद्धो के अनतवें भाग, अतरेसु—अन्तराल मे, अग्गहणा—अग्रहणयोग्य वर्गणा, सव्वत्थ—सर्व वर्गणाओ मे, जहन्नुचिया—जघन्य ग्रहण वर्गणा से, नियणतंसाहिया—अपने अनन्तवे भाग अधिक, जिट्ठा—उत्कृष्ट वर्गणा।

---

1 पचसग्रह मे भी कर्मग्रन्थ के समान ही वर्गणाओ का निरूपण किया है। वहा १६ वर्गणाओं से आगे की वर्गणाओ को इस प्रकार बताया है—

कम्मोवरि धुवेयरसुण्णा पत्तेयसुण्णवायरिया।
सुण्णा सुहुमा सुण्णा महखधो सगुणनामाओ। —बधनकरण १६

कर्मवर्गणा से ऊपर ध्रुववर्गणा, अध्रुववर्गणा शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा और महास्कध वर्गणा होती है।

कर्मप्रकृति और गो० जीवकाड मे भी कुछ सामान्य से नामभेद के साथ यही वर्गणायें कही है।

गाथाय—आदारिक आदि वगणाओ के मध्य मे एक एक परमाणु द्वारा अधिक सिद्धा के अनतवें भाग परिमाण वाली अग्रहणयोग्य वगणा होती हैं। औदारिक आदि सभी वगणाओ का उत्कृष्ट अपने-अपने योग्य जघन्य से अनतवें भाग अधिक होता है।

विशेषार्थ पूव की दो गाथाआ मे ग्रणहयोग्य वगणाओ के नाम और उनकी अवगाहना का प्रमाण बतलाया है और यह भी कहा है कि ग्रहणयोग्य वगणायें अग्रहणयोग्य वगणाआ से अन्तरित होती ह। इस गाथा मे अग्रहणयोग्य वगणाओ का प्रमाण आर ग्रहणयाग्य वगणाआ के जघन्य आर उत्कृष्ट भेदा का अन्तर वतलाया है।

यद्यपि पूव मे ग्रहणयाग्य वर्गणाओ का विचार करते समय अग्रहणयोग्य वगणाओ के प्रमाण का भी सकेत कर आये ह, तथापि सक्षेप मे पुन यहा स्पष्ट कर दते ह कि उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वगणा के प्रत्येक स्कन्ध मे जितने परमाणु होते ह, उनमे एक अधिक परमाणु वाले स्कन्धा के समूह की अग्रहणयाग्य जघन्य वगणा होती है। इसके बाद दो अधिक परमाणु वाले स्कन्धो के समूह की दूसरी अग्रहणयोग्य वगणा जानना चाहिए। इसी प्रकार तीन अधिक, चार अधिक, आदि तीसरी चौथी आदि अग्रहणयोग्य वगणायें समझ लेना चाहिए।

अग्रहणयाग्य जघन्य वगणा के एक स्कन्ध मे जितने परमाणु हो उनको सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणु वाले स्कन्धा के समूह की अग्रहणयाग्य उत्कृष्ट वगणा होती है। इसीलिये प्रत्यक अग्रहणयाग्य वगणा की सख्या सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग वतलाई है। क्यावि जघन्य अग्रहण वगणा के एक स्कन्ध मे जितने परमाणु होते हैं वे सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से गुणा करने पर आते ह। इसीलिये जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक

वर्गणा के उतने ही विकल्प होते है यानी अग्रहण वर्गणा के जो अनन्त भेद होते है, वे भेद प्रत्येक अग्रहण वर्गणा के जानना चाहिये। न कि कुल अग्रहण वर्गणाये सिद्धराशि के अनन्तवे भाग प्रमाण है।

अग्रहण वर्गणाओ के वारे मे दूसरी वात यह भी जानना चाहिये कि ये ग्रहण वर्गणाओ के अन्तराल मे ग्रहण वर्गणा के वाद अग्रहण वर्गणा और अग्रहण वर्गणा के वाद ग्रहण वर्गणा, इस क्रम से होती है। ऐसा नही है कि उनमे से कुछ वर्गणाये औदारिक वर्गणा से पहले होती है और कुछ वाद मे। इसी प्रकार वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य वर्गणाओ के वारे मे समझना चाहिये।

अग्रहण वर्गणाओ का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से सिद्ध राशि के अनन्तवे भाग गुणित है और ग्रहणयोग्य वर्गणाओ का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से अनन्तवे भाग अधिक है। यानी जघन्य ग्रहणयोग्य स्कन्ध से अनन्तवे भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य स्कन्ध मे होते है।

इस प्रकार से वर्गणाओ का ग्राह्य-अग्राह्य, उत्कृष्ट-जघन्य आदि सभी प्रकारो से विवेचन किये जाने के पश्चात् अव आगे की गाथा में जीव जिस प्रकार के कर्मस्कन्ध को ग्रहण करता है, उसे वतलाते है।

अतिमचउफासदुगंधपचवन्नरसकम्मखंधदल।
सव्वजियणतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएस ॥७८॥
एगपएसोगाढ नियसव्वपएसउ गहेइ जिऊ।

शब्दार्थ **अन्तिमचउफास**—अन्त मे चार स्पर्श, **दुगध**—दो गध, **पंचवन्नरस**—पाच वर्ण और पाच रस वाले, **कम्मखधदल**—कर्मस्कन्ध दलिको को, **सव्वजियणतगुणरसं**—सर्व जीवो से भी अनन्त गुणे रस वाले **अणुजुत्तं**—अणुओ से युक्त, **अणंतयपएसं**—अनन्त प्रदेश वाले, **एगपएसोगाढं**—एक क्षेत्र मे अवगाढ रूप मे विद्य-

मान नियसव्वपएसउ—अपन समस्त प्रदेशा द्वारा गहेइ—ग्रहण करता है जिउ—जीव।

गाथाथ—अन्त के चार स्पश, दो गध, पाच वण और पाच रस वाले सब जीवा मे भी अनन्त गुणे रस वाले अणुओ स युक्त अनन्त प्रदेश वाले और एक क्षेत्र मे अवगाढ रूप से विद्यमान कर्मस्कधो को जीव अपने सब प्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है।

विशेषाथ—गाथा मे जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कधो का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि जीव किस क्षेत्र मे रहने वाले कमस्कधो को ग्रहण करता है और उनके ग्रहण की क्या प्रक्रिया है।

जीव द्वारा जो कमस्कध ग्रहण किये जाते हैं वे पौद्गलिक हैं अथात पुद्गल परमाणुओ का समूहविशेष है। इसीलिए उनमे भी पुद्गल के गुण—स्पश, रस, गध और वण पाये जाते है। अथात् जस पुद्गल रूप, रस, गध, स्पश वाला है वस ही कम स्कन्ध भी रूप आदि वाले होने से पुद्गलजातीय हैं।

एक परमाणु मे पाच प्रकार के रसा मे से कोई एक रस, पाच प्रकार के रूपा मे स कोइ एक रूप, दो प्रकार की गधा मे से कोई एक गध और आठ प्रकार के स्पर्शो—गुरु लघु, कोमल कठोर, शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष म से दो अविरुद्ध स्पश होते हैं।[1]

---

१ कारणमव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु।
एकरसगधवर्णो द्विस्पर्श कार्यलिङ्गश्च॥
—तत्त्वार्थभाष्य म उद्धृत

परमाणु किसी स उत्पन्न नही होता है किन्तु दूसरी वस्तुओ का
(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार से एक परमाणु मे एक रूप, एक रस, एक गंध और अंत के चार स्पर्शो मे से दो स्पर्श होते है किन्तु इन परमाणुओ के समूह से जो स्कन्ध तैयार होते है, उनमे पाचो वर्ण, पाचों रस, दोनो गंध और चार स्पर्श हो सकते है। क्योकि उस स्कन्ध मे बहुत से परमाणु होते है और उन परमाणुओ मे से कोई किसी रूप वाला, कोई किसी रस वाला, कोई किसी गंध वाला होता है तथा किसी परमाणु मे अत के चार स्पर्शो—शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्ष-मे से स्निग्ध और उष्ण स्पर्श पाया जाता है और किसी मे रूक्ष और शीत स्पर्श पाया जाता है। इसीलिये कर्मस्कन्धो को पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाला कहा जाता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने कर्मस्कन्ध को अंत के चार स्पर्श[1] दो गंध, पाच वर्ण और पाच रस वाला बतलाया है।

कर्मस्कन्धो को चतु स्पर्शी कहने का कारण यह है कि स्पर्श के जो आठ भेद बतलाये गये है उनमे से आहारक शरीर के योग्य ग्रहण वर्गणा तक के स्कन्धो मे तो आठो स्पर्श पाये जाते है किन्तु उससे

उत्पन्न करने वाला होने मे कारण है। उससे छोटी दूसरी कोई वस्तु नही है, अत वह अन्त्य है। सूक्ष्म है, नित्य है तथा एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है। उसके कार्य को देखकर उसका अनुमान ही किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष नही होता है।

परमाणु मे शीत और उष्ण मे से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मे से एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते है।

१ कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका मे लिखा है कि बृहत्शतक की टीका म बतलाया है कि कर्मस्कन्ध मे मृदु और लघु स्पर्श तो अवश्य रहते है। इनके सिवाय स्निग्ध, उष्ण अथवा स्निग्ध, शीत अथवा रूक्ष, उष्ण अथवा रूक्ष, शीत मे से दो स्पर्श और रहते है। इसीलिये एक-कर्मस्कन्ध मे चार स्पर्श बतलाये जाते है।

ऊपर तैजसशरीर आदि प्रायोग्य वगणाओ के स्कन्धो मे केवल चार ही स्पश होते है—

पञ्चरसपञ्चवण्णेहिं परिणया अट्ठफास दो गधा।
जीवाहारगजोग्गा चउफासविसेसिया उवरिं ॥[1]

अथात् जीव के ग्रहण योग्य औदारिक आदि वगणाये पाच रस, पाच वर्ण, आठ स्पश और दो गध वाली होती है, किन्तु ऊपर की तजस शरीर आदि के योग्य ग्रहण वगणायें चार स्पश वाला होती ह।

द्रव्यो के दो भेद है—गुरुलघु और अगुरुलघु। इन दो भेदो मे वगणाओ का वटवारा करते हुए आवश्यक नियुक्ति मे लिखा है—

ओरालियवउव्वियआहारयतेय गुरुलहू दव्वा।
कम्मगमणभासाइ एयाइ अगुरुलहुयाइ ॥४१॥

औदारिक वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्य गुरुलघु ह और कामण, भापा और मनोद्रव्य अगुरुलघु ह। इन गुरुलघु और अगुरुलघु की पहिचान के लिये द्रव्यलोकप्रकाश सग 11 श्लोक चौबीस मे लिखा है कि आठ स्पशवाला बादर रूपी द्रव्य गुरुलघु होता है और चार स्पश वाले सूक्ष्म रूपी द्रव्य तथा अमूत आकाशादिक भी अगुरुलघु होते ह। इसके अनुसार तजस वगणा के गुरुलघु होन स उसमे तो आठ स्पश सिद्ध होते ह और उसके बाद की भाषा, कर्म आदि वगणाओ के अगुरुलघु होने स उनमे चार स्पश माने जाते है।

इस प्रकार से अभी तक जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्म-स्कन्धो के स्वरूप की एक विशेषता बतलाई है कि 'अन्तिम चउफास

---

[1] पचसग्रह ४१०

[2] बादरमष्टस्पश द्रव्य रूप्येव भवति गुरुलघुकम।
अगुरुलघु चतुस्पश सूक्ष्म वियदाद्यमूर्तमपि ॥

दुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं' वे कर्मस्कन्ध अन्तिम चार स्पर्श, दो गंध, पांच वर्ण और पांच रस वाले होते है। अब आगे उनकी दूसरी विशेषता का वर्णन करते है कि वे कर्मस्कन्ध –सव्वजियणंतगुणरसं – सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे रस के धारक होते है। यहां रस का अर्थ खट्ठे, मीठे आदि पाच प्रकार के रस नही किन्तु उन कर्मस्कन्धो मे शुभाशुभ फल देने की शक्ति है। यह रस प्रत्येक पुद्गल मे पाया जाता है। जिस तरह पुद्गल द्रव्य के सबसे छोटे अंश को परमाणु कहते है, उसी तरह शक्ति के सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते है। ये रसाणु बुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने से बनते है।[1] क्योकि जैसे पुद्गल द्रव्य के स्कन्धो के टुकडे किये जा सकते है वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणो के टुकडे नही किये जा सकते है। फिर भी हम दृश्यमान वस्तुओ मे गुणो की हीनाधिकता को बुद्धि के द्वारा सहज मे ही जान लेते है। जैसे कि भैस, गाय और बकरी का दूध हमारे सामने रखा जाये तो उसकी परीक्षा कर कह देते है कि भैस के दूध मे चिकनाई अधिक है और गाय के दूध मे उससे कम तथा बकरी के दूध मे तो चिकनाई नही-जैसी है। इस प्रकार से यद्यपि चिकनाई गुण होने से उसके अलग-अलग खण्ड तो नही किये जा सकते है किन्तु उसकी तरतमता का ज्ञान किया जाता है। यह तरतमता ही इस बात को सिद्ध करती

---

१ रसाणु को गुणाणु या भावाणु भी कहते है और ये बुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने पर बनते हैं। जैसा कि पचसग्रह मे लिखा है—

पञ्चण्ह सरीराण परमाणूण मईए अविभागो।
कप्पियगाणंसमो गुणाणु भावाणु वा होंति ॥४१७॥

पाच शरीरो के योग्य परमाणुओ की इस शक्ति का बुद्धि के द्वारा खण्ड करने पर जो अविभागी एक अश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं।

है कि वुद्धि द्वारा गुणा के भी अश हो सक्ने हृ और उनके तरतम भाव का ज्ञान किया जाता है ।

इन गुणो के अशा को रसाणु कहत ह । ये रसाणु भी सवसे जघन्य रस वाले पुदगल द्रव्य मे सव जीवराशि म अनन्तगुणे होत ह ।[1] इसीलिए कमम्कन्ध को सव जीवराशि से अनन्तगुणे रसाणुआ मे युक्त कहा है—अणुजुत्त । ये रसाणु ही जीव के भावा का निमित्त पाकर कटुक या मधुर (अशुभ या शुभ) रूप फल देते ह ।

वमस्कन्धा की तीसरी विशेषता है कि—अणतपएस - एक एव वमम्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है । ऐसा नही है कि वमस्कन्धा के प्रदेशा की सख्या निश्चित हो । किन्तु प्रत्येक कमस्कन्ध अनन्तानन्त प्रदेश वाला है, यानी वह अनन्त परमाणु वाला होता है ।

पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किय जाने वाले कर्मस्कन्ध पौदगलिक है और पौदगलिक होने से उनमे रूप, रस आदि पौदगलिक गुण पाये जाते हैं । उनमें सव जीवराशि से भी अनन्तगुणी फलदान शक्ति होती है तथा अनन्त प्रदेशी हैं । इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण करके योग्य वमस्कन्धा का स्वरूप जानना चाहिए ।

इस प्रकार वमस्कन्धा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बाद

---

१ जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासखलोगपरिमाणा ।
सव्वजियाणतगुणा एक्कक्के होति भावाणू ॥—पचसग्रह ४३६

अनुभाग के कारण जीव के कषायात्मक रूप परिणाम दो तरह के होते हैं—शुभ और अशुभ । शुभ परिणाम असख्यात लोकाकाश के प्रदेशा के बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं । एक एक परिणाम द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलो म सब जीवो म अनन्तगुणे भावाणु (रसाणु) होते हैं ।

अब यह बतलाते है कि जीवो द्वारा किस क्षेत्र मे रहने वाले कर्मस्कन्धों को ग्रहण किया जाता है और ग्रहण करने की प्रक्रिया क्या है।

प्रारम्भ मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्त लोक पुद्‌गल-द्रव्य से ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्‌गल द्रव्य औदारिक आदि अनेक वर्गणाओ मे विभाजित है और पुद्‌गलात्मक होने से ये समस्त लोक मे पाई जाती है। उक्त वर्गणाओ मे ही कर्मवर्गणा भी एक है, अत कर्मवर्गणा भी लोकव्यापी है। इन लोकव्यापी कर्मवर्गणाओ मे से प्रत्येक जीव उन्ही कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता है जो उसके अत्यन्त निकट होती है—एगपएसोगाढं—यानी जीव के अत्यन्त निकट-तम प्रदेश मे व्याप्त कर्मवर्गणायें जीव द्वारा ग्रहण की जाती है। जैसे आग मे तपाये लोहे के गोले को पानी मे डाल देने पर वह अपने निक-टस्थ जल को ग्रहण करता है किन्तु दूर के जल को ग्रहण नही करता है, वैसे ही जीव भी जिन आकाश प्रदेशो मे स्थित होता है, उन्ही आकाश प्रदेशो मे रहने वाली कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता है तथा जीव द्वारा कर्मों के ग्रहण करने की प्रक्रिया यह है कि जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल मे गिरने पर चारो ओर से पानी को खीचता है वैसे ही जीव भी सर्व आत्मप्रदेशो से कर्मों को ग्रहण करता है।[1]

---

१ (क) एयक्खेत्तोगाढ सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्ग।
बधदि सगहेदुहि य अणादिय सादिय उभय ॥ —गो० कर्मकाड १८५

एक अभिन्न क्षेत्र मे स्थित कर्मरूप होने के योग्य अनादि, सादि और उभयरूप द्रव्य को यह जीव सर्व प्रदेशो मे कारण मिलने पर बाँधता है।

(ख) एगपएसोगाढे सव्वपएसेहि कम्मणो जोगे।
जीवो पोग्गलदव्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥ —पचसग्रह २८४

एक क्षेत्र मे स्थित कर्मरूप होने के योग्य सादि अथवा अनादि पुद्‌गल द्रव्य को जीव अपने समस्त प्रदेशो से ग्रहण करता है।

ऐसा नहीं होता है कि आत्मा के अमुक हिस्से से ही कर्मों का ग्रहण किया जाता हो। इसी बात को बतलाने के लिए गाथा में कहा है—नियमव्वपएमउ गहेइ जिउ—यानी जीव अपने अमुक हिस्से द्वारा ही किसी निश्चित क्षेत्र में स्थिति कमस्कन्धों का ग्रहण नहीं करके समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा कर्मों का ग्रहण करता है।

इस प्रकार से जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्धों का स्वरूप और उनके ग्रहण करने की प्रक्रिया आदि का कथन करने के पश्चात अब आगे यह स्पष्ट करते हैं कि जीव द्वारा ग्रहण किये गये कमस्कन्धों का किस क्रम से विभाग होता है।

थेवो आउ तदसो नामे गोए समो अहिउ ॥७९॥
विग्घावरण मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे।
तस्स फुडत्त न हवइ ठिईविसेसेण सेसाण ॥८०॥

शब्दार्थ—थेवो—सबसे अल्प आउ—आयुकर्म का तदसो—उसका अश नामे—नामकर्म का गोए—गोत्रकर्म का समो—समान अहिउ—विशेषाधिक, विग्घावरण अन्तराय और आवरणद्विक का मोहे—मोह का सव्वोवरि—सबसे अधिक वेयणीय—वेदनीय कर्म का जेण जिस कारण से अप्पे—अल्पभाग होने से तस्स—उसका (वेदनीय का) फुडत्त—स्पष्ट रीति से अनुभव न हवइ—नहीं होता है ठिईविसेसेण—स्थिति की अपेक्षा से सेसाण—शेष कर्मों का।

गाथार्थ—आयुकर्म का हिस्सा सबसे थोडा है। नाम और गोत्र कर्म का भाग आपस में समान है किन्तु आयुकर्म के भाग से अधिक है, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपस में समान है किन्तु नाम और गोत्र के हिस्से से अधिक है। मोहनीय का हिस्सा उससे अधिक है और

सबसे अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। क्योंकि थोड़े द्रव्य के होने पर वेदनीय कर्म का अनुभव स्पष्ट रीति से नहीं हो सकता है। वेदनीय के अलावा शेष सातों कर्मों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भाग मिलता है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों का ज्ञानावरण आदि प्रकृतियो मे विभाजित होने को बतलाया है।

जिस प्रकार भोजन के पेट मे जाने के बाद कालक्रम मे वह रस, रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव द्वारा प्रति समय ग्रहण की जा रही कर्मवर्गणायें भी उसी समय उतने हिस्सो मे बंट जाती है जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव ने किया है।

पूर्व मे यह बतलाया जा चुका है कि प्रति समय जीव द्वारा कर्म-स्कन्धो का ग्रहण होता रहता है, लेकिन यह भी स्पष्ट किया है कि आयुकर्म का बंध सर्वदा न होकर भुज्यमान आयु के त्रिभाग में होता है तथा वह भी अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इन त्रिभागों मे भी बंध न हो तो अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर अवश्य भी परभव की आयु का बंध हो जाता है। अतः जिस समय जीव आयुकर्म का बंध करता है उस समय तो ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्ध आयुकर्म सहित ज्ञानावरण आदि आठो कर्मों मे विभाजित हो जाते है यानी उनके आठ भाग हो जाते है और जिस समय आयु का बंध नही होता है, उस समय ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध आयुकर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों मे विभाजित होते है।

यह तो हुआ एक सामान्य नियम। लेकिन गुणस्थानक्रमारोहण के समय जब जीव दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है तब आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का बंध करता है। अतः उस समय गृहीत कर्मस्कन्ध सिर्फ छह कर्मों मे ही विभाजित

होत है और ग्यारहवें आदि गुणस्थाना से एक सातावेदनीय कम का वध होना हैं। अत उस समय ग्रहण किये हुए कमस्कन्ध उस एक कम रूप ही हो जात ह।

इस प्रकार ग्रहण किये हुए कमस्कन्धा का आठा कमा मे विभाजित होने का क्रम समझना चाहिये। अव प्रत्येक कम को मिलने वाले हिस्से का स्पष्टीकरण करते ह कि अपनी अपनी कालस्थिति के अनुसार प्रत्येक कम को ग्रहण किये हुए कमस्कधा का हिस्सा मिलता है। यानी जिस कम की स्थिति कम है तो उसे कम और अधिक स्थिति है ता उसे अधिक हिस्सा मिलेगा। लेकिन यह सामान्य नियम वेदनीय कम को छोडकर शेष सात कर्मा पर लागू होता है। वेदनीय कम का अधिक हिस्सा मिलने के कारण को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

सवमे कम स्थिति आयुकम की होने स सवप्रथम आयुकम मे कमस्कधो के विभाजन को स्पष्ट किया जा रहा है कि—'थेवा आउ' आयुकम का भाग सवमे थोडा है। इसका कारण यह है कि आयुकम की स्थिति सिफ तेतीस सागर है जवकि नाम, गोत्र आदि शेष सात कमा मे स किसी की वीस कोटाकोडी सागर, किसी की तीस कोडाकोडी सागर और किसी की सत्तर कोडाकोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। अत अन्य कर्मों की स्थिति की अपेक्षा आयुकम की स्थिति सवस कम होन से आयुकम को ग्रहण किये गये कमस्कन्धा का सवसे कम भाग मिलता है।

आयुकम स नाम और गोत्र कम का हिस्सा अधिक है। क्योकि आयुकम की स्थिति तो सिफ तेतीस सागर ही है, जवकि नाम और गोत्र कम की स्थिति वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। नाम और गोत्र कम की स्थिति समान है अत उनको हिस्सा भी वरावर-वरावर मिलता है—नाम गोए समो। अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मो का नाम

और गोत्र कर्म से अधिक हिस्सा मिलता है। क्योंकि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तो बीस-बीस कोडाकोडी सागर है जबकि अन्तराय आदि तीन कर्मों में से प्रत्येक की स्थिति तीस-तीस कोडाकोडी सागर है। लेकिन इन तीनों कर्मों की स्थिति समान होने से उनका भाग आपस में बराबर-बराबर है। इन तीनों कर्मों से मोहनीय कर्म का भाग अधिक है, क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर की है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों को उनकी स्थिति के अनुसार क्रमश अधिक पुद्गलस्कन्धों के प्राप्त होने को बतलाया। अब वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने के कारण को स्पष्ट करते हैं - सव्वोवरि वेयणीय। क्योंकि बहुत द्रव्य के बिना वेदनीय कर्म के सुख-दु ख आदि का अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। अल्प द्रव्य मिलने पर वेदनीय कर्म अपने सुख-दु ख का वेदन कराने रूप कार्य करने में समर्थ नहीं होता है—जेणप्पे तस्स फुडत्त न हवई। किन्तु अधिक द्रव्य मिलने पर ही वह अपना कार्य करने में समर्थ है।[1] वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने का कारण यह है कि सुख-दु ख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा अधिक होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रतिसमय सुख-दु ख का वेदन करता है, जिससे वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी-

---

१ कमसो वुड्ढठिईण भागो दलियस्स होइ सविसेसो।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्त जओणप्पे ॥

—पचसग्रह २८५

अधिक स्थिति वाले कर्मों का भाग क्रम से अधिक होता है किन्तु वेदनीय का भाग सबसे ज्येष्ठ होता है क्योंकि अल्प दल होने पर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता है।

लिए उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है।[1] इसी से वेदनीय कर्म की स्थिति बीस कोडाकोडी सागर होने पर भी उसे सबसे अधिक भाग[2] मिलता है।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियों में कर्मस्कंधों के विभाग को बतला कर अब आगे की गाथा में उत्तर प्रकृतियों में उसका क्रम बतलाते हैं।

नियजाइलद्धदलियाणंतंसो होइ सव्वघाईणं।
बज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥८१॥

शब्दार्थ—नियजाइलद्धदलिय – अपनी मूल प्रकृति रूप जाति द्वारा प्राप्त किये गये कर्म दलिकों का अणंतंसो—अनंतवां भाग होई—होता है सव्वघाईणं—सर्वघाती प्रकृतियों का बज्झंतीण—बंधने वाली विभज्जइ—विभाजित होता है सेसं शेष भाग सेसाण—बाकी की प्रकृतियों में, पइसमयं—प्रत्येक समय में।

गाथार्थ—अपनी अपनी मूल प्रकृति द्वारा प्राप्त किये गये कर्मदलिकों का अनन्तवां भाग सर्वघाति प्रकृतियों को प्राप्त होता है और शेष बचा हुआ हिस्सा प्रतिसमय बंधने वाली प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में यह बताया गया है कि मूल कर्मप्रकृतियों को प्राप्त होने वाला पुद्गल द्रव्य ही उन उन कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में विभाजित होकर उन्हें प्राप्त होता है। क्योंकि उत्तर प्रकृतियों के

---

१ सुहदुक्खणिमित्तादो बहुगणिज्जरगोत्ति वयणीयस्स।
सव्वेहिंतो बहुग दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥

— गो० कर्मकांड १९३

२ स्थिति के अनुसार कर्मों का अंतर व अधिक भाग मिलने की रीति का गो० कर्मकांड में स्पष्ट किया गया है। उसका जानकारी परिशिष्ट में दी गई है।

सिवाय मूल प्रकृति नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। लेकिन यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जिस प्रकार गृहीत पुद्गल द्रव्य उन्ही कर्मों मे विभाजित होता है जिन कर्मों का उस समय बंध होता है, उसी प्रकार प्रत्येक मूल प्रकृति को जो भाग मिलता है, वह भाग भी उसको उन्ही उत्तर प्रकृतियो मे विभाजित होता है, जिनका उस समय बंध होता है और जो प्रकृतिया उस समय नही बंधती है, उनको उस समय भाग भी नही मिलता है।[1]

ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म है और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यह चार अघातिकर्म है। घातिकर्मों की कुछ उत्तर प्रकृतियां सर्वघातिनी होती हैं और कुछ देशघातिनी। गाथा मे सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियो को लक्ष्य मे रखकर प्राप्त द्रव्य के विभाग को बतलाया है कि—अणंतंसो होई सव्वघाईणं—घातिकर्मों को जो भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवा भाग सर्वघातिनी प्रकृतियों मे और शेष बहुभाव बंधने वाली देशघाति प्रकृतियो मे विभाजित हो जाता है[2]—वज्झंतीण् विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं।

---

१ ज समय जावइयाइं बधए ताण एरिस विहीए।
पत्तेय पत्तेय भागे निव्वत्तए जीवो ॥ —पंचसंग्रह २८८

२ (क) ज सव्वघातिपत्त सगकम्मपएसणतमो भागो।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥
—कर्मप्रकृति, बंधनकरण, गा० २५

जो कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृतियो को मिलता है, वह अपनी-अपनी मूल प्रकृति को मिलने वाले भाग का अनन्तवा भाग होता है और शेष द्रव्य का बटवारा देशघातिनी प्रकृतियो मे हो जाता है। अत ज्ञानावरण का शेष द्रव्य चार भागों मे विभाजित होकर उसकी चार देश-

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतिया पाच है। उनमे से केवलज्ञानावरण प्रकृति सवघातिनी है और शेष चार देशघातिनी है। अत जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरण रूप परिणत होता है उसका अनन्तवा भाग सवघाती है अत वह केवलज्ञानावरण को मिलता है और शेष देशघाती द्रव्य चार देशघाती प्रकृतिया मे विभाजित हो जाता है। दशनावरण की उत्तर प्रकृतिया नौ ह। उनमे केवलदशनावरण और निद्रा आदि स्त्यानर्द्धि पयन्त पाच निद्रायें सवघातिनी ह और शेप तीन प्रकृतिया देशघातिनी ह। अत जो द्रव्य दशनावरण रूप परिणत होता है उसका अनन्तवा भाग सवघाति होने से वह छह सवघातिनी प्रकृतिया मे बट जाता है और शेप द्रव्य तीन देशघातिनी प्रकृतिया मे विभाजित हो जाता है।

मोहनीय कम को जो भाग मिलता है, उसमे अनन्तवा भाग सवघाती है और शेप देशघाती द्रव्य है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दशनमोहनीय और चारित्रमोहनीय, अत प्राप्त सर्वघाती द्रव्य के भी दो भाग हो जाते हैं। उसमे से एक भाग दर्शनमोहनीय को मिल जाता

घातिनी प्रकृतिया को और दशनावरण का शेप द्रव्य तीन भागों म विभाजित होकर उसको तीन देशघतिनी प्रकृतियों को मिल जाता है किन्तु अन्तराय कम को मिलने वाला भाग पूरा का पूरा पाच भागों में विभाजित होकर उसकी पाचो देशघातिनी प्रकृतियो को मिलता है, क्योंकि अन्तराय की कोई भी प्रकृति सवघातिनी नही है।

(ख) सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणतिमो भागो।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो दसघाईण ॥

—पचसग्रह ४३४

मूल प्रकृति को मिले हुए भाग का अनन्तवा भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रस वाला द्रव्य है वह सवघातिनी प्रकृतिया को मिलता है और शेप अनुत्कृष्ट रस वाला द्रव्य देशघातिनी प्रकृतिया को दिया जाता है।

और दूसरा भाग चारित्रमोहनीय को। दर्शनमोहनीय को प्राप्त पूरा भाग उसकी उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व को ही मिलता है, क्योंकि वह सर्वघातिनी है। किन्तु चारित्रमोहनीय के प्राप्त भाग के बारह भेद होकर अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, इन बारह भागो मे बंट जाता है। मोहनीय कर्म के देशघाती द्रव्य के दो भाग होते है। उनमे से एक भाग कषायमोहनीय का और दूसरा नोकषाय मोहनीय का होता है। कषायमोहनीय के द्रव्य के चार भाग होकर सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते है और नोकषाय मोहनीय के पाच भाग होकर क्रमश तीन वेदो मे से किसी एक बध्यमान वेद को, हास्य और रति के युगल तथा शोक और अरति के युगल मे से किसी एक युगल को (युगल मे से प्रत्येक को एक भाग) तथा भय और जुगुप्सा को मिलते है।[1]

---

१ (क) उक्कोमरसस्सद्ध मिच्छे अद्ध तु इयरघाईण।
संजलण नोकसाया सेस अद्धद्धय लेंति॥

—पचसंग्रह ४३५

मोहनीय कर्म के सर्वघाति द्रव्य का आधा भाग मिथ्यात्व को मिलता है और आधा भाग बारह कषायो को। शेष देशघाति द्रव्य का आधा भाग सज्वलन कषाय को और आधा भाग नोकषाय को मिलता है।

(ख) मोहे दुहा चउद्धा य पचहा वावि बज्झमाणीण।

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण २६

स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार मोहनीय को जो भाग मिलता है उसके अनन्तवे भाग सर्वघाति द्रव्य के दो भाग किये जाते है। आधा भाग दर्शनमोहनीय को और आधा भाग चारित्रमोहनीय को मिलता है। शेष मूल भाग के भी दो भाग किये जाते है, उसमे से आधा भाग कषाय-

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

अन्तराय कम को प्राप्त भाग पाच विभागा मे विभाजित हाकर उसकी दान अन्तराय आदि पाचो उत्तर प्रकृतिया को मिलता है। क्याकि अन्तराय कम देशघाती है और ध्रुवबधी होने के कारण दाना न्तराय आदि पाचो प्रकृतिया सदा वधती ह।

घातिकर्मो की उत्तर प्रकृतिया मे प्राप्त द्रव्य के विभाजन को बतलाने के पश्चात अव वेदनीय आयु नाम और गोत्र कमा को प्राप्त भाग के विभाग को स्पष्ट करते है।

वेदनीय कम की दो उत्तर प्रकृतिया है, किन्तु उनमे से प्रति समय एक ही प्रकृति का वध होता है, अत वेदनीय कम को जो द्रव्य मिलता है वह उस समय बधने वाली एक प्रकृति को मिलता है। इसी प्रकार आयुकम के बारे म भी समझना चाहिए कि आयुकम की एक समय मे एक ही उत्तर प्रकृति वधती है तथा आयुकम को जो भाग मिलता है वह उस समय बधन वाली एक प्रकृति को ही मिल जाता है।

नामकम का जो मूल भाग मिलता है वह उसकी बधन वाली उत्तर प्रकृतिया मे विभाजित हो जाता है। अथात गति, जाति, शरीर, उपाग, बधन, सघात, सहनन, मस्थान आनुपूर्वी, वणचतुष्क, अगुरु लघु पराघात, उद्योत उपघात, उच्छ्वास, निमाण, तीथकर, आतप, विहायोगति और त्रसदशक अथवा स्थावरदशक मे से जितनी प्रकृ

माहनीय का और आधा भाग नाकपाय माहनाय का मिलता है। कपाय मोहनीय का मिलन वाल भाग क पुन चार भाग होत है और व चारा भाग सज्वलन क्रोध मान माया और लाभ का दिय जात ह। नाकपाय मोहनीय क पाच भाग हात हैं। जा तीन वदा म स किसी एक वद का हास्य रति और शोक अरति क युगला म स किसी एक युगल का भय और जुगुप्सा का दिय जात हैं। क्योंकि एक समय म पाचा ही नाकपाय का वध हाना है।

तियो का एक समय मे वंध होता है, उतने भागों मे वह प्राप्त द्रव्य वट जाता है।

उक्त प्रकृतियो मे से कुछ एक के वारे मे विशेषता यह है कि वर्ण-चतुष्क को जितना जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदो मे वंट जाता है। जैसे वर्ण नाम को मिलने वाला भाग उसके पाच भागो मे विभाजित होकर शुक्ल आदि भेदा मे वंट जाता है। इसी तरह गंध, रस और स्पर्श के अवान्तर भेदो के वारे मे भी समझना चाहिए कि उन-उनको प्राप्त भाग उनके अवान्तर भेदो मे विभाजित होता है। संघात और शरीर नामकर्म को जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागो मे विभाजित होकर संघात और शरीर नाम की तीन या चार प्रकृतियो को मिलता है। संघात और शरीर नाम के तीन या चार भागो मे विभाजित होने का कारण यह है कि यदि औदा-रिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरो और संघातो का एक साथ वंध होता है तो तीन भाग होते है और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघात का बंध होता है तो चार विभाग हो जाते है।

बंधन नाम को प्राप्त होने वाले भाग के यदि तीन शरीरो का वध हो तो सात भाग होते है और यदि चार शरीरो का बंध हो तो ग्यारह भाग होते है। सात और ग्यारह भाग इस प्रकार जानना चाहिए कि औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण इन सात बंधनो का वंध होने पर सात भाग अथवा वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण, इन सात वंधनो का बंध होने पर सात भाग होते है और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क तथा तैजस और कार्मण के तीन इस प्रकार ग्यारह बंधनो का वंध होने पर ग्यारह भाग होते है।

इमके मिवाय नामकम की अन्य प्रकृतिया मे कोई अवान्तर विभाग नही होन से जो भाग मिलता है वह पूरा वधने वाली उस एक प्रकृति को ही मिल जाता हे । क्योकि अन्य प्रकृतिया आपस मे विरोधिनी है अत एक का बध होने पर दूसरी का वध नही होता है । जसे कि एक गति का वध होने पर दूसरी गति का बध नहो होता है । इसी तरह जाति, सस्थान और सहनन भी एक समय मे एक ही वधता है और त्रसदशक का वध होने पर स्थावरदशक का वध नही होता है।

गोत्रकम को जो भाग मिलता है वह सवका सब उसकी वधने वाली एक ही प्रकृति का मिलता है, क्योकि गोत्रकम की एक समय मे एक ही प्रकृति वधती है ।[1]

इन वधने वाली प्रकृतियो के विभाग क्रम मे से जव अपने अपने गुणस्थानो म किसी प्रकृति का वधविच्छेद हो जाता है तो उसका भाग सजातीय प्रकृतिया मे विभाजित हो जाता है और यदि सजातीय

---

१ वेदनीय आयु गोत्र और नाम कम क द्रव्य का बटवारा उनको उत्तर प्रकृतिया म करने का क्रम कमप्रकृति म इस प्रकार वतलाया है—

वयणिआउयगोएसु वज्झमाणीण भागो सि ॥
पिडपगतीसु वज्झतिगाण वन्नरसगधफासाण ।
सव्वासि सघाए तणुम्मि य तिग चउक्क वा ॥

—बधनकरण गा० २६, २७

वेदनीय आयु और गोत्र कम को जो मूल भाग मिलता है, वह उनकी वधने वाली एक एक प्रकृति को ही मिल जाता है क्योकि इन कर्मों की एक समय म एक ही प्रकृति बधती है। नामकम को जो भाग मिलता है वह उसकी बधने वाली प्रकृतिया का होता है। वण गध रस और स्पश को जो भाग मिलता है वह उनकी सब अवान्तर प्रकृतिया को मिलता है। सघात और शरीर को जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागो म बट जाता है।

प्रकृति का भी बंधविच्छेद हो जाये तो उनके हिस्से का द्रव्य उनकी मूल प्रकृति के अन्तर्गत विजातीय प्रकृतियो को मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियों का भी बंध रुक जाता है तो उस मूल प्रकृति को द्रव्य न मिलकर अन्य मूल प्रकृतियों को द्रव्य मिल जाता है। जैसे कि स्त्यानर्द्धित्रिक का बंधविच्छेद होने पर उनके हिस्से का द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचला को मिलता है और निद्रा व प्रचला का भी बंधविच्छेद होने पर उनका द्रव्य अपनी ही मूल प्रकृति के अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण आदि विजातीय प्रकृतियो को मिलता है। उनका भी बंधविच्छेद होने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानो मे सब द्रव्य सातावेदनीय को ही मिलता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियो के बारे मे भी समझना चाहिए। साराश यह है कि किसी प्रकृति का बंध-विच्छेद होने पर उसका भाग समान जातीय प्रकृति को मिल जाता है और उस समान जातीय प्रकृति का भी बंधविच्छेद होने पर मूल प्रकृति के अन्तर्गत उनकी विजातीय प्रकृतियो का मिलता है। यदि उस मूल प्रकृति का ही विच्छेद हो जाये तो विद्यमान अन्य मूल प्रकृतियो को वह द्रव्य प्राप्त होने लगता है।

इस प्रकार बताई गई रीति के अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियो को कर्मदलिक मिलते है[1] और गुणश्रेणि रचना के द्वारा ही जीव उन कर्मदलिको के बहुभाग का क्षपण करता है। अतः अब आगे गुणश्रेणि का स्वरूप, उसकी संख्या और नाम बतलाते है। सर्वप्रथम गुणश्रेणि की संख्या और नामो को कहते है कि—

---

१ गो० कर्मकाड गा० १९९ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गल द्रव्य के बटवारे का वर्णन किया है तथा कर्मप्रकृति (प्रदेशबंध गा २८) में दलिकों के विभाग का पूरा-पूरा विवरण तो नही दिया है। किन्तु उत्तर प्रकृतियो मे कर्मदलिको के विभाग की हीनाधिकता बतलाई है। उक्त दोनो ग्रन्थो का मन्तव्य परिशिष्ट मे दिया गया है।

सम्मदरसव्वविरई अणविसजायदसखवगे य ।
मोहसमसनखवगे खोणसजोगियर गुणसेढी ॥८ ॥

शब्दार्थ—सम्मदरस वविरई—सम्यक्त्व दशविरति सव विरति अणविसजोय—अन तानुव धी का विसयोजन दसखवगे—दशनमोहनीय का क्षपण मोहसम—मोहनीय का उपशमन सत—उपशा तमोह खवगे क्षपण खोण—क्षीणमोह सजोगियर—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणसेढी—गुणश्रेणि ।

गाथार्थ—सम्यक्त्व, देशविरति, सवविरति, अन तानुवधी का विसयोजन, दशनमोहनीय का क्षपण, चारित्रमोहनीय का उपशमन, उपशान्तमोह, क्षपण, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये गुणश्रेणिया है।

विशेषार्थ—यद्यपि बद्ध कर्मों की स्थिति और रस का घात तो बिना वेदन किये ही शुभ परिणामो के द्वारा किया जा सकता है किन्तु निर्जरा के लिये उनका वेदन होना जरूरी है यानी कर्मो के दलिको का वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नही हो सकती है। यो तो जीव प्रतिसमय कर्मदलिको का अनुभवन करता रहता है और उससे निर्जरा होती है। कर्मो की इस भोगजन्य निर्जरा को औपक्रमिक निर्जरा अथवा सविपाक निर्जरा कहते हैं। किन्तु इस तरह से एक तो परिमित कर्मदलिको की ही निर्जरा होती है और दूसरे इस भोगजन्य निर्जरा के साथ नवीन कर्मों के बध का क्रम भी चलता रहता है। अर्थात् इस भोगजन्य निर्जरा के द्वारा नवीन कर्मों का बध होता रहता है, जिससे कर्मनिर्जरा का वास्तविक रूप मे फल नही निकलता है, जीव कर्मबन्धन से मुक्त नही हो पाता है। अत कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए कम-से-कम समय मे अधिक-से-अधिक कर्मपरमाणुओ का क्षय होना आवश्यक है और उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढनी ही

जानी चाहिये। अल्पसमय मे उत्तरोत्तर कर्मपरमाणुओ की अधिक-से-अधिक संख्या मे निर्जरा होने को गुणश्रेणि निर्जरा कहते है। इस प्रकार की निर्जरा तभी हो सकती है जब आतमा के भावों मे उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि होती है। उत्तरोत्तर विशुद्धि स्थानो पर आरोहण करने से ही अधिक-से-अधिक संख्या मे निर्जरा होती है।

गाथा मे विशुद्धिस्थानो के क्रम से नाम कहे हैं। जिनमे उत्तरोत्तर अधिक-अधिक निर्जरा होती है। ये स्थान गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचना का कारण होने से गुणश्रेणि कहे जाते है। जिनके नाम इस प्रकार है—

१ सम्यक्त्व (सम्यक्त्व की प्राप्ति होना), २ देशविरति, ३ सर्वविरति, ४ अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन, ५ दर्शनमोहनीय का क्षपण, ६ चारित्रमोह का उपशमन, ७ उपशांतमोह, ८ क्षपण, ९ क्षीणमोह, १० सयोगिकेवली और ११ अयोगिकेवली।[1]

इनका संक्षेप मे अर्थ इस प्रकार है कि जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये अपूर्वकरण आदि करण करते समय असंख्यातगुणी-

---

१ सम्मत्तदेससम्पुन्नविरइउप्पत्तिअणविसजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य ॥
खीणाइतिगे असंखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे ॥

—पंचसंग्रह ३१४, ३१५

सम्यक्त्व देशविरति और सम्पूर्ण विरति की उत्पत्ति मे, अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन मे, दर्शनमोहनीय के क्षपण मे, मोहनीय के उपशमन में, उपशान्तमोह मे, क्षपक श्रेणि मे और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानो मे असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिको की गुणश्रेणि रचना होती है तथा सम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणश्रेणियो का काल क्रमश संख्यातवे भाग, संख्यातवें भाग है।

असख्यातगुणी निर्जरा करता है तथा सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद भी उसका क्रम चालू रहता है। यह पहली सम्यक्त्व नाम की गुणश्रेणि है। आगे की अन्य गुणश्रेणियो की अपेक्षा इस श्रेणि मे सम्यक्त्व प्राप्ति के समय मे—मद विशुद्धि रहती है अत उनकी अपेक्षा से इसमे कम कर्मदलिको की गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उनके वेदन करने का काल अधिक होता है। परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व की स्थिति की अपेक्षा कर्मदलिको की सख्या अधिक और समय कम समझना चाहिये। इस सम्यक्त्व नाम की प्रथम गुणश्रेणि को कर्मनिर्जरा का बीज कह सकते है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात जीव जब विरति का एकदेश पालन करता है तब देशविरति नाम की दूसरी गुणश्रेणि होती है। इसमे प्रथम श्रेणि की अपेक्षा असख्यात गुण अधिक कर्मदलिको की गुणश्रेणि रचना होती है और वेदन करने का समय उससे सख्यात गुणा कम होता है।

सम्पूर्ण विरति का पालन करने पर तीसरी गुणश्रेणि होती है। सर्वविरति मे इसमे अनन्त गुणी विशुद्ध होती है जिससे इसमे पूर्व की अपेक्षा असख्यात गुणे अधिक कर्मदलिको की गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उसके वेदन करने का समय उससे सख्यात गुणा हीन होता है।

जब जीव अनन्तानुबधी कषाय का विसयोजन करता है अर्थात् अनन्तानुबधी कषाय के सबसे कर्मदलिको को अन्य कषाय रूप परिणमाता है तब चौथी गुणश्रेणि होती है। दर्शनमोहनीय की तीनो प्रकृतियो—सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—का विनाश करते समय पाचवी दर्शनमोहनीय की क्षपण गुणश्रेणि होती है। आठवे नौवे और दसवे गुणस्थान मे चारित्रमोहनीय की उपशमन करते समय चारित्रमोहनीय की उपशमन नामक छठी गुणश्रेणि

होती है। उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे सातवी गुण-श्रेणि और क्षपकश्रेणि मे चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवी गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह नामक वारहवे गुणस्थान मे नौवी गुणश्रेणि, सयोगिकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान मे दसवी गुण-श्रेणि और अयोगिकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान मे ग्यारहवी गुणश्रेणि होती है।[1]

इन सभी गुणश्रेणियो मे क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे कर्मदलिको की गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु उसके वेदन करने का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा, संख्यातगुणा हीन लगता है अर्थात् कम समय मे अधिक-अधिक कर्मदलिको का क्षय होता है। इसीलिये इन ग्यारह स्थानो को गुणश्रेणिस्थान कहते है।

---

१ गो० जीवकाड मे भी गुणश्रेणियों की गणना इस प्रकार की है—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणतकम्मसे।
दसणमोहक्खवगे कपायउवसामगे य उवसते ॥६६॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला सखेज्जगुणक्कमा होनि ॥६७॥

सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर, श्रावक के, मुनि के, अनन्तानुवन्धी कपाय का विसयोजन करने की अवस्था मे, दर्शनमोह का क्षपण करने वाले के कपाय का उपशम करने वाले के, उपशान्त मोह के, क्षपक श्रेणि के तीन गुणस्थानो मे, क्षीणमोह गुणस्थान मे तथा स्वस्थान केवली के और समुदघात करने वाले केवली के गुणश्रेणि निर्जरा का द्रव्य उत्तरोत्तर असख्यातगुणा, असख्यातगुणा है और काल उसके विपरीत है अर्थात् उत्तरोत्तर सख्यातगुणा, सख्यातगुणा काल लगता है—काल उत्तरोत्तर सख्यात गुणहीन है।

कर्मग्रथ मे इससे केवल इतना ही अन्तर है कि अयोगिकेवली के स्थान पर समुद्घातकेवली को गिनाया है।

इन गुणश्रेणियो[1] का यदि गुणस्थान के क्रम से विभाग किया जाय तो उनमे चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी गुणस्थान तथा सम्यक्त्वप्राप्ति के अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी समिलित हो जाते है। विशुद्धि की वृद्धि होने पर ही चौथे, पाचवें आदि गुणस्थान होते है। अत आगे आगे के गुणस्थानो मे जो उक्त गुणश्रेणिया होती हैं, उनमे अधिक अधिक विशुद्धि होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार गुणश्रेणिया के ग्यारह स्थानो को बतलाकर अब आगे की गाथा मे गुणश्रेणी का स्वरूप तथा गुणश्रेणियो मे होने वाली निर्जरा का कथन करते हैं।

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए।
एयगुणा पुण कमसो असखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

शब्दार्थ—गुणसेढी—गुणाकारप्रदेशो की रचना, दलरयणा—ऊपर की स्थिति से उतरते हुए प्रदेशाग्र की रचना, अणुसमय—प्रत्येक समय की, उदयाद—उदय क्षण से, असखगुणणाए—असख्यगुणना से, एयगुणा—ये पूर्वोक्त गुण वाले, पुण—पुन, कमसो—

---

1 (क) तत्त्वार्थसूत्र ९।४५ मे गुणश्रेणियो के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा।

इसमे सयोगि अयोगि केवली के स्थान पर सिर्फ जिन को रखा और टीकाकारो ने उसे एक ही स्थान गिना है।

(ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे सयोगि और अयोगि को लिखा है—

खवगो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असखगुणकम्मणिज्जरया ॥१०८॥

किन्तु इसकी सस्कृत टीका मे केवली और समुद्घात केवली को लिखा है और अयोगियो को छोड दिया है।

अनुक्रम में, असखगुणनिज्जरा -असख्यात गुण निर्जरा वाले, जीवा—जीव ।

गाथार्थ—ऊपर की स्थिति से उदय क्षण से लेकर प्रति-समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे कर्मदलिको की रचना को गुणश्रेणि कहते है तथा पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्व-विरति आदि गुण वाले जीव अनुक्रम से असंख्यातगुणी, असं-ख्यातगुणी निर्जरा करते है ।

विशेषार्थ--गाथा के पहले चरण मे गुणश्रेणि का स्वरूप और दूसरे चरण मे पूर्व गाथा मे वतलाये गये गुणश्रेणि वाले जीवो के कर्मनिर्जरा का प्रमाण वतलाया है ।

पूर्व मे जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि ग्यारह नाम वतलाये है वे तो स्वयं गुणश्रेणि नही है किन्तु उन उनमे क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा होने से गुणश्रेणि के कारण है। अत करण मे कार्य का उपचार करके उन्हे गुणश्रेणि कहा जाता है। गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेप है जो इस गाथा मे वतलाई गई है—गुणसेढी दलरयणा ।

इस क्रिया का प्रारम्भ सम्यक्त्व प्राप्ति से होता है। अत सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के वारे मे विचार करते है। पहले यह वताया जा चुका है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जीव यथाप्रवृत्तकरण अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणो को करता है। अपूर्वकरण मे प्रवेश करते ही निम्नलिखित चार काम प्रारम्भ हो जाते है—

एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिवंध और चौथा गुणश्रेणि। स्थितिघात के द्वारा पहले वाधे हुए कर्मो की स्थिति को कम कर दिया जाता है। अर्थात् स्थितिघात के द्वारा उन्ही दलिको की स्थिति का घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्त-

मुहूत से अधिक होती है। अत स्थिति का घात कर देने से जो कम-दलिक वहुत समय बाद उदय मे आते ह वे तुरत ही उदय मे आन योग्य हो जाते हैं। जिन कमदलिकों की स्थिति कम हो जाती है उनमे से प्रति समय असख्यातगुणे, असख्यातगुणे दलिक ग्रहण करके उदय समय से लेकर ऊपर की ओर स्थापित कर दिये जाते है। कमदलिको के निक्षेप करने का क्रम इस प्रकार होता है कि ऊपर की स्थिति से कमदलिको को ग्रहण करके उनमे से उदय समय मे थोडे दलिको का निक्षेप होता है दूसरे समय मे उससे असख्यातगुणे दलिको का दलिको का निक्षेपण होता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूत काल के अन्तिम समय तक प्रतिसमय असख्यातगुणे, असख्यातगुणे दलिका का निक्षेपण किया जाता है।[1] अर्थात् पहले समय मे जो दलिक ग्रहण किये जाते

---

1 कमप्रकृति (उपशमनाकरण) की १५वी गाथा उसकी प्राचीन चूर्णि तथा पचसग्रह म भी इसी प्रकार गुणश्रेणि का स्वरूप आदि बतलाया ह। जो इस प्रकार है—

गुणसढी निक्खेवो समय समय असखगुणणाए।
अद्धादुगाईरित्तो सस सेस य निक्खेवो॥

—कमप्रकृति उपशमनाकरण गा० १५

प्रतिसमय असख्यातगुणे असख्यातगुण दलिको क निक्षपण करन को गुणश्रणि कहते हैं। उसका काल अपूवकरण और अनिवत्तिकरण के काल स कुछ अधिक है। इस काल म स ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है त्यो-त्यो ऊपर क शेष समयो म ही दलिको का निक्षपण किया जाता है।

उवरिल्लाओ ट्ठिनिउ पोग्गल घत्तूण उदयसमय थोवा पक्खिवति, वितियसमय असखेज्जगुणा एव जाव अतोमुहुत्त।

—कमप्रकृति चूर्णि

पाग्यठिइओ दलिय घत्त घत्त असखगुणणाए।
साहियदुकरणकाल उदयाइ रयइ गुणसेढि॥ —पचसग्रह ७४९

हैं, उनमे से थोडे दलिक उदय समय मे दाखिल कर दिये जाते है, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समय से ऊपर के द्वितीय समय मे दाखिल कर दिये जाते है, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय मे, उससे असंख्यातगुणे दलिक क्रमशः चौथे, पॉचवे आदि समयो मे दाखिल कर दिये जाते है। इसी क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल के अंतिम समय तक असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिको की स्थापना की जाती है। यह तो हुई प्रथम समय मे गृहीत दलिको के स्थापन करने की विधि। इसी प्रकार शेष दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयो मे गृहीत दलिको के निक्षेपण की विधि जानना चाहिये। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल के समयो तक ही होती रहती है।

साराश यह है कि गुणश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त है, अत अन्तर्मुहूर्त तक ऊपर की स्थिति मे से कर्मदलिको का प्रति समय ग्रहण किया जाता है और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका स्थापन असंख्यात गुणित क्रम से उदय क्षण से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक मे कर दिया जाता है। जैसे कल्पना से अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण १६ समय मान लिया जाये तो गुणश्रेणि के प्रथम समय मे जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्त प्रकार से १६ समयो मे किया जायेगा। दूसरे समय मे जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये, उनका स्थापन बाकी के १५ समयो मे ही होगा, क्योकि पहले उदयक्षण का वेदन हो चुका है। तीसरे समय मे जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयो मे ही होगा। इसी प्रकार से चौथे, पॉचवे आदि समयों के क्रम के बारे मे समझना चाहिये, किन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि प्रत्येक समय मे गृहीत दलिको का स्थापन सोलह ही समयो मे होता है और इस तरह गुणश्रेणि का काल ऊपर की ओर बढता जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त

स्थान मे प्रत्याख्यानावरण कपाय अनुदयवती है अत उनमे उदयावलिका को छोडकर ऊपर के समय से गुणश्रेणि होती है।

देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति के पश्चात एक अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव के परिणाम वर्धमान ही रहते है, लेकिन उसके वाद कोई नियम नही है। किसी के परिणाम वर्धमान भी रहते हैं, किसी के तदवस्थ रहते है और किसी के हीयमान हो जाते हैं[1] तथा जब तक देशविरति या सर्वविरति रहती है तव तक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है। हा यहा इतनी विशेषता जरूर है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्र के साथ उदयावलि के ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक परिणामो की नियत वृद्धि का काल उतना ही होने से असंख्यात गुणित क्रम से गुणश्रेणि की रचना करता है। उसके वाद यदि परिणाम वर्धमान रहते है तो परिणामो के अनुसार कभी असंख्यातवे भाग अधिक, कभी संख्यातवें भाग अधिक और कभी संख्यात गुणी और कभी असंख्यात गुणी गुणश्रेणि करता है। यदि हीयमान परिणाम हुए तो उस समय उक्त प्रकार से ही हीयमान गुणश्रेणि करता है और अवस्थित दशा मे अवस्थित गुणश्रेणि को करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्धमान परिणामो की दशा मे दलिको की संख्या वढती हुई होती है, हीयमान दशा मे घटती हुई होती है और अवस्थित दशा मे अवस्थित रहती है। इस प्रकार देशविरति और सर्वविरति मे प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

चौथी गुणश्रेणि का नाम है अनन्तानुवंधी की विसंयोजना। अनन्तानुवन्धी कपाय का विसंयोजन अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति

---

[1] उदयावलिए उप्पि गुणसेढि कुणइ सह चरित्तेण।
अंतो असखगुणणाए तत्तियं वड्डए कालं ॥—पंचसंग्रह ७६३

और सर्वविरति जीव करते हैं।[1] अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तो चारों गति के लेना चाहिये और देशविरति मनुष्य व तिर्यंच होते हैं तथा सर्वविरति मनुष्य ही होते हैं।

जो जीव अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने के लिये उद्यत होता है वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है। यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही गुणसंक्रमण भी होने लगता है यानी अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधी कषाय के थोड़े दलिकों का शेष कषायों में संक्रमण करता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का पर कषाय रूप संक्रमण करता है। यह क्रिया अपूर्वकरण के अंतिम समय तक होती है और उसके बाद अनिवृत्तिकरण में गुण-संक्रमण और उद्वलन संक्रमण के द्वारा दलिकों का विनाश कर देता है। इस प्रकार अनन्तानुबंधी के विसंयोजन में प्रति समय असंख्यात-गुणी निर्जरा जाननी चाहिये।

दर्शनमोहनीय का क्षपण जिन काल में (केवलज्ञानी के विद्यमान रहने के समय में) उत्पन्न होने वाला वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के बाद करता है।[2] अर्थात् दर्शन मोहनीय की क्षपणा के लिये समय तो केवलज्ञान प्राप्त आत्मा की विद्यमानता का है और क्षपणा करने वाला मनुष्य वज्रऋषभनाराच संहनन का धारक हो तथा कम-से कम अवस्था आठ वर्ष से ऊपर

---

१ चउगइया पज्जत्ता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा॥
—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण ३१

२ दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ।
जिणकालगो [illegible] पट्ठवगो अट्ठवासुप्पि॥
—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण, ३२

हो। दर्शनमोहनीय की क्षपणा का क्रम भी अनन्तानुवन्धी कषाय की विसंयोजना जैसा है। यहा भी पूर्ववत् तीन करण होते है और अपूर्व-करण में गुणश्रेणि आदि कार्य होते हैं।

उपशम श्रेणि का आरोहण करने वाला जीव भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो को करता है, लेकिन इतना अंतर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवे गुणस्थान मे करता है, अपूर्वकरण-अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में करता है। यहां भी पूर्ववत् स्थितिघात गुणश्रेणि आदि कार्य होते है। अत. उप-शमक भी क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीय का उपशम करने के वाद उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँचकर भी जीव गुणश्रेणि रचना करता है। उपशान्तमोह का काल अन्तमुहूर्त है, और उसके संख्यातवे भाग काल मे गुणश्रेणि की रचना होती है, जिससे यहा पर भी जीव प्रति-समय असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर जव जीव छठे गुणस्थान तक आकर क्षपक श्रेणि चढता है अथवा उपशमश्रेणि पर आरूढ़ हुए विना ही सीधा क्षपक श्रेणि पर चढता है तो वहा भी यथाप्रवृत्त-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीनो करणो को करता है और उनमे उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थान से भी असं-ख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली नामक गुणश्रेणियो भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा समझना चाहिए।

इन ग्यारह गुणश्रेणियो मे से प्रत्येक का काल अन्तमुहूर्त-अन्तमुहूर्त होने पर भी प्रत्येक के अन्तमुहूर्त का काल उत्तरोत्तर हीन होता है तथा निर्जरा द्रव्य का परिमाण सामान्य से असंख्यातगुणा, असंख्यात-

गुणा होने पर भी उत्तरोत्तर वढता हुआ होता है। यानी परिणामो के उत्तरोत्तर विशुद्ध होने से उत्तरोत्तर कम कम समय मे अधिक अधिक द्रव्य की निजरा होती है।

इस प्रकार गुणश्रेणि का विधान जानना चाहिये। गुणश्रेणि के उक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव ज्यो-ज्यो आगे के गुणस्थानो मे वढता जाता है, त्यो-त्यो उसके असख्यातगुणी निजरा होती है और क्रमश सक्लेश की हानि तथा विशुद्धि का प्रकर्ष होने पर आगे आगे के गुणस्थान कहलाते है। अत अव आगे की गाथा मे गुणस्थानो का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल वतलाते है।

पलियासखसमुहू सासणइयरगुण अतर हस्स।
गुरु मिच्छो बे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्धतो ॥८४॥

शब्दार्थ—पलियासखसमुहू—पल्य का असख्यातवा भाग और अतमुहूर्त सासणइयरगुण—सासादन और दूसरे गुणस्थानो का, अतर—अतर हस्स—जघन्य गुरु—उत्कृष्ट, मिच्छो—मिथ्यात्व मे बे छसट्ठी—दो छियासठ सागरोपम इयरगुण—दूसरे गुणस्थानो मे, पुग्गलद्ध तो—कुछ न्यून अर्धपुदगल परावर्त।

गाथार्थ—सासादन और दूसरे गुणस्थानो का जघन्य अन्तर अनुक्रम से पल्योपम का असख्यातवा भाग और अन्तर्मुहूर्त है। मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तर दो वार के छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है और अन्य गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त है।

विशेषार्थ—पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो चुका है कि गुणश्रेणियो के जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि नाम है, वे प्राय गुणस्थान ही है। जैसे कि सम्यक्त्व गुण का जिस स्थान मे प्रादुर्भाव होता है वह सम्यक्त्व गुणस्थान, जिस स्थान मे देशविरति गुण प्रखर होता है वह देशविरति

गुणस्थान कहा जाता है आदि। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अत उक्त गुणश्रेणियो का संबंध गुणस्थानो के साथ होने के कारण गाथा मे गुणस्थानो का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल वतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थान से च्युत होकर पुन जितने समय के बाद उस गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थान का अन्तरकाल कहलाता है।

सर्वप्रथम गुणस्थानो का जघन्य अन्तराल वतलाते हुए कहा है— पलियासंखंसमुहू सासणइयरगुण अंतरं हस्सं – सासादन नामक दूसरे गुणस्थान का जघन्य अन्तरकाल पल्य के असंख्यातवे भाग और शेष गुणस्थानो का अन्तर अन्तमुहूर्त है। जिसको यहा स्पष्ट करते है।

सासादन गुणस्थान के जघन्य अन्तरकाल को पल्य के असंख्यातवे भाग इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सम्यक्त्व मोहनीय और 'मिथ्यात्व मोहनीय की उद्वलना' कर देने वाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय से सासादन सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है। यदि वही जीव उसी क्रम से पुन सासादन गुणस्थान को प्राप्त करे तो कम-से-कम पल्य के असंख्यातवे भाग काल के वाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सासादन गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान मे आने पर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियो की सत्ता होते हुए पुन औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नही हो सकता है और औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त किये विना सासादन गुणस्थान नही हो सकता। अत. मिथ्यात्व मे जाने के वाद जीव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनो मोहनीय कर्म की प्रकृतियो की प्रतिसमय

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो के विना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमाने को उद्वलन कहते हैं।

उद्वलना करता है यानी दोनो प्रकृतियो के दलिको को मिथ्यात्व मोहनीय रूप परिणमाता रहता है।

इस प्रकार उद्वलन करते-करते पल्य के असख्यातवे भाग काल मे उक्त दोनो प्रकृतियो का अभाव हो जाता है और अभाव होने पर वही जीव पुन औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सासादन गुणस्थान मे आ जाता है। इसीलिए सासादन गुणस्थान का अतराल काल पल्य के असख्यातवें भाग माना गया है।

सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण बतलाने का कारण यह है कि कोई जीव उपशम श्रेणि से गिर कर सासादन गुणस्थान मे आते हैं और अतर्मुहूर्त के बाद पुन उपशम श्रेणि पर चढकर और वहा से गिरकर पुन सासादन गुणस्थान मे आते हैं। इस दृष्टि से तो सासादन का जघन्य अतर बहुत थोडा रहता है, किन्तु उपशम श्रेणि से च्युत होकर जो सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगति मे ही सभव है और वहा पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है, जिससे यहा उसकी विवक्षा नही की है किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जो सासादन की प्राप्ति बतलाई है, वह चारो गतियो मे सभव है। अत उसकी अपेक्षा से ही सासादन का जघन्य अन्तर पल्य के असख्यातवें भाग बतलाया है। यानी श्रेणि की अपेक्षा नही किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होने की अपेक्षा से सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पल्य के असख्यातवें भाग बतलाया है।

सासादन के सिवाय बाकी के गुणस्थानो मे से क्षीणमोह, सयोगि केवली और अयोगिकेवली, इन तीन गुणस्थानो का तो अतरकाल नही होता, क्योंकि ये गुणस्थान एक बार प्राप्त होकर पुन प्राप्त नहीं होते हैं। शेष रहे गुणस्थानो मे से मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि अविरत सम्यग्

दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त,अप्रमत्त तथा उपशम श्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय तथा उपशान्तमोह गुणस्थान से च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्त के वाद ही पुन. उन गुणस्थानो को प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तरकाल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योकि जव कोई जीव उपशम श्रेणि पर चढकर ग्यारहवे गुणस्थान तक पहुँचता है और वहा से गिरकर क्रमश. उतरते-उतरते पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ जाता है और उसके वाद पुन. एक अन्तर्मुहूर्त मे ग्यारहवे गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योकि एक भव मे दो वार उपशम श्रेणि पर चढने का विधान है।[1] उस समय मिश्र गुणस्थान के सिवाय वाकी के गुणस्थानो मे से प्रत्येक का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त होता है।

मिश्र गुणस्थान को छोडने का कारण यह है कि श्रेणि से गिरकर जीव मिश्र गुणस्थान मे नही जाता है। अत. जव जीव श्रेणि पर नही चढता तव मिश्र गुणस्थान तथा सासादन के सिवाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है। क्योकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के वाद पुन. प्राप्त हो सकते है। इस प्रकार से गुणस्थानो का जघन्य अन्तरकाल समझना चाहिये।

अव उत्कृष्ट की अपेक्षा गुणस्थानो का अन्तरकाल वतलाते हुए सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का अन्तरकाल कहते है कि—गुरु मिच्छी वे छसठी—यानी मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तरकाल दो छियासठ सागर अर्थात् ६६+६६=१३२ सागर है। वह इस प्रकार है—कोई जीव विशुद्ध परिणामो के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान को छोडकर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यात्व मे

---

१ एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोह उवसमेज्जा। —कर्मप्रकृति गा० ६४

चला जाता है। वहा स पुन क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके ६६ सागर की समाप्ति तक यदि उसने मुक्ति प्राप्त नही की तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्व मे चला जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अतर दो छियासठ सागर—एकसौ वत्तीस सागर से कुछ अधिक होता है।

सासादन से लेकर उपशातमोह गुणस्थान तक के शेप गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुदगल परावर्त है – इयरगुणे पुग्गल द्ध ता। क्योकि इन गुणस्थानो से पतित होकर जीव अधिक-से अधिक कुछ कम अधपुद्गल परावत काल तक ससार मे परिभ्रमण करता रहता है और उसके बाद पुन उसे उक्त गुणस्थानो की प्राप्ति होती है। इसीलिये इन गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावत माना गया है।[1]

क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानो मे अन्तर नही होने के कारण को पूव मे स्पष्ट किया जा चुका है कि ये एक वार प्राप्त होकर पुन प्राप्त नही होते हैं। यानी इन गुणस्थानो की प्राप्ति होने के बाद उनका क्षय नही होता है। जिससे जघन्य या उत्कृष्ट अतरकाल का विचार करने की आवश्यकता नही रहती है।

इस प्रकार से गुणस्थानो का जघन्य और उत्कृष्ट अतरकाल वतलाने के बाद अब आगे की गाथाओ मे अतरकाल के वणन मे आये पल्योपम, अधपुदगल परावत का स्वरूप विस्तार से वतलाते हैं। पहले पल्योपम का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

> उद्धारअद्धखित्त पलिय तिहा समयवाससयसमए।
> केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥८५॥

---

१ परमग्रह म भी गुणस्थानो का अन्तर इसी प्रकार का वतलाया है—

> पलियासखो मासायणतर ससयाण अतमुहू।
> मिच्छस्स व छसट्ठी इयराण पोग्गलद्ध तो ॥६५

शब्दार्थ—उद्धारअद्धखित्त—उद्धार,अद्धा और क्षेत्र, पलिय—पल्योपम, तिहा—तीन प्रकार का समयवाससयसमए – समय, सौ वर्ष और समय मे, केसवहारो – बालाग्र का उद्धरण करे, दीवोदहि – द्वीप और समुद्र, आउतसाइ—आयु और त्रसादि जीवो का, परिमाण परिमाण, गणना ।

गाथार्थ उद्धार, अद्धा और क्षेत्र, इस प्रकार पल्योपम के तीन भेद है । उनमे अनुक्रम से एक समय मे, सौ वर्ष मे और एक समय मे बालाग्र का उद्धरण किया जाता है। जिससे उनके द्वारा क्रम से द्वीप समुद्रो, आयु और त्रसादि जीवो की गणना की जाती है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पल्योपम के भेद, उनका स्वरूप और उनके उपयोग करने का सक्षेप से निर्देश किया है ।

लोक मे जो वस्तुये सरलता से गिनी जा सकती है और जहाँ तक गणित विधि का क्षेत्र है, वहा तक तो गणना करना सरल होता लेकिन उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। जैसे कि तिल, सरसो, गेहूं आदि धान्य गिने नही जा सकते, अत. उन्हे तोल या माप वगैरह से आक लेते है। इसी प्रकार समय की जो अवधि वर्षो के रूप मे गिनी जा सकती है, उसकी तो गणना की जाती है और उसके लिये शास्त्रो मे पूर्वांग, पूर्व आदि की संज्ञाये मानी है, किन्तु इसके बाद भी समय की अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी गणना वर्षो मे नही की जा सकती है। अत उसके लिये उपमा-प्रमाण का सहारा लिया जाता है। उस उपमाप्रमाण के दो भेद है—पल्योपम[1] और सागरोपम ।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसे

---

१ अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते है ।

पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—उद्धारअद्धखित्त पलिय—उद्धार पल्योपम, अद्धा पल्योपम और क्षेत्र पल्योपम। इसी प्रकार सागरोपम काल के भी तीन भेद है—उद्धार सागरोपम, अद्धा सागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमे से प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो दो प्रकार का होता है—एक बादर और दूसरा सूक्ष्म।[1] इनका स्वरूप क्रमश आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा ४०, ४१ मे क्षुद्रभव का प्रमाण बतलाने के प्रसग मे प्राचीन कालगणना का सक्षेप मे निर्देश करते हुए समय, आवलिका, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्त का प्रमाण बतलाया है। उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध है और वर्षों की अमुक अमुक सख्या को लेकर युग, शताब्द आदि सज्ञायें प्रसिद्ध है। उनके ऊपर प्राचीन काल मे जो सज्ञाये निर्धारित की गई हैं, वे अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार इस प्रकार है—

८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटितांग, ८४ लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडांग, ८४ लाख अडडांग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश अववांग, अवव, हुहु अग हुहु, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते है।[2] इन सज्ञाओ को बतलाकर

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र में सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं।

२ ये सज्ञायें अनुयोगद्वार सूत्र (गा० १०७ सूत्र १३८) के अनुसार दी गई हैं। ज्योतिष्करण्ड के अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है— ८४ लाख

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

आगे लिखा है—'एयावयाचेव गणिए एयावया चेव गणिअस्स विसए, एत्तोऽवरं ओवमिए पवत्तइ।'[1] अर्थात् शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अंक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वही तक है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण को आधार बनाया है। पहला नाम है उद्धारपल्य, जिसका स्वरूप यह

पूर्व का एक लतांग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लाख लता का एक महालतांग, ८४ लाख महालतांग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडांग, महाअडड, ऊहांग, ऊह, महाऊहांग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। (गाथा ६४-७१)

अनुयोगद्वारसूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता का कारण काललोकप्रकाश में इस प्रकार स्पष्ट किया है—'अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत है और ज्योतिष्करण्ड आदि वल्भी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अंतर है।

दिगम्बर ग्रन्थ तत्त्वार्थराजवार्तिक में—पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुट्यांग तुट्य, अटटांग, अटट, अममांग अमम, हूहू अंग, हूहू, लतांग, लता, महालता आदि संज्ञायें दी हैं। ये सब संज्ञायें ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर बनती हैं। इस गुणन विधि में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थ एक मत हैं।

१ अनुयोगद्वार सूत्र १३७

है कि—उत्सेधागुल[1] के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लवा, एक योजन प्रमाण चौडा और एक योजन प्रमाण गहरा एक गोल पल्य—गढा वनाना चाहिए जिसकी परिधि कुछ कम ३१/६ योजन होती है। एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए वालाग्रो[2] से उस पल्य को इतना ठसाठस[3] भर देना चाहिये कि न आग उन्हे जला सके, न वायु उडा सके और न जल का ही उसमे प्रवेश हो सके। इस पल्य से प्रति समय एक एक वालाग्र निकाला जाये। इस तरह करते करते जितने समय मे वह पल्य खाली हो जाये, उस काल को वादर उद्धार पल्य कहते है।

दस कोटाकोटी वादर उद्धारपल्योपम का एक वादर उद्धारसागरोपम होता है।

इन वादर उद्धारपल्योपम और वादर उद्धारसागरोपम का इतना ही प्रयोजन है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलता से समझ मे आ जाये—

अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्म सुबोधमबुधैरपि।
अतो निरूपित नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम ॥—द्रव्यलोकप्रकाश १।८६

---

१ अगुल के तीन भेद हैं—आत्मागुल, उत्सेधागुल और प्रमाणागुल। इनकी व्याख्या आगे की गई है।

२ पल्य को वालाग्रो से भरने सवधी अनुयोगद्वार सूत्र आदि का विवेचन परिशिष्ट मे दिया गया है।

३ पल्य को ठसाठस भरने के सवध मे द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग १।८२ मे स्पष्ट किया है—

तथा च चक्रिसैन्यन तमाक्रम्य प्रसप्पता।
न मनाक् म्रियते नीचरेव निविडतागताम ॥

वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हो कि यदि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।

अब सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम का स्वरूप समझाते है। बादर उद्धारपल्य के एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि के द्वारा असंख्यात-असंख्यात टुकडे करना। द्रव्य की अपेक्षा ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते है कि अत्यन्त विशुद्ध आख वाला पुरुष अपनी आख से जितने सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य को देख सकता है, उसके भी असख्यातवे भाग होते है तथा क्षेत्र की अपेक्षा सूक्ष्म पनक[1] जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असंख्यात गुणी अवगाहना वाले होते है, इन केशाग्रो को भी पहले की तरह पल्य मे ठसाठस भर देना चाहिये। पहले की तरह ही प्रति समय केशाग्र के एक-एक खण्ड को निकालने पर संख्यात करोड़ वर्ष मे वह पल्य खाली होता है। अतः उस काल को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है।

इन सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से द्वीप और समुद्रो की गणना की जाती है। अढाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपम के अथवा पच्चीस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धारपल्योपम के जितने समय होते है, उतने ही द्वीप और समुद्र है—

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारो घेप्पइ। केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा ..... जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा।

—अनुयोगद्वार सूत्र १३८

---

१ विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ० २१०) मे पनक का अर्थ 'वनस्पति विशेष' किया है। प्रवचनसारोद्धार की टीका (पृ० ३०३) मे उसकी अवगाहना बादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय के शरीर के बराबर बतलाई है।

अद्धापल्योपम—पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली होता है, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी बादर अद्धापल्योपम काल का एक बादर अद्धासागरोपम काल होता है।

सूक्ष्म उद्धारपल्य में से सौ सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक एक खण्ड निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली होता है, उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम काल होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्धासागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने की ही एक उत्सर्पिणी होती है। इन सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपम के द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, चारों गति के जीवों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।

एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरोवमेहिं किं पओअण ? एएहिं सुहुमेहिं अद्धाप० सागरो०] नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाण आउअ मवि ज्जइ।

—अनुयोगद्वार सूत्र १३९

क्षेत्रपल्योपम—पहले की तरह एक योजन लंबे चौड़े और गहरे गड्ढे में एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए बालों के अग्रभाग को पूर्व की तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें उनमें से प्रति समय एक एक प्रदेश का अपहरण करते करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है। दस कोटाकोटी [illegible] का एक बादर क्षेत्रसागरोपम काल होता है।

बादर क्षेत्रपल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके उन्हें इसी पल्य में पहले की तरह भरो। उस पल्य में वे खंड आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है। इन सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार तथा दृष्टिवाद में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति और त्रस इन छह काय के जीवों के प्रमाण का विचार किया जाता है—

एएहिं सुहुमेहिं खेत्तप० सागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमपलि० साग० दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जंति।

—अनुयोगद्वार सूत्र १४०

सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम काल के स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में जिज्ञासु का प्रश्न है कि यदि बालाग्रों से आकाश के स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो फिर बालाग्रों का कोई प्रयोजन नहीं रहता है, क्योंकि उस दशा में पूर्वोक्त पल्य के अन्दर जितने प्रदेश हों उनके अपहरण करने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसका समाधान यह है कि क्षेत्रपल्योपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है। उनमें से कुछ द्रव्यों का प्रमाण तो उक्त बालाग्रों से स्पृष्ट आकाश के प्रदेशों द्वारा मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाश के अस्पृष्ट प्रदेशों से मापा जाता है। अतः दृष्टिवाद में वर्णित द्रव्यों के मान में उपयोगी होने के कारण बालाग्रों का निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है—

'दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद वालाग्रप्ररूपणाऽत्रप्रयोजन वतीति।'

—अनुयोगद्वार टीका प० १६३

अंगुल के भेदों की व्याख्या

उद्धारपल्योपम का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में उत्सेधांगुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन लम्बे, चौडे, गहरे गड्ढे—पल्य को बनाने का संकेत किया था और उसी के अनुसंधान में आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल यह तीन अंगुल के भेद बतलाये हैं। यहाँ उनका स्वरूप समझाते हैं।

आत्मांगुल—अपने अंगुल के द्वारा नापने पर अपने शरीर की ऊँचाई १०८ अंगुल प्रमाण होती है। वह अंगुल उसका आत्मांगुल कहलाता है। इस अंगुल का प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता है, क्योंकि काल भेद से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई घटती-बढ़ती रहती है।

उत्सेधांगुल—परमाणु दो प्रकार का होता है—एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहार परमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है। यद्यपि यह व्यवहार परमाणु वास्तव में स्कन्ध है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे परमाणु कह दिया जाता है, क्योंकि यह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा भी इसका छेदन भेदन नहीं हो सकता है, फिर भी माप के लिए इसको मूल कारण माना गया है। वह इस प्रकार है—अनन्त व्यवहार परमाणुओं की एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका और आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है।[1] आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक

---

1 भगवती सूत्र में अनन्त उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका बतलाई है लेकिन आगमों में प्रायः स्थानों पर आठ की ही बतलाई है। अतः यहाँ आगम के अनुसार कथन किया है।

ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्र के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक पूर्वापर विदेह के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों की एक लीख, आठ लीख की एक यूका (जूँ), आठ यूका का एक यव का मध्य भाग और आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है।

छह उत्सेधांगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ति, दो वितस्ति का एक हाथ, चार हाथ का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से अढाई गुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणांगुल होता है। युग के आदि में भरत चक्रवर्ती का जो आत्मांगुल था उसको प्रमाणांगुल जानना चाहिये।[1]

दिगम्बर साहित्य में अंगुलों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—अनन्तानंत सूक्ष्म परमाणुओं की उत्संज्ञासंज्ञा, आठ उत्संज्ञासंज्ञा की एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञा का एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तरकुरु देवकुरु के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का रम्यक और हरिवर्ष के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्य का एक वालाग्र, उन आठ वालाग्रों का भरत, ऐरावत व विदेह के मनुष्यों का एक वालाग्र तथा लीख, यूका आदि

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र पृ० १५६-१७२, प्रवचनसारोद्धार पृ० ४०५-८, द्रव्यलोकप्रकाश पृ० १-२।

का प्रमाण पूर्ववत समझना चाहिए। उत्सेधागुल से पाच सौ गुणा प्रमाणागुल होता है। यही भरत चक्रवर्ती का आत्मागुल है।[1]

इस प्रकार से पल्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये।[2] पूर्व मे सासादन आदि गुणस्थानो का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त बतलाया गया है। अत अब आगे तीन गाथाओ मे पुदगल परावर्त का स्वरूप स्पष्ट करते है।

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥८६॥
उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥८७॥
लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबधठाणा य।
जह तह कममरणेण पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

शब्दार्थ—दव्वे—द्रव्य विषयक, खित्ते—क्षेत्र विषयक काले—काल विषयक, भावे—भाव विषयक, चउह—चार प्रकार का, दुह—दो प्रकार का, बायरो—बादर, सुहुमो—सूक्ष्म होइ—होता है अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो—अनत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण, पुग्गलपरट्टो—पुदगल परावत।

उरलाइसत्तगेण—औदारिक आदि सात वर्गणा रूप से एगजिउ—एक जीव मुयइ—छोड दे फुसिय—स्पर्श करके, परिणमित करके, सव्वअणू—सभी परमाणुओ को जत्तियकालि—जितने समय मे, स—उतना काल, थूलो—स्थूल, बादर दव्वे—द्रव्यपुदगल परावर्त सुहुमो—सूक्ष्म द्रव्यपुदगल परावर्त सगन्नयरा—सात मे से किसी एक एक वर्गणा के द्वारा।

---

१ तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० १४७ १४८

२ दिगम्बर साहित्य मे किये गये पल्यो के वर्णन के लिये परिशिष्ट देखिये।

लोगपएसा—लोक के प्रदेश, उसप्पिणिसमया—उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समय, अणुभागवंधठाणा - अनुभाग वध के स्थान, य—और, जह तह—जिस किसी भी प्रकार मे, कम—अनुक्रम से, मरणेण—मरण के द्वारा, पुट्ठा – स्पर्श किये हुए, खित्ताइ—क्षेत्रादिक, थूलियरा—स्थूल (वादर) और सूक्ष्म पुद्गल परावर्त ।

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार वाले पुद्गल परावर्त के वादर और सूक्ष्म, ये दो-दो भेद होते है। यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल के वरावर होता है ।

जितने काल मे एक जीव समस्त लोक मे रहने वाले समस्त परमाणुओ को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड देता है, उतने काल को वादर द्रव्य-पुद्गल परावर्त कहते है और जितने काल मे समस्त परमाणुओ को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओ मे से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है ।

एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशो, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समय तथा अनुभाग वंध के स्थानो को जिस किसी भी प्रकार (विना क्रम के) से और अनुक्रम से स्पर्श कर लेता है तव क्रमश॰ वादर और सूक्ष्म क्षेत्रादि पुद्गल परावर्त होते है ।

विशेषार्थ—जैन साहित्य मे प्रत्येक विषय की चर्चा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से की जाती है । इन्ही चार अपेक्षाओ को लेकर यहाँ पुद्गल परावर्त का कथन किया जा रहा है। परावर्त का अर्थ है परिवर्तन, फेरवदल, उलटफेर इत्यादि। द्रव्य से यहां

पुद्गल द्रव्य का ग्रहण किया गया है। क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवतन के साथ पुद्गल शब्द लगा हुआ है और उसके ही द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीव के ससार भ्रमण का कारण पुद्गल द्रव्य ही है, ससार अवस्था मे जीव उसके विना रह ही नही सकता है। इसीलिये पुद्गल के सबसे छोटे अणु—परमाणु को यहा द्रव्य पद से माना है। आकाश के जितने भाग मे वह परमाणु समाता है, उसे प्रदेश कहते ह और वह प्रदेश लोकाकाश का ही एक अश है, क्योंकि जीव लोकाकाश मे ही रहता है। पुद्गल का एक परमाणु एक प्रदश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे जितने समय मे पहुँचता है, उसे समय कहते ह। यह काल का सबसे छोटा हिस्सा है। भाव से यहा अनुभाग बध के कारणभूत कषाय रूप भाव लिये गये हैं। इन्ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवतन को लेकर चार परिवतन माने गये है।

यद्यपि द्रव्यपुद्गल परावत के सिवाय अन्य किसी भी परावत मे पुद्गल का परावतन नही होता है, क्योंकि क्षेत्रपुद्गल परावत मे क्षेत्र का, कालपुद्गल परावत मे काल का और भावपुद्गल परावत मे भाव का परावतन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्त का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अत इन परावर्तों की पुद्गल परावत सज्ञा रखी गई है।[1]

---

१ पुद्गलानाम—परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त =परिणमन यावति काले स तावान् काल पुद्गल परावर्त । इद च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जब जीव मरण कर-करके पुद्गल के एक-एक परमाणु के द्वारा समस्त परमाणुओं को भोग लेता है तो वह द्रव्यपुद्गल परावर्त और आकाश के एक-एक प्रदेश मे मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को स्पर्श कर चुकता है तब वह क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है। इसी प्रकार काल और भाव पुद्गल परावर्तों के बारे मे जानना चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि जब जीव अनादि काल से इस संसार मे परिभ्रमण कर रहा है तब अभी तक एक भी ऐसा परमाणु नहीं बचा है कि जिसका उसने भोग न किया हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नही बचा जहाँ वह न मरा हो और उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल का एक भी समय शेष नही रहा जिसमे वह मरा न हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नही रहा, जिसमे वह न मरा हो। उसने उन सभी परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानो का अनेक बार अपने मरण के द्वारा भोग कर लिया है। इसी को दृष्टि मे रखकर द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि नामो से काल का विभाग कर दिया है और जो पुद्गल परावर्त जितने काल मे होता है, उतने काल के प्रमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से कहा जाता है।

इसीलिए ग्रन्थकार ने पुद्गल परावर्त के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार भेदो का यहा वर्णन किया है।

पुद्गल परावर्त के काल का ज्ञान कराने के लिये गाथा मे संकेत किया है कि वह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल के

स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूप लक्ष्यते। तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तनाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्त-स्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्त-शब्द प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते। प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०

बराबर होता है। अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल का एक पुद्गल परावत होता है।

पुदगल परावत के चार भेद है—'दव्वे खित्ते काले भावे चउह' यानी द्रव्यपुद्गल परावत, क्षेत्रपुदगल परावत, कालपुद्गल परावत और भावपुद्गल परावत। इन चारो भेदो मे से प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म यह दो भेद होते हैं—दुह बायरो सुहुमो। अर्थात् पुद्गलपरावत का सामान्य से काल अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी प्रमाण है और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव ये चार मूल भेद है। ये मूल भेद भी प्रत्येक सूक्ष्म, बादर के भेद से दो दो प्रकार के हैं। जिनके लक्षण नीचे स्पष्ट करते हैं। सवप्रथम बादर और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावत का स्वरूप बतलाते है।

द्रव्यपुद्गल परावत—पूर्व मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अनेक प्रकार की पुद्गल वगणाओ से लोक भरा हुआ है और उन वगणाओ मे से आठ प्रकार की वगणायें ग्रहणयोग्य है यानी जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं और जीव उन्हे ग्रहण कर उनसे अपने शरीर मन, वचन आदि की रचना करता है। ये वगणायें है—

१ औदारिक ग्रहणयोग्य वगणा, २ वैक्रिय ग्रहणयोग्य वगणा, ३ आहारक ग्रहणयोग्य वगणा, ४ तैजस ग्रहणयोग्य वगणा, ५ भाषा ग्रहणयोग्य वगणा ६ श्वासोच्छ्वास ग्रहणयोग्य वगणा, ७ मनो ग्रहण योग्य वगणा, ८ कामण ग्रहणयोग्य वगणा। इन वगणाओ मे से जितने समय मे एक जीव समस्त परमाणुओ को आहारक ग्रहणयोग्य वगणा को छोडकर शेष औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कामण शरीर रूप परिणमाकर उनका आहार छोडता

है, उसे बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं।

उक्त कथन का साराश यह है कि बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त में तो समस्त परमाणुओं को आहारक को छोड़कर सात रूप से भोगकर छोडा जाता है और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में उन्हें केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोडा जाता है। यहा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर रूप परिणमाते समय मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय शरीर आदि रूप ग्रहण करके छोड दिया या समस्त परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड दिया अथवा समस्त परमाणुओं को वैक्रिय शरीर रूप परिणमाते समय बीच-बीच में कुछ परमाणुओं को औदारिक आदि रूप से ग्रहण करके छोड दिया तो वे गणना में नहीं लिये जाते हैं। किन्तु जिस शरीर रूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोडे जाते हैं, उन्हें ही सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में ग्रहण किया जाता है।[2]

---

१ आहारक शरीर को छोडने का कारण यह है कि आहारक शरीर एक जीव को अधिक-से-अधिक चार बार ही हो सकता है। अत वह पुद्गल परावर्त में उपयोगी नहीं है—
आहारकशरीरं चोत्कृष्टतोऽप्येकजीवस्य वारचतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहण कृतमिति।
—प्रवचन० टीका, पृ० ३०८ उ०

२ एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणान्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यजन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव गण्यन्ते।
—प्रवचन० टीका पृ० ३०८ उ०

द्रव्यपुद्गल परावत के बारे मे किन्ही किन्हीं आचार्यो का मत है कि—

अहव इमा दव्वाई ओरालविउव्वतयकम्मेहिं ।
नीसेसदव्वगहणमि बायरा होइ परियट्टो ॥[१]

एके तु आचार्या एव द्रव्यपुदगलपरावर्तस्वरूप प्रतिपादयन्ति—तथाहि यदको जीवोऽनेकभवग्रहणरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मण शरीरचतुष्टयरूपतया यदा सकललोकवर्तिन सर्वान पुदगलान परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुदगलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकादि चतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुदगलान परिणमय्य मुञ्चति शेष शरीरपरिणमितास्तु पुदगला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुदगलपरावर्तो भवति।[१]

—समस्त पुद्गल परमाणुओ को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन चार शरीर रूप ग्रहण करके छोड देने मे जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते है और समस्त पुद्गल परमाणुओ को उक्त चारो शरीरो मे से किसी एक शरीर रूप परिणमा कर छोड देने मे जितना काल लगता है उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते है।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म दोनो प्रकार के द्रव्यपुद्गल परावर्त के स्वरूप को बतलाने के बाद अब क्षेत्र, काल और भावपुद्गल परावर्तो का स्वरूप बतलाते है। द्रव्यपुद्गल परावर्त के समान ही क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तो मे से प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर यह दो दो प्रकार है।

सामान्य और पर जीव द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशो को

१ प्रवचन० गा० ४१

१ पचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १०३

अपने मरण के द्वारा स्पर्श करना क्षेत्रपुद्गल परावर्त का अर्थ है और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के सभी समयो का अपने मरण द्वारा स्पर्श करना तथा अनुभाग वंध के कारणभूत समस्त कषायस्थानो का अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेना क्रम से काल और भाव पुद्गल परावर्त कहलाते है। जिनका विशद स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है।

क्षेत्रपुद्गल परावर्त—कोई एक जीव भ्रमण करता हुआ आकाश के किसी एक प्रदेश मे मरा और वही जीव पुन आकाश के किसी दूसरे प्रदेश मे मरा, तीसरे, चौथे आदि प्रदेशो में मरा। इस प्रकार जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशो मे मर चुकता है तो उतने काल को बादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहते है। बादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त मे क्रम-अक्रम आदि-किसी भी प्रकार से समस्त आकाश प्रदेशो को स्पर्श कर लेना ही पर्याप्त माना जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त मे भी आकाश प्रदेशो को स्पर्श किया जाता है, लेकिन उसकी विशेषता इस प्रकार है कि—कोई जीव भ्रमण करता-करता आकाश के किसी एक प्रदेश मे मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश मे मरण करता है, पुन उसके निकट-वर्ती तीसरे प्रदेश मे मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर क्रम से प्रदेश मे मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशो मे मरण कर लेता है, तब वह सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है।

उक्त कथन का साराश और बादर व सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त मे अन्तर यह है कि बादर मे तो क्रम का विचार नही किया जाता है, उसमे व्यवहित प्रदेश मे मरण करने पर यदि वह प्रदेश पूर्व स्पृष्ट नही है तो उसका ग्रहण होता है, यानी वहा क्रम से या बिना क्रम से समस्त प्रदेशो मे मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है किन्तु सूक्ष्म मे समस्त प्रदेशों मे क्रम से ही मरण करना चाहिये और अक्रम

से जिन प्रदेशो मे मरण किया जाता है अथवा पूर्व मरणस्थान मे पुन जन्म लेकर मरण किया जाता है तो उनकी गणना नही की जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि बादर की अपेक्षा सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त मे समय अधिक लगता है। बादर का समय कम और सूक्ष्म का समय अधिक है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त के सबध मे एक बात और जानना चाहिए कि एक जीव की जघन्य अवगाहना लोक के असख्यातवें भाग बतलाई है, जिससे एक जीव यद्यपि लोकाकाश के एक प्रदेश मे नही रह सकता तथापि किसी एक देश मे मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। जिससे यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्ही प्रदेशो मे मरण होता है तो वे गणना मे नही लिये जाते है किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर का जो प्रदेश है, उसमे मरण करता है तो वह गणना मे लिया जाता है।

प्रदेशो को ग्रहण करने के बारे मे किन्ही किन्ही आचार्यो का मत है कि लोकाकाश के जिन प्रदेशो मे मरण करता है वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नही किया जाता है—

अन्ये तु व्याचक्षते—यष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जीवो मृतस्त सर्वेऽपि आकाशप्रदेशा गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षित कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति। —प्रवचन० टीका पृ० ३०६ उ०

कालपुद्गल परावर्त—जितने समय मे एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयो मे क्रम से या अक्रम से मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर कालपुद्गल परावर्त कहते है और कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय मे मरा, पुन उसके निरन्तर दूसरे समय मे मरा, पुन तीसरे समय मे मरा, इस

प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समय मे जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते है।

क्षेत्र की तरह ही यहा भी समयो की गणना क्रमवार करना चाहिये, अक्रमवार की गणना नही करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय मे मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोडाकोडी सागरोपम के बीत जाने के बाद पुन अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ होने पर उसके दूसरे समय मे मरे तो वह द्वितीय समय गणना मे लिया जाता है। मध्य के शेष समयो मे उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना मे नही लिये जाते है। यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय मे मरण को प्राप्त न हो किन्तु अन्य समयो मे मरण करे तो उनका भी ग्रहण नही किया जाता है किन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीत जाने पर जब भी अवसर्पिणी के दूसरे समय मे ही मरता है तब वह काल ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाचवे आदि समयो के बारे मे भी समझना चाहिये कि जितने समयो मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयो मे क्रम से मरण कर चुकता है, उस काल को सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते है।

भावपुद्गल परावर्त—अनुभागबंधस्थान—कषायस्थान तरतम भेद को लिये असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की संख्या के बराबर है अर्थात् उनकी संख्या असंख्यात है। उन अनुभागबंधस्थानो मे से एक-एक अनुभागबंधस्थान मे क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभागबंधस्थानो मे मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते है और सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान मे वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान मे मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे आदि अनुभागबंधस्थानो मे मरा आदि। इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबंधस्थानो मे मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्मभावपुद्गल परावर्त कहलाता है।

बादर और सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्तों मे भी अन्य परावर्तों की तरह यह अतर समझना चाहिये कि कोई जीव सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान मे मरण करके उसके बाद अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब प्रथम अनुभागस्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान मे मरण करता है तो सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्त मे वह मरण गणना मे लिया जाता है किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्त अनन्त मरण गणना मे नही लिये जाते है। इसी तरह कालान्तर मे द्वितीय अनुभागबंधस्थान के अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबंधस्थान मे जब मरण करता है तो वह मरण गणना मे लिया जाता है। चौथे, पाचवें आदि स्थानो के लिये भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् बादर मे तो क्रम अक्रम किसी भी प्रकारसे होने वाले मरणो की और सूक्ष्म मे सिर्फ क्रम से होने वाले मरणो की गणना की जाती है।

इस प्रकार मे बादर और सूक्ष्म पुद्गल परावर्तों[1] का स्वरूप बत

(क) पंचसंग्रह २।३७-४१ तक मे भी इसी प्रकार द्रव्य आदि चारो पुद्गल परावर्तों का स्वरूप, भेद आदि का वर्णन किया है। वे गाथायें इस प्रकार हैं—

पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो ।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्तभेएणं ॥
संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू ।
इगु जीवु मुयइ बायर अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥
लोगस्स पएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।
खेत्तंमि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥
उस्सप्पिणिसमएसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।
कालंमि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥
अणुभागट्ठाणेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।
भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुक्कमसो ॥

(ख) दिगम्बर साहित्य मे परावर्तों का वर्णन भिन्न रूप से किया गया है। उसका वर्णन परिशिष्ट मे देखिये।

लाने के बाद अब सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी बतलाते हैं।

अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥८९॥

शब्दार्थ—अप्पयरपयडिबंधी—अल्पतर प्रकृतियो का बंध करने वाला, उक्कटजोगी—उत्कृष्ट योग का धारक, य—और, सन्निपज्जत्तो—सञी पर्याप्त, कुणइ—करता है, पएसुक्कोस—प्रदेशो का उत्कृष्ट बंध, जहन्नयं—जघन्य प्रदेशबंध, तस्स—इसका, वच्चासे—विपरीतता से ।

गाथार्थ—अल्पतर प्रकृतियो का बंध करने वाला उत्कृष्ट योग का धारक और पर्याप्त संज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियो का बंध करने वाला जघन्य योग का धारक अपर्याप्त असंज्ञी जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा मे उत्कृष्ट प्रदेशबंध और जघन्य प्रदेशबंध करने वाले का कथन किया गया है। जो मूल और उत्तर प्रकृतियां अल्प बाधे वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है । क्योकि कर्मप्रकृतियो के अल्प होने से प्रत्येक प्रकृति को अधिक प्रदेश मिलते है । इसीलिये अल्पतर प्रकृति का बंधक और उत्कृष्ट योग का धारक ऐसा संज्ञी पर्याप्त जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और इससे विपरीत स्थिति मे यानी अधिक प्रकृतियो को बाधने वालो के कर्मदलिको को अधिक भागों में (प्रकृतियों मे) विभाजित हो जाने से प्रत्येक को अल्प प्रदेश मिलते है । इसीलिये अधिक प्रकृतियो का बंधक और मंद योग वाला असंज्ञी अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है। इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है ।

इसीलिये उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व के कथन के प्रसंग में—उत्कृष्ट योग होने पर उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तथा संज्ञी पर्याप्त को ही उत्कृष्ट योग होता है, यह बतलाने के लिये गाथा में 'उक्कड-जोगी य सन्निपज्जत्तो' यह तीन सार्थक विशेषण दिये गये हैं। यद्यपि गाथा ५३-५४ में योगों का अल्पबहुत्व बतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक को सबसे जघन्य और संज्ञी पर्याप्त को सबसे उत्कृष्ट योग बतलाया है। अतः 'उक्कडजोगी' कह देने से संज्ञी पर्याप्तक का बोध हो ही जाता है तथापि अधिक स्पष्टता के लिये 'सन्निपज्जत्तो' यह दो पद रखे गये हैं। उत्कृष्ट योग होने पर बहुत से जीव अधिक प्रकृतियों का बंध करते हैं, किन्तु उत्कृष्ट योग के साथ थोड़ी प्रकृतियों का बंध होना आवश्यक है।

इससे विपरीत दशा में अर्थात् यदि बहुत प्रकृतियों का बंध करने वाला हो, योग भी मंद हो तथा अपर्याप्त असंज्ञी हो तो जघन्य प्रदेश-बंध करता है। इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामित्व[1] के बारे में जानना चाहिये।

अब मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा से उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी बतलाते हैं।

मिच्छ अजयचउ आऊ बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बितिकसाए ॥९०॥

---

१ पंचसंग्रह और गो० कर्मकांड में भी उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी की यही योग्यतायें बतलाई हैं। यथा—

अप्पतरपगइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ —पंचसंग्रह २९८

उक्कडजोगी सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो।
कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णए जाण विवरीयं ॥ —गो० कर्मकांड २१०

शब्दाथ—मिच्छ—मिथ्यादृष्टि अजयचउ—अविरत सम्यग दृष्टि आदि चार गुणस्थान वाल, आऊ—आयु नम का, बितिगुणबिणु —दूसरे और तीसरे गुणस्थान के बिना मोहि—मोहनीय कम का, सत्त—सात गुणस्थान वाले मिच्छाई मिथ्यात्वादि, छण्ह—छह मूल प्रकृतिया का, सतरस सत्रह प्रकतिया का सुहुमो—सूक्ष्म सपराय गुणस्थान वाला, अजया—अविरत सम्यग्दृष्टि देसा—देश विरति बितिक्साय—दूसरी और तीसरी कषाय का।

गाथाथ—मिथ्यादृष्टि और अविरत आदि चार गुणस्थान वाले आयुकम का उत्कृष्ट प्रदेशबध करते हैं। दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थान वाले मोहनीय कम का उत्कृष्ट प्रदेशबध तथा शेष छह कमा और उनकी सत्रह प्रकृतिया का उत्कृष्ट प्रदेशबध सूक्ष्म सपराय गुणस्थान नामक दसवें गुणस्थान मे रहने वाले करते ह। द्वितीय कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तथा तीसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबध देशविरति करते ह।

विशेषाथ—इस गाथा मे मूल तथा कुछ उत्तर प्रकृतिया के उत्कृष्ट प्रदेशबध के स्वामिया का बतलाया है।

सब प्रथम मूल कर्मों मे से आयुकम का उत्कृष्ट प्रदेशबध बतलाते हुए कहा है—'मिच्छ अजयचउ आऊ'—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले और अविरत चतुष्क अथात् चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि, पाचवें देशविरति, छठे प्रमत्तविरत और सातवें अप्रमत्तविरत, यह पाच गुणस्थान वाले जीव करते हैं। शेष गुणस्थाना मे आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबध न बतलाने का कारण यह है कि तीसरे और आठवें आदि गुणस्थाना मे तो आयुकम का बध होता ही नही है। यद्यपि दूसरे गुणस्थान मे आयुकम का बध होता है, किन्तु यहां उत्कृष्ट

प्रदेशवंध का कारण उत्कृष्ट योग नही होता है। इसीलिये पहले और चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान के सिवाय शेप गुणस्थानो मे आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवंध नही वतलाया है।

दूसरे सासादन गुणस्थान मे उत्कृष्ट योग न होने का कारण स्पष्ट करते हुए गाथा की स्वोपज्ञ टीका मे वताया है कि आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे अनंतानुवंधी कषाय के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के सादि और अध्रुव दो ही प्रकार वतलायेंगे तथा सासादन मे अनन्तानुवंधी का वंध तो होता ही है अत वहाँ यदि उत्कृष्ट योग होता तो जैसे अविरत आदि गुणस्थानो मे अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशवंध होने के कारण वहाँ उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के भी सादि आदि चारो विकल्प वतलायेगे वैसे ही सासादन मे अनन्तानुवंधी का उत्कृष्ट प्रदेशवंध होने के कारण उसके अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध के सादि आदि चारो विकल्प भी वतलाने चाहिये थे, किन्तु वे नहीं बतलाये है। अतः उससे ज्ञात होता है कि या तो सासादन का काल थोड़ा होने के कारण वहाँ इस प्रकार का प्रयत्न नही हो सकता या अन्य किसी कारण से सासादन मे उत्कृष्ट योग नही होता है तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियो का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान मे उत्कृष्ट प्रदेशवंध वतला कर शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशवंध आदि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे वतलायेगे। जिससे यह ज्ञात होता है कि सासादन मे उत्कृष्ट योग नही होता है।

इस प्रकार सासादन गुणस्थान मे उत्कृष्ट योग का अभाव वतलाकर लिखा है कि जो सासादन को भी आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशवंध का स्वामी कहते है, उनका मत उपेक्षणीय है।[1]

---

१ 'अतो ये सास्वादनमप्यायुप उत्कृष्ट प्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम्।' इस कथन से यह ज्ञात होता है कि कोई-कोई आचार्य सासादन मे आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशवध को मानते हैं।

मोहनीय कम के उन्कृष्ट प्रदेशवध होने के वारे मे गाथा मे सकेत दिया है कि—वितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई—दूमरे और तीसरे गुणम्थान को छोडकर मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानो मे मोहनीय कम का उत्कृष्ट प्रदेशवध होता है। अर्थात मिथ्यात्व, अविरत, देश विरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूवकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणम्थाना मे मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवध वतलाया है। सासादन और मिश्र गुणस्थान मे उत्कृष्ट याग नही होता है, जिसस वहा उत्कृष्ट प्रदेशवध भी नही होता है।

सासादन म उत्कृष्ट योग न होने के सवध मे ऊपर सकेत किया जा चुका है और मिश्र गुणस्थान मे भी उत्कृष्ट योग न होने का कारण यह वतलाया गया है कि दूसरी कपाय का उत्कृष्ट प्रदेशवध अविरत गुणस्थान मे वतलाया गया है। यदि मिश्र मे भी उत्कृष्ट योग होता तो उसमे भी दूसरी कपाय का उत्कृष्ट प्रदशवध वतलाया जाता। यदि यह कहा जाये कि अविरत गुणस्थान मे मिश्र गुणस्थान से कम प्रकृतिया वधती है अत अविरत को ही उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामी वतलाया है, लेकिन यह युक्ति ठीक नही है, क्योकि साधारण अवस्था मे अविरत मे भी सात ही कर्मों का वध होता है और मिश्र मे ता सात कर्मों का वध हाता ही है तथा अविरत मे भी मोहनीय की सत्रह प्रकृतियो का वध होता है और मिश्र मे भी उसकी सत्रह प्रकृतियो का वध होता है। अत मिश्र मे उत्कृष्ट प्रदशवध का न वतलाने मे उत्कृष्ट योग का अभाव कारण है।

आयु और माहनीय के सिवाय शेप छह कमा—ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय, नाम, गात्र और अतराय का उत्कृष्ट प्रदेशवध सूक्ष्म सपराय नामक दसवें गुणस्थान मे होता है। सूक्ष्मसपराय मे उत्कृष्ट योग तो हाता ही है तथा थोडे कर्मों का वंध होन के कारण उसका ही ग्रहण किया है।

छह मूल कर्म प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवंध का कथन करते हुए इसी के साथ उनकी सत्रह उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध भी सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान मे वतलाया है—छण्हं सतरस सुहुमो। उक्त सत्रह प्रकृतिया इस प्रकार है—मतिज्ञानावरण आदि पाच ज्ञानावरण, चक्षु-दर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, सातावेदनीय, यश कीर्ति, उच्च-गोत्र और दानान्तराय आदि पाच अंतराय कर्म के भेद।

मोहनीय और आयु के सिवाय शेष छह मूल कर्म तथा उनकी मतिज्ञानावरण आदि सत्रह उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध दसवें गुणस्थान मे मानने का कारण यह है कि मोहनीय और आयुकर्म का वंध न होने के कारण उनका भाग ज्ञानावरण आदि शेष छह कर्मो को मिल जाता है।

द्वितीय कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशवंध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे और तीसरी कषाय प्रत्याख्याना-वरण का उत्कृष्ट प्रदेशवंध पाचवे देशविरति गुणस्थान मे होता है—अजया देसा वितिकसाए। इसका कारण यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे मिथ्यात्व और अनन्तानुवंधी का वंध नही होने से उनका भाग अप्रत्याख्यानावरण कषाय को मिल जाता है तथा देशविरति गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का भी वंध नही होने से उसका भाग प्रत्याख्यानावरण कषाय को मिलता है। इसीलिये चौथे गुण-स्थान मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशवंध तथा पाचवें देशविरति गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेश-वंध माना है।

इस प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियो और कुछ उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियो का निर्देश करने के वाद आगे की गाथाओ मे अन्य प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियो का कथन करते है।

पण अनियट्टी सुखगइ नराउसुरसुभगतिगविउव्विदुग ।
समचउरसमसाय वइर मिच्छो व सम्मो॑वा ॥६१॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुग सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥६२॥

शब्दार्थ — पण - पाच (पुरुषवेद और सज्वलन चतुष्क) अनियट्टी — अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला सुखगइ — शुभ विहायोगति नराउ — मनुष्यायु सुरसुभगतिग — देवत्रिक और सुभगत्रिक विउव्विदुग वक्रियद्विक समचउरस — समचतुरस्र सस्थान असाय — असातावेदनीय वइर — वज्रऋषभनाराच सहनन मिच्छो — मिथ्या दृष्टि व — अथवा, सम्मो — सम्यग्दृष्टि, वा — अथवा ।

निद्दापयला — निद्रा और प्रचला दुजुयल — दो युगल, भय कुच्छातित्थ — भय, जुगुप्सा और तीर्थकर नामकर्म सम्मगो — सम्यग्दृष्टि, सुजई — अप्रमत्त यति और अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, आहारदुग — आहारकद्विक का सेसा — बाकी की प्रकृतियो का उक्कोसपएसगा — उत्कृष्ट प्रदेशबध मिच्छो — मिथ्यादृष्टि (करता है)।

गाथार्थ — अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे पाच (पुरुषवेद, सज्वलन चतुष्क) प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्रिक, सुभगत्रिक, वक्रियद्विक, समचतुरस्रसस्थान, असातावेदनीय वज्रऋषभनाराच सहनन, इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते है ।

निद्रा, प्रचला, दो युगल (हास्य रति और शोक अरति), भय, जुगुप्सा तीर्थंकर, इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेश बध सम्यग्दृष्टि जीव करते है। आहारकद्विक का उत्कृष्ट

प्रदेशबंध अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनि और शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

विशेषार्थ—बंधयोग्य एकसौ बीस प्रकृतियो मे से पच्चीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियो का कथन पूर्व गाथा मे किया जा चुका है। उनके सिवाय शेष बची हुई ९५ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेश-बंध के स्वामियो को इन दो गाथाओ मे बतलाया है।

इन ९५ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को पाच खंडो मे विभाजित किया है। पहले खंड मे पाच, दूसरे मे तेरह, तीसरे मे नौ, चौथे मे दो और पाचवे मे उक्त प्रकृतियो के अलावा शेष रही ६६ प्रकृतियो को ग्रहण किया है।

पहले खंड मे पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पाॅच प्रकृतियो का समावेश करते हुए कहा है—पण अनियट्टी—यानि अनिवृत्तिबादर नामक नौवे गुणस्थानवर्ती जीव पुरुषवेद और संज्व-लन चतुष्क, इन पांच प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करते है। क्योकि पुरुषवेद नोकषाय मोहनीय का भेद है और नौवे गुणस्थान मे छह नोकषायो का बंध न होने के कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिल जाता है तथा पुरुषवेद के बंध का विच्छेद होने के बाद संज्व-लन कषाय चतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। क्योकि मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायो व नोकषायो का सब द्रव्य संज्वलन कषाय चतुष्क को मिलता है।

दूसरे खंड मे गर्भित तेरह प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी और देवायु), सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग), समचतुरस्र संस्थान, असातावेदनीय, वज्रऋषभनाराच

सहनन । इन तेरह प्रकृतिया का उत्कृष्ट प्रदेशवध—'मिच्छो व सम्मो वा'—मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जीव करते ह । क्याकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशवध के कारण पाये जाते ह ।

तीसरा खड निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शाक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीथकर इन नौ प्रकृतियो का है । जिनका वध सम्यग्दृष्टि जीव करते ह । इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशवध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर आठवें अपूव करण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं । क्योकि सम्यग्दृष्टि के स्त्यानर्द्धित्रिक का वध न होने के कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है । इसीलिये निद्रा और प्रचला के उत्कृष्ट प्रदेशवध के स्वामी मे सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है । मिश्र गुणस्थान मे भी स्त्यानर्द्धित्रिक का वध नही होता है, किन्तु वहा उत्कृष्ट योग नही होने से उसका ग्रहण नही किया है ।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्सा का चौथे से लेकर आठव गुणस्थान तक जिन जिन गुणस्थाना मे वध होता है, उन गुण स्थाना के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव उनका प्रदेशवध करते हैं और तीर्थंकरप्रकृति का वध तो सम्यग्दृष्टि जीव ही करते है । इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव को निद्रा आदि नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवध करने वाला वतलाया है ।

चौथा खड आहारक शरीर और आहारक अगोपाग, इन दो प्रकृ तिया का है । इनका उत्कृष्ट प्रदेशवधक सुयति यानी सातवें अप्रमत्त सयत और आठवें अपूवकरण इन दो गुणस्थानवर्ती मुनि को वतलाया है । ये दोनो गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं और प्रमाद रहित होने से 'सुजई' शब्द से इन दोना गुणस्थाना का ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार ५४ प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवध के स्वामियो का

कथन तो प्रकृतियो के नाम और उनके योग्य पात्र को वतलाते हुए कर दिया है। इनके अतिरिक्त शेप रही ६६ प्रकृतियो के लिये गाथा मे वताया है कि—सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो—शेप रही प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिरद्विक, शुभद्विक, अयश.कीर्ति और निर्माण इन पच्चीस प्रकृतियो के सिवाय शेप ४१ प्रकृतिया सम्यग्दृष्टि को वंधती ही नहीं है। उनमे से कुछ प्रकृतिया सासादन गुणस्थान मे वंधती है किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नही होता है, अत. ४१ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।

उक्त पच्चीस प्रकृतियो मे से औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, वादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयश कीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध नामकर्म के तेईस प्रकृतिक वंधस्थान के वंधक जीवो के होता है और शेप दस प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशवंध नामकर्म के पच्चीस प्रकृतिक वंधस्थान के वंधक जीवो को ही होता है, अन्य को नही और तेईस व पच्चीस का वंध मिथ्यादृष्टि को ही होता है। इसीलिये शेप पच्चीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेश-वन्ध उत्कृष्ट योग वाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते है।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवंध के स्वामियों का निर्देश करने के वाद अव आगे की गाथा मे जघन्य प्रदेशवन्ध के स्वामियो को वतलाते है।

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं।
सम्मो जिणं जहन्न सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥९३॥

शब्दार्थ—सुमुणी—अप्रमत्त यति दुन्नि—दो प्रकृतिया (आहारकद्विक) का असन्नी—असनी, निरयतिग—नरकत्रिक, सुराउ—देवायु सुरविउव्विदुग—देवद्विक और वक्रियद्विक, सम्मो—सम्यग्दृष्टि, जिण—तीथकर नामकम का जहन्न—जघन्य, सुहुमनिगोय—सूक्ष्म निगोदिया जीव आइखणि—उत्पत्ति के पहले समय म, सेसा—शेष रही हुई प्रकृतिया का।

गाथाथ - अप्रमत्त मुनि आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशवध करते है। असज्ञी जीव नरकत्रिक और देवायु का तथा सम्यग्दृष्टि जीव देवद्विक, वक्रियद्विक और तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबध करते ह। इनके सिवाय शेष रही हुई प्रकृतिया का जघन्य प्रदेशबध सूक्ष्म निगोदिया जीव उत्पत्ति के प्रथम समय मे करत ह।

विशेषाथ—इस गाथा मे जघन्य प्रदेशबध के स्वामियो को वतलाया है। ग्यारह प्रकृतिया का तो नामोल्लेख करके उनके स्वामियो का कथन किया है और शेष रही १०८ प्रकृतिया के जघन्य प्रदेशवध का स्वामी सूक्ष्म निगोदिया जीव को वतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

'सुमुणी दुन्नि' यानी आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबध सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि करत ह। यह सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिय किन्तु विशेष से जिस समय परावतमान योग वाले अप्रमत्त यति (मुनि) आठ कर्मों का बध करते हुए नामकम के इकतीस प्रकृति वाले बधस्थान का बध करते ह और योग भी जघन्य है, उस समय ही वे आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबध करते हैं। यद्यपि तीस प्रकृतिक बधस्थान मे भी आहारकद्विक का समावेश है, लेकिन इकतीस मे एक प्रकृति अधिक होने के कारण बटवारे के समय उनको कम द्रव्य

मिलता है। इसीलिये इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान का निर्देश किया गया है।

इसी तरह परावर्तमान योग वाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और देवायु का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है—असन्नी निरयतिगसुराउ। इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबंधक असंज्ञी पर्याप्त जीव को मानने का कारण यह है कि पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो नरकगति और देवगति मे उत्पन्न ही नही होते है, जिससे उनके उक्त प्रकृतियो का वन्ध ही नही होता है और असंज्ञी अपर्याप्त के भी इतने विशुद्ध परिणाम नही होते है जिससे देवगति योग्य प्रकृतियो का बंध कर सके और न इतने संक्लेश रूप परिणाम कि नरकगति योग्य प्रकृतियो का बंध हो सके।

उक्त चार प्रकृतियो के बंधक असंज्ञी पर्याप्तक के परावर्तमान योग वाला मानने का कारण यह है कि यदि एक ही योग मे चिरकाल तक रहने वाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योग वाला हो जायेगा। इसीलिये परावर्तमान योग को ग्रहण किया है। क्योकि योग मे परिवर्तन होते रहते तीव्र योग नही हो सकता है। अत. परावर्तमान योग वाला आठ कर्मों का बन्धक पर्याप्त असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योग के रहते हुए नरकत्रिक और देवायु इन चार प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबंध करता है।

देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग) और तीर्थंकर इन पाच प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशवन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। इसका कारण नीचे स्पष्ट किया जाता है—

कोई मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके देवो मे उत्पन्न हुआ। वहां वह उत्पत्ति के प्रथम समय मे ही मनुष्यगति के योग्य तीर्थंकर

प्रकृति सहित नामकर्म के तीस प्रकृतिक स्थान का बध करता हुआ तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबध करता है। नरकगति मे भी तीथकर प्रकृति का बध होता है किन्तु देवगति मे जघन्य योग वाले अनुत्तरवासी देवा का ग्रहण किया जाता है, क्याकि नरकगति मे इतना जघन्य योग नही होता है। अत नरकगति के सम्यग्दृष्टि जीव के तीथकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबन्ध नही बतलाया है। तियचगति मे तीर्थंकर प्रकृति का बध ही नही होता है और मनुष्यगति मे जन्म के प्रथम समय मे तो तीर्थंकर प्रकृति सहित नामकर्म के उनतीम प्रकृतिक बन्धस्थान का बध होता है, अत प्रकृति कम होने से वहा अधिक भाग मिलता है तथा तीर्थंकर सहित इकतीम प्रकृतिक बधस्थान का बध सयमी के ही होता है और वहा योग भी अधिक होता है। अत तीस प्रकृतिक स्थान के बन्धक देवा के ही तीथकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबध बतलाया है।

देवद्विक और वैक्रियद्विक का जघन्य प्रदेशबध देवगति या नरकगति मे आकर उत्पन्न होने वाले मनुष्य के उस समय होता है जब वह देवगति के योग्य नामकर्म के उनतीस प्रकृतिक बधस्थान का बध करता है। क्याकि देव और नारक तो इन प्रकृतिया का बन्ध ही नही करते हैं और भोगभूमिया तिर्यंच जन्म लेने के प्रथम समय मे इनका बंध करते भी हैं किन्तु वे देवगति योग्य अट्ठाईस प्रकृतिक बधस्थान का ही बध करते हैं। जिसमे उनको बटवारे के समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान के बधक मनुष्य के लिए भी समझना चाहिये। अत उनतीस प्रकृतिक बधस्थान के बधक मनुष्य के ही देवद्विक और वैक्रियद्विक इन चार प्रकृतिया का जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

उक्त ११ प्रकृतियो के सिवाय शेष रही १०८ प्रकृतिया का जघन्य

प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के पहले समय में करता है। क्योंकि उसके प्राय. सभी प्रकृतियों का बंध होता है और सबसे जघन्य योग भी उसी के होता है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को जानना चाहिये।[1] अब आगे की गाथा में प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों को बतलाते हैं।

दसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसाय विग्घनाणाण।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥६४॥

शब्दार्थ—दसणछग—दर्शनावरणषट्क, भयकुच्छा—भय और जुगुप्सा, बितितुरियकसाय—दूसरी, तीसरी और चौथी कषाय, विग्घनाणाणं—पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण, मूलछगे—मूल छह प्रकृतियों का, अणुक्कोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध, चउह—चार प्रकार का, दुहा—दो प्रकार का, सेसि—शेष तीन प्रकार के बंधों में, सव्वत्थ—सर्वत्र होते हैं।

गाथार्थ—दर्शनावरण कर्म की छह प्रकृतियों का, दूसरी तीसरी और चौथी कषाय का, पांच अन्तराय और पांच ज्ञानावरण का, छह मूल कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध चारों प्रकार का होता है। उक्त प्रकृतियों के तथा उनके सिवाय शेष प्रकृतियों के तीन बंध दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों का विवेचन किया गया है।

---

1 गो० कर्मकांड गा० २११ से २१७ में उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को बतलाया है। जो प्राय कर्मग्रन्थ के समान है और शेष १०९ प्रकृतियों के जघन्य बंधक के बारे में कुछ विशेषता भी बतलाई है।

उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भंगों का स्वरूप पहले बतला चुके हैं तथा प्रकृति बंध के अंत में मूल और उत्तर प्रकृतियों में उनका विचार किया गया है। अब प्रदेशबंध में भी उनका विचार करते हैं।

सबसे अधिक कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को उत्कृष्ट प्रदेशबंध और उत्कृष्ट प्रदेशबंध में एक दो वगैरह स्कंधों की हानि से लेकर सबसे कम कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों में प्रदेशबंध के सब भेदों का ग्रहण हो जाता है।

सबसे कम कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को जघन्य प्रदेशबंध कहते हैं और उसमें एक दो आदि स्कंधों की वृद्धि से लेकर अधिक-से अधिक कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को अजघन्य प्रदेशबंध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदों में भी उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों की तरह प्रदेशबंध के सब भेद गर्भित हो जाते हैं।

गाथा में जो दर्शनषट्क आदि प्रकृतियों में अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि आदि चार भेद बतलाये हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनषट्क में चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा और प्रचला इन छह प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। इनमें से निद्रा और प्रचला इन दो को छोड़ कर शेष चार दर्शनावरणों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। क्योंकि वहां मोहनीय और आयु कर्म का बंध नहीं होता है तथा निद्रापंचक का भी बंध नहीं होता है। जिससे उनका बहुत द्रव्य मिलता है। उस उत्कृष्ट प्रदेशबंध को करके जब कोई जीव ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में गया और वहां से गिरकर दसवें गुणस्थान में आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट

वंध करता है तो वह वंध सादि होता है। अथवा दसवें गुणस्थान मे ही उत्कृष्ट प्रदेशवंध करने के बाद वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध करता है तब वह वंध सादि होता है। क्योकि उत्कृष्ट योग एक दो समय से अधिक देर तक नही होता है। उत्कृष्ट प्रदेशवंध होने के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीव का वही वंध ध्रुव है और भव्य जीव का वंध अध्रुव है।

सम्यग्दृष्टि जीव के स्त्यानर्द्धित्रिक का वंध नही होता है और निद्रा व प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशवंध चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है, अतः स्त्यानर्द्धित्रिक का भाग भी उनको मिलता है। उक्त गुणस्थानो मे से किसी एक गुणस्थान मे निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशवंध करके जव जीव पुनः अनुत्कृष्ट वंध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट वंध से पहले का अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध अनादि है। अभव्य का वन्ध ध्रुव है और भव्य का वन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्सा का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध भी चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के भी पहले की तरह ही चार भंग जानना चाहिये। यानी ये अविरतादिक जव उत्कृष्ट योग से गिरकर अथवा वंधच्छेद से अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध करते है तव वह सादि और उससे पूर्व का अनादि तथा अभव्य के ध्रुव व भव्य के अध्रुव होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कपाय, प्रत्याख्यानावरण कपाय और संज्वलन कपाय, पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के भी चार-चार भंग जानना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है, वह अनादि है और उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध के वाद जो अनुत्कृष्ट वन्ध होता है वह सादि है। भव्य जीव को वही वन्ध अध्रुव होता है और अभव्य का वंध ध्रुव होता है।

इस प्रकार से उक्त तीस प्रकृतिया के अनुत्कृष्ट प्रदशव ध के सादि आदि चार भग होते ह। किन्तु वाकी के उत्कृष्ट, जघ य और अज-घ य प्रदेशवन्ध के सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते ह। वे इस प्रकार ह—

अनुत्कृष्ट प्रदेशवध के भगा को वतलाते समय यह स्पष्ट किया गया है कि अमुक गुणस्थान मे उत्कृष्ट प्रदेशवध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशव ध अपने-अपन गुणस्थाना मे पहली वार होता है, अत वह सादि है और एक, दो समय होने के वाद या तो उस व ध का विल्कुल अभाव हो जाता है या पुन अनुत्कृष्ट प्रदेशव ध होने लगता है, जिससे वह अध्रुव है तथा उक्त तीस प्रकृतियो का जघ य प्रदेशव ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भव के प्रथम समय मे होता है और उसके वाद योगशक्ति मे वृद्धि होने के कारण उनका अजघन्य प्रदेश व ध होता है। संख्यात या असख्यात काल के वाद जव उस जीव को पुन उस भव की प्राप्ति होती है तो पुन जघ य प्रदेशव ध होता है और उसके वाद पुन अजघन्य प्रदेशव ध होता है। इस प्रकार जघन्य के वाद अजघन्य और अजघन्य के वाद जघ य प्रदेशव ध होने के कारण दोना ही व ध सादि और अध्रुव होते है।

तीस प्रकृतिया के भगा का विचार कर लेने के वाद अव शेप रही ६० प्रकृतिया के भगा का विचार करते है। इनके चारो व ध सादि और अध्रुव होते ह। ९० प्रकृतिया मे से ७३ प्रकृतिया अध्रुववधिनी ह अत उनके तो चारा ही व ध सादि और अध्रुव हागे ही और शेप रही सत्रह ध्रुववधिनी प्रकृतिया मे से स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व और अनन्तानुव धो का उत्कृष्ट प्रदेशव ध मिथ्यादृष्टि करता है। उत्कृष्ट प्रदेशव ध का कारण उत्कृष्ट योग है जा एक दो समय तक ठहरता है। जिससे उत्कृष्ट व ध एक दा समय तक ही होता है और उसके

वाद अनुत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होता है। उत्कृष्ट योग होने पर पुन उत्कृष्ट वन्ध होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट के वाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट के वाद उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध होने का क्रम चलता रहता है। इसी कारण यह दोनो वन्ध सादि और अध्रुव होते है तथा इन प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशवन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव भव के प्रथम समय मे करता है। दूसरे, तीसरे आदि समयो मे वही जीव उनका अजघन्य प्रदेशवन्ध करता है और कालान्तर मे वही जीव पुनः उनका जघन्य प्रदेशवन्ध करता है। इस प्रकार ये दोनो वन्ध भी सादि और अध्रुव होते है।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण प्रकृति के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशवन्ध भी इसी प्रकार सादि और अध्रुव समझना चाहिये। इन नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट वंध मिथ्यात्वी उत्कृष्ट योग वाला नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान का वन्ध करने वाला करता है।

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि चार वंधो मे सादि वगैरह भंगो का स्वरूप जानना चाहिये। अव मूल प्रकृतियो के भंगो का विचार करते है।

मूल प्रकृतियो मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि वगैरह चारो विकल्प होते है। जो इस प्रकार है कि इन छह का उत्कृष्ट प्रदेशवंध क्षपक अथवा उपशमक सूक्ष्मसंपराय नामक दसवे गुणस्थान मे करता है। अनन्तर जव पुनः उनका अनुत्कृष्ट प्रदेशवंध करता है तो वह वंध सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशवंध से पहले वह वंध अनादि है, भव्य का वंध अध्रुव है तथा अभव्य का वंध ध्रुव है। शेप जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट प्रदेश-

बध के सादि और अध्रुव विकल्प होते है। क्याकि पूव मे अनुत्कृष्ट प्रदेशवध को वतलाते हुए सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे उत्कृष्ट प्रदेश-बध होने का सकेत कर आये हैं। वह उत्कृष्ट प्रदेशवध पहले पहल होता है, अत सादि है और पुन अनुत्कृष्ट बध के होने पर पुन नही होता है, अत अध्रुव है। उक्त छह कर्मों का जघन्य प्रदेशवध सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव भव के प्रथम समय मे करता है और उसके वाद योग की वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशवध करता है, कालान्तर मे पुन जघन्य वध करता है। इस प्रकार ये दोनो भी सादि और अध्रुव होते है।

ज्ञानावरण आदि छह मूल प्रकृतियो से शेप रहे मोहनीय और आयु कम के चारो वधो के सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते है। आयु कम तो अध्रुववधी है अत उसके चारो प्रदेशवध सादि और अध्रुव ही होते हैं। मोहनीय कम का उत्कृष्ट प्रदेशवध नौवें गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले जीव करते ह और उत्कृष्ट के वाद अनुत्कृष्ट तथा अनुत्कृष्ट के वाद उत्कृष्ट प्रदेशबध होता है। इसीलिये ये दोना वध सादि और अध्रुव है। इसी प्रकार मोहनीय का जघन्य वध सूक्ष्म निगोदिया जीव करता है। उसके भी जघन्य के वाद अजघन्य तथा अजघन्य के बाद जघन्य वध करने के कारण दोनो वध सादि और अध्रुव होते है।

इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतिया के उत्कृष्ट आदि प्रदेशवधो के सादि वगरह का क्रम जानना चाहिए।[1]

---

१ पचसग्रह और गा० यमवाड म प्रदेशबध के सादि वगरह भगो का क्रम ग्रथ के अनुरूप वणन किया गया है। तुलना के लिये उक्त अशो को यहाँ उद्धृत करते हैं—

(शेप अगले पृष्ठ पर)

प्रदेशवंध का विवेचन पूर्ण करने के पहले यह भी स्पष्ट करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकृतिवंध, स्थितिवंध, अनुभागवंध और प्रदेशवंध में से अनेक प्रकार के प्रकृतिवंध और प्रदेशवंध के कारण योगस्थान है। अनेक प्रकार के स्थितिवंध के कारण स्थितिवंध-अध्यवसायस्थान हैं तथा अनेक प्रकार के अनुभागवंध के कारण अनुभागवंध-अध्यवसायस्थान है। अतः एव योगस्थान और उनके कार्यों का परस्पर में अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया।
ठिइवंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥९५॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया।

शब्दार्थ—**सेढिअसंखिज्जंसे**—श्रेणि के असंख्यातवें भाग, **जोगट्ठाणाणि**—योगस्थान, **पयडिठिइभेया**—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, **ठिइवंधज्झवसाया**—स्थितिवंध के अध्यवसायस्थान, **अणुभागठाणा**—अनुभाग वंध के अध्यवसायस्थान, **असंखगुणा**—असंख्यात गुणे **तत्तो**—उनसे भी, **कम्मपएसा**—कर्मप्रदेश, कर्म के स्कंध, **अणंतगु-**

मोहाउयवज्जाण णुक्कोसो साइयाइओ होइ।
साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि॥
नाणतरायनिद्दा अणवज्जकसाय भयदुगुछाण।
दंसणचउपयलाण चउव्विगप्पो अणुक्कोसो॥
सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईण।

—पंचसंग्रह २९०, २९५, २९६

छण्हंपि अणुक्कस्सो पदेसबंधो दु चदुवियप्पो दु।
सेसतिये दुवियप्पो मोहाऊण च दुवियप्पो॥
तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो।
सेसतिये दुवियप्पो सेसचउक्केवि दुवियप्पो॥

—गो० कर्मकांड २०७, २०८

- णिया—अनतगुणे, तओ —उनसे भी रसच्छेया—रसच्छेद—रस के
- अविभाग प्रतिच्छेद।

गाथार्थ—योगस्थान श्रेणि के असख्यातवें भाग है। उनसे प्रकृतिया के भेद, स्थितिभेद, स्थितिबध के अध्यवसायस्थान और अनुभाग वध के अध्यवसायस्थान अनुक्रम से असख्यात गुणे, असख्यातगुणे है। उनसे भी कर्म के स्कध अनतगुणे है और कर्मस्कधो से भी रसच्छेद अनतगुणे है।

विशेषार्थ—गाथा मे वध के भेदो और उनके कारणो का अल्पबहुत्व बतलाया है। इस निरूपण मे निम्नलिखित सात चीजो का ग्रहण किया गया है—

(१) प्रकृतिभेद, (२) स्थितिभेद, (३) प्रदेशभेद, (४) रसच्छेद अर्थात् अनुभागभेद, (५) योगस्थान, (६) स्थितिबध-अध्यवसाय स्थान और (७) अनुभागवध अध्यवसायस्थान। इन सात भेदो मे बंध के चार भेद और तीन उनके कारण भेद हैं। वध के तो चार भेद माने हैं किन्तु कारण के तीन भेद मानने का कारण यह है कि प्रकृति और प्रदेश वध का कारण एक ही है। इसीलिये कारण के भेद चार के वजाय तीन ही किये गये हैं। यहा इन सातो का अल्पबहुत्व वतलाया है कि कौन किससे कम और कौन अधिक है। यानी सातो में से किसकी सख्या अधिक है और किसकी सख्या कम है।

इस अल्पबहुत्व का कथन प्रारम्भ करते हुए सब प्रथम बताया है कि योगस्थानो की सख्या श्रेणि के असख्यातवें भाग है—सेढि असखि जसमे जोगट्ठाणाणि—अर्थात् श्रेणि के असख्यातवें भाग मे आकाश के जितने प्रदेश है उतने ही योगस्थान जानना चाहिये। यह पहले बतला आये हैं कि वीर्य या शक्तिविशेष को योग कहते हैं और सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को भव के प्रथम

समय में होता है। अर्थात् अन्य जीवों की अपेक्षा उसकी वीर्यशक्ति सबसे कम है। किन्तु सबसे कम शक्ति के धारक उस जीव के कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्य वाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्य वाले हैं। यदि सबसे कम वीर्य वाले प्रदेशों में से एक प्रदेश को केवलज्ञानी के ज्ञान द्वारा देखा जाय तो उसमें असंख्यात लोककाशों के प्रदेश के बराबर भाग पाये जाते हैं। यह बात तो हुई कम वीर्य वाले प्रदेशों की, लेकिन इसी प्रकार अत्यधिक वीर्य वाले प्रदेश का भी अवलोकन किया जाये जो उसमें उन जघन्य वीर्य वाले प्रदेश के भागों से भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं।

वीर्यशक्ति के इन अविभागी अंशों या भागों को वीर्य-परमाणु, भाव-परमाणु या अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। जीव के जिन प्रदेशों में ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम लेकिन समान संख्या में पाये जाते हैं, उनकी एक वर्गणा होती है। उनसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की एक-एक अलग वर्गणा होती है। जहां तक एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेश पाये जाते हैं, वहां तक की वर्गणाओं के समूह को प्रथम स्पर्धक कहते हैं। उसके आगे जो प्रदेश मिलते हैं, उनमें प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के प्रदेशों में जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, उनसे असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन-जिन प्रदेशों में पाये जाते हैं, उनके समूह को दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रथम वर्गणा के ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों वाले प्रदेशों का समूह रूप दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद की वृद्धि करते-करते ये वर्गणायें

श्रेणि के असख्यातवें भाग के बराबर होती ह, इनके समूह को दूसरा स्पधक कहते है। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदा के धारक प्रदेश नही मिलते किंतु असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के जितने अधिक अविभागी अविभागी प्रतिच्छेदा के धारक प्रदेश ही मिलते है। उनसे पहले कहे हुए क्रम के अनुसार तीसरा स्पधक प्रारम्भ होता है। इसी तरह चौथा, पाचवा आदि स्पधक जानना चाहिये। इन स्पधका का प्रमाण भी श्रेणि के असख्यातवें भाग है और उनके समूह को एक योगस्थान कहते हैं।

यह योगस्थान सबसे जघन्य शक्ति वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव के भव के पहले समय मे होता है। उससे कुछ अधिक शक्ति वाले जीव का इसी क्रम से दूसरा योगस्थान होता है। इसी प्रकार अधिक-अधिक शक्ति की वृद्धि के साथ तीसरा, चौथा, पाचवा आदि योग स्थान होते ह। इस तरह इसी क्रम से नाना जीवो के अथवा काल भेद मे एक ही जीव के ये योगस्थान श्रेणि के असख्यातवें भाग आकाश के जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते ह।

जीवा के अनत होने पर भी योगस्थाना को असख्यात मानने का कारण यह है कि सब जीवो का योगस्थान अलग-अलग ही नही होता है किन्तु अनन्त स्थावर जीवो के समान योगस्थान होता है तथा असख्यात त्रसा के भी समान योगस्थान होता है। जिससे सख्या मे कोई परिवतन नही आता किन्तु विसदृश योगस्थान श्रेणि के असख्यातवें भाग ही होते हैं। इसीलिए असख्यात योगस्थान माने हैं।

इन योगस्थाना स भी ज्ञानावरण आदि प्रकृतिया के भेद असंख्यातगुणे ह। यद्यपि कर्मों की ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतिया हैं और उत्तर प्रकृतिया १५८ बतलाई हैं, किन्तु बध की विचित्रता

से एक-एक प्रकृति के असंख्यात भेद हो जाते हैं। जैसे कि शास्त्रो में अवधिज्ञान के बहुत भेद बतलाये है, जिससे अवधिज्ञानावरण के बंध के भी उतने ही भेद होते है, क्योकि बंध की विचित्रता से ही क्षयोपशम में अन्तर पडता है और क्षयोपशम मे अन्तर पड़ने मे ही ज्ञान के अनेक भेद होते है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सूक्ष्म पनक जीव के तीसरे समय मे जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्य क्षेत्र से लेकर एक प्रदेश बढ़ते-बढते उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र तक क्षेत्र की हीनाधिकता के कारण अवधिज्ञान के असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसीलिये अवधिज्ञान के आवारक अवधिज्ञानावरण कर्म के भी बंध और उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद हो जाते है। इसी तरह नाना जीवो की अपेक्षा से कर्मों की अन्य उत्तर प्रकृतियो व मूल प्रकृतियो के भी बंध व उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद समझना चाहिये।

जीवो के अनन्त होने के कारण उनके बंधो और उदयों की विचित्रता से प्रकृतियो के अनन्त भेद मानने की आशंका नही करना चाहिये। क्योकि नाना जीवो के भी एक-सा बंध व उदय होने से वह एक ही माना जाता है किन्तु प्रकृतियो के विसदृश भेद असंख्यात ही होते हैं। अतः योगस्थानों से प्रकृतियां असंख्यातगुणी है, क्योकि एक-एक योगस्थान मे वर्तमान नाना जीव या कालक्रम से एक ही जीव इन सब प्रकृतियो का बंध करता है।

प्रकृतिभेदो से असंख्यातगुणे स्थिति के भेद है, क्योकि एक-एक प्रकृति असंख्यात प्रकारो की स्थिति को लेकर बंधती है। जैसे कि एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्त की स्थिति के साथ बाधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्त की स्थिति के साथ बाधता है,

कभी दो समय अधिक, कभी तीन समय अधिक यावत अतमुहूत के समया के जितने भेद है, उन उन समयो को लेकर बाधता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षा से ही स्थिति के असख्यात भेद हो जाते है तब सब प्रकृतियो और सब जीवो की अपेक्षा से प्रकृति के भेदो से स्थिति के भेदो का असख्यातगुणा होना सम्भव है। इसी कारण प्रकृति के भेदो से स्थिति के भेद असख्यातगुणे होते है।

स्थिति के भेदो से स्थितिबध-अध्यवसायस्थान[1] असख्यातगुणे ह। एक एक स्थितिबध के कारणभूत अध्यवसाय—परिणाम अनेक होते हैं, क्योकि सबसे जघन्य स्थिति का बध भी असख्यात लोक-प्रमाण अध्यवसायो से होता है अथात् एक ही स्थितिबध किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है और किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अत स्थिति के भेदा से स्थितिबध अध्यवसायस्थान असख्यातगुणे माने गये हैं।

स्थितिबध-अध्यवसायस्थान से 'अनुभागबध-अध्यवसायस्थान असख्यातगुणे हैं। अर्थात् स्थितिबध के कारणभूत परिणामो से अनुभागबध के कारणभूत परिणाम असख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक एक स्थितिबध अध्यवसायस्थान तो अन्तमुहूत तक रहता है, किन्तु एक एक अनुभागबध अध्यवसायस्थान कम-से कम एक समय और अधिक-से-अधिक आठ समय तक ही रहता है। अत एक-एक स्थितिबध-अध्यवसायस्थान मे असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर अनुभागबध अध्यवसायस्थान होते है।

---

१ कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणामविशेषों से स्थिति बध होता है उन परिणामो को स्थितिबध अध्यवसाय कहते हैं।

इस प्रकार योगस्थान, प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान, अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान तो क्रमशः असंख्यात हैं और अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान में भी – कम्मपएसा अणंतगुणिया, कर्मस्कंध अनंतगुणे हैं। क्योंकि एक जीव एक समय में अभव्य राशि से अनंतगुणे और सिद्ध राशि के अनंतवें भाग कर्मस्कंधों को ग्रहण करता है। अतः अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान में अनंतगुणे कर्मस्कन्ध माने हैं।

कर्मस्कंधों से भी अनंतगुणे रस के अविभागी प्रतिच्छेद हैं, क्योंकि अनुभागबंध-अध्यवसायस्थानों के द्वारा कर्मपुद्गलों में रस – फलदान शक्ति पैदा होती है, यदि एक परमाणु में विद्यमान रस या अनुभागशक्ति को केवलज्ञान के द्वारा विभाजित किया जाये—खंड-खंड किया जाये तो उसमें समस्त जीवराशि से अनंतगुणे अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते हैं अर्थात् समस्त कर्मस्कंधों के प्रत्येक परमाणु में समस्त जीवराशि से अनंतगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक-एक कर्मस्कन्ध में कर्मपरमाणु सिद्धराशि के अनंतवें भाग ही होते हैं। इसीलिये कर्मस्कंधों से रसच्छेद अनन्तगुणे माने जाते हैं।

इस प्रकार से बन्ध और उनके कारणों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये कि योगस्थान से लेकर अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान तक तो प्रत्येक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हैं और उसके अनन्तर कर्मस्कन्ध और रसच्छेद क्रमशः अनंतगुणे हैं।[1]

---

१ पंचसंग्रह में भी योगस्थान आदि का अल्पबहुत्व इसी प्रकार बतलाया है—

सेढिअसंखेज्जंसो जोगट्ठाणा तओ असंखेज्जा।
पयडीभेआ तत्तो ठिइभेया होंति तत्तोवि ॥२८२
ठिइबंधज्झवसाया तत्तो अणुभागबंधठाणाणि।
तत्तो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥२८३

गो० कर्मकांड गा० २५८-२६० में रसच्छेद को नहीं लेकर सिर्फ छह का ही परस्पर में अल्पबहुत्व बतलाया है। यह वर्णन कर्मग्रन्थ से मिलता है।

प्रदेशव ध के समग्र वर्णन मे अभी तक उसका कारण नही बताया है । अत अब प्रदेशव ध और उसके साथ ही पूर्वोक्त प्रकृति, स्थिति और अनुभाग व ध के कारणो का भी निर्देश करते है ।

जोगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायाउ ॥६६॥

शब्दार्थ—जोगा—योग से, पयडिपएस—प्रकृतिबध और प्रदेशबध, ठिइअणुभाग—स्थितिबध और अनुभागबध, कसायाउ—कषाय द्वारा ।

गाथार्थ—प्रकृतिब ध और प्रदेशबन्ध योग से होते है और स्थितिब ध व अनुभागब ध कषाय से होते है ।

विशेषार्थ—पूर्व मे बध के प्रकृतिबध, प्रदेशबध, स्थितिबध और अनुभागबध, यह चार भेद बतला आये है । यहा उनके कारणो को बतलाते हैं कि प्रकृतिबध और प्रदेशबध का कारण योग है और स्थितिबध व अनुभागबध का कारण कषाय है ।

योग और कषाय का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है कि योग एक शक्ति का नाम है जो निमित्त कारणो के मिलने पर कर्म वर्गणाओ को कर्म रूप परिणमाती है । योग के द्वारा कर्म पुद्गलो का अमुक परिमाण मे कर्म रूप होना और उनमे ज्ञानादि गुणो को आवरित करने का स्वभाव पडना, यह योग का कार्य है ।

आगत कर्म पुद्गलो का अमुक काल तक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहना और उनमे तीव्र, मद आदि फल देने की शक्ति का पडना कषाय द्वारा किया जाता है । इसीलिये प्रकृतिबध और प्रदेशबध का कारण योग और स्थितिबध व अनुभागबध का कारण कषाय को माना है । जब तक कषाय रहती हैं तब तक तो चारो बध होते है और कषाय का उपशम या क्षय हो जाने पर सिर्फ प्रकृति व प्रदेश बध, यह दो बध होते है ।

कषाय का उपशम व क्षय ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक में है, जिससे उन गुणस्थानो मे प्रकृति व प्रदेश बंध होता है और चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाने से सदा के लिये कर्मोच्छेद हो जाता है। ग्यारहवे गुणस्थान से आगे होने वाला प्रकृति और प्रदेश बंध पहले समय मे होकर दूसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाता है। योगशक्ति होने से यह बंध माना जाता है, लेकिन कषाय परिणाम नही होने से अपना फल नही देते है।

पहले योगस्थानो का प्रमाण श्रेणि के असंख्यातवें भाग बताया है, अत बंध के कारणो का कथन करने से बाद अब श्रेणि के स्वरूप को बतलाते है।

चउद्दसरज्जू लोगो बुद्धिकओ सत्तरज्जुमाणघणो।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥९७॥

शब्दार्थ - **चउदसरज्जू** — चौदह राजू प्रमाण, **लोगो** — लोक, **बुद्धिकओ** — मति कल्पना के द्वारा किया गया, **सत्तरज्जुमाणघणो** — सात राजू प्रमाण का, **तद्** — उसकी (घनीकृत लोक की) **दीहेगपएसा** - लंबी एक प्रदेश की, **सेढी** — श्रेणि, **पयरो** — प्रतर, **य** — और **तव्वग्गो** — उसका वर्ग।

गाथार्थ — लोक चौदह राजू प्रमाण है, उसका मति-कल्पना के द्वारा समीकरण किये जाने पर वह सात राजू के घनप्रमाण होता है। उस घनीकृत लोक की लोक प्रमाण लंबी प्रदेशो की पंक्ति को श्रेणि कहते है और उसके वर्ग को प्रतर समझना चाहिये।

विशेषार्थ — इस गाथा मे लोक, श्रेणि और प्रतर का स्वरूप बतलाया है। गाथा मे लोक के स्वरूप का संकेत देते हुए सिर्फ यही लिखा है 'चउदसरज्जू लोगो', जिसका आशय है कि लोक चौदह राजू

है, किन्तु यह तो केवल उसकी ऊचाई का ही प्रमाण बतलाया है। अत यहा लोक का स्वरूप स्पष्ट करते है।

सभी प्रकार के पदार्थ—जड या चेतन, दृश्यमान या अदृश्यमान, सूक्ष्म या स्थूल, स्थावर या जगम आदि—जहा देखे जाते है अथवा जीव जहा अपने सुख दुख रूप पुण्य-पाप के फल का वेदन करते है, उसे लोक कहते है। इन पदार्थो मे होने वाली प्रत्येक क्रिया अथवा इन पदार्थो द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का आधार यह लोक ही है। ये सभी पदार्थ अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए भी अपने मूल गुण, धर्म, स्वभाव का परित्याग नही करते है। ऐसा कभी नही होता कि जड चेतन हो गया हो अथवा चेतन जड, मूर्त अमूर्त हो गया हो अथवा अमूर्त मूर्त। सभी पदार्थ अपने अस्तित्व और अभिव्यक्ति के स्वय कारण है और उनका अपना अपना कार्य है। इसीलिये इन सब दृष्टियो को ध्यान मे रखते हुए शास्त्रो मे लोक का स्वरूप बतलाया है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह द्रव्य जहा पाये जाते है उसे लोक कहते है। अर्थात् धर्म आदि षड् द्रव्यो का समूह लोक है। लोक का ऐसा कोई हिस्सा नही, जहा ये छह द्रव्य न पाये जाते हो।

धर्म आदि उक्त छह द्रव्यो मे से आकाश सर्वत्र व्यापक है, जबकि अन्य द्रव्य उसके व्याप्य हैं। अर्थात् आकाश धर्म आदि शेष पाच द्रव्यो के साथ भी रहता है और उनके सिवाय उनसे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है अर्थात् उसका अन्त नही है। अत आकाश के जितने भाग मे धर्मादि छह द्रव्य रहते है, उसे लोक कहते है और उसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक कहलाता है। यह लोक ध्रुव है, नित्य है, अक्षय, अव्यय एव अवस्थित है, न तो इसका कभी नाश होता है और न कभी नया उत्पन्न होता है।

लोक का स्वरूप समझने के पश्चात यह जिज्ञासा होती है कि इस लोक की स्थिति का आधार क्या है ? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी लोक के आधार को जानने के लिये प्रयास किया है, लेकिन ससीम ज्ञान के द्वारा इस असीम लोक की स्थिति का सम्यग् बोध होना सम्भव नही है। यन्त्रो के द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त विश्वसनीय एवं प्रमाणिक होती है। अत यहा सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित लोकस्थिति के आधार को बतलाते है। उन्होने लोक की स्थिति आठ प्रकार से प्रतिपादित की है—

(१) वात—तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, (२) उदधि—घनोदधि वात प्रतिष्ठित है, (३) पृथ्वी—उदधि प्रतिष्ठित है, (४) त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी प्रतिष्ठित है, (५) अजीव जीव प्रतिष्ठित है, (६) जीव कर्म प्रतिष्ठित है, (७) अजीव जीव से संगृहीत है, (८) जीव कर्म से संगृहीत है।[1]

उक्त कथन का साराश यह है कि त्रस, स्थावर आदि प्राणियो का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यानी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते है और पृथ्वी वायु के आधार पर तथा वायु आकाश के आधार पर टिकी हुई है।

पृथ्वी को वाताधारित कहने का स्पष्टीकरण यह है कि पृथ्वी का पाया घनोदधि पर आधारित है। घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान इसका रूप है। इसकी मोटाई नीचे मध्य मे बीस हजार योजन की है। घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है, यानी

---

१ भगवती १।६

घनोदधि घनवात से आवृत है और इसका रूप कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौडाई और परिधि असख्यात योजन की है। यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसकी लम्बाई चौडाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असख्यात योजन की है। इसका रूप तप हुए घी के समान समझना चाहिए।

तनुवात के नीचे असख्यात योजन प्रमाण आकाश है। इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए लकडी के पात्र हो, उसी प्रकार ये तीनो वातवलय भी एक दूसरे मे अवस्थित है। यानी घनोदधि छोटे पात्र जसा, घनवात मध्यम पात्र-जसा और तनुवात बडे पात्र जसा है और उनके बाद आकाश है। इन तीन पात्रो मे से जैसे सबसे छोटे पात्र मे कोई पदार्थ रखा जाय, वसे ही घनोदधिवलय के भीतर यह पृथ्वी अवस्थित है।

शास्त्र मे लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठ सस्थान' वाला कहा है। सुप्रतिष्ठ सस्थान के आकार का रूप इस प्रकार होता है कि—

जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह सुप्रतिष्ठ सस्थान कहलाता है और यही आकार लोक का है।

अनेक आचार्यों ने लोक का आकार विभिन्न रूपको द्वारा भी बतलाया है। जैसे कि लोक का आकार कटिप्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरो को पसार कर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसीलिए लोक को पुरुषाकार की उपमा दी है। कहीं-कहीं वेत्रासन पर रखे हुए मृदग के समान लोक का आकार बतलाया है, इसी प्रकार की और दूसरी वस्तुयें जो जमीन मे चौडी मध्य मे सकरी तथा ऊपर मे चौडी और फिर सकरी हो और एक दूसरे पर रखा जाने पर जसा उनका आकार बने, वह लोक का आकार बनेगा।

लोक के अध:, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग हैं और इन विभागों के होने का मध्यबिंदु मेरु पर्वत के मूल में है। इस मध्य लोक के बीचोंबीच मेरु पर्वत है, जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ९९००० योजन है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है। मेरु पर्वत के पाये के एक हजार में से नौ सौ योजन के नीचे जाने पर अधोलोक प्रारम्भ होता है और अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्यलोक है। अर्थात् नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर, कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के बाद ऊपर का सभी क्षेत्र ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इन तीनों लोकों में अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई, चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊंचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, क्योंकि मध्यलोक की ऊंचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लंबाई-चौड़ाई भी एक-सी नहीं है। अधोलोक की लंबाई-चौड़ाई सातवें नरक में सात राजू से कुछ कम है और पहला नरक एक राजू लंबा-चौड़ा है जो मध्यलोक की लंबाई-चौड़ाई के बराबर है। ऊर्ध्वलोक की लंबाई-चौड़ाई पांचवें देवलोक में पांच राजू और उसके बाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू लंबाई-चौड़ाई रहती है। यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के बराबर लंबा-चौड़ा है। लोक के आकार की जानकारी संलग्न चित्र में दी गई है।
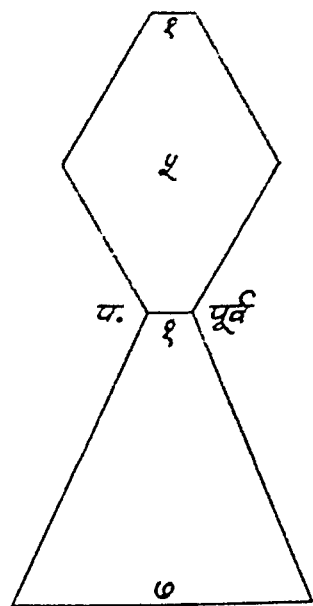
, लोक की उक्त लबाई-चौडाई आदि का साराश यह है कि नीचे जहा सातवा नरक है वहा सात राजू चौडा है और वहा से घटता घटता सात राजू ऊपर जाने पर जहा पहला नरक है, वहा एक राजू चौडाई है। उसके बाद क्रमश बढत बढते पाचवें देवलोक के पास चौडाई पाच राजू और उसके बाद क्रमश घटते घटते अतिम भाग मे एक राजू चाडाई है। सपूण लोक की लबाई चौदह राजू और अधिकतम चौडाई सात राजू तथा जघन्य चौडाई एक राजू है।

यह लोक त्रस और स्थावर जीवो स खचाखच भरा हुआ है। त्रस जीव तो त्रसनाडी मे ही रहते है लेकिन स्थावर जीव त्रस और स्थावर दोनो ही नाडियो मे रहते ह। लोक के ऊपर से नीचे तक चौदह राजू लबे और एक राजू चौडे ठीक बीच के आकाश प्रदेशो को त्रसनाडी कहते है और शेप लोक स्थावरनाडी कहलाता है।

इस चौदह राजू ऊँचे तथा अधिकतम सात राजू और न्यूनतम एक राजू लबे चौडे लोक की घनाकार कल्पना की जाय तो सात राजू ऊँचाई, सात राजू लंबाई और सात राजू चौडाई होगी। क्योकि समस्त लोक के एक एक राजू प्रमाण टुकडे किये जायें तो ३४३ टुकडे होते हैं। उनमे से अधोलोक के १८६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू है और इनका घनमल ७ होता है। अत घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है और घनराजू ३४३ होते हैं।

इसके समीकरण करने की रीति इस प्रकार है—अधोलाक के नीचे का विस्तार सात राजू है और दोना ओर मे घटत घटते सात राजू की ऊँचाई पर मध्य लोक के पास वह एक राजू शेप रहता है। इस अधो लोक के बीच मे से दो समान भाग करके यदि दोना भागो को उलटकर बराबर बराबर रखा जाये तो।उसका विस्तार नीचे की ओर

तथा ऊपर की ओर चार-चार राजू होना है किंतु ऊँचाई सर्वत्र सात राजू ही रहती है। जैसे—
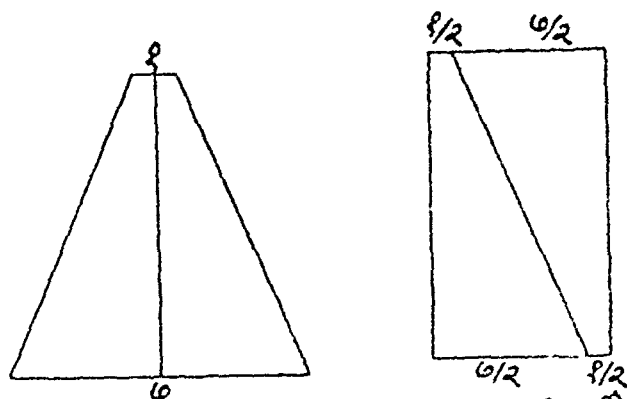
इस अधोलोक के बीच से दो खण्ड करके दोनो भागों को उलट कर रखने पर यह आकार होता है

अधोलोक का समीकरण करने के वाद अव ऊर्ध्वलोक का समीकरण करते है। ऊर्ध्वलोक मध्यभाग मे पूर्व पश्चिम ५ राजू चौड़ा है। उसमे से मध्य के तीन राजू क्षेत्र को ज्यो का त्यो छोडकर दोनो ओर से एक-एक राजू के चौडे और साढे तीन साढे तीन राजू के ऊंचे दो त्रिकोण खंड ले। उन दोनो खंडो को मध्य से विभक्त करने पर चार त्रिकोण खंड हो जाते है। जिनमे से प्रत्येक खंड की भुजा एक राजू और कोटि पौने दो राजू होती है। इन चारो खंडो को उलटा सीधा करके उनमें से दो खंड ऊर्ध्वलोक के अधोभाग मे दोनो ओर और दो खंड उसके ऊर्ध्वभाग के दोनो ओर मिला देना चाहिये। ऐसा करने पर ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई में तो अन्तर नही पड़ता किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजू हो जाता है। उक्त कथन का रूप इस प्रकार होगा—
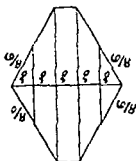
इस ऊर्ध्वलोक के मध्य के दोनो कोनो को अलग करके ऊपर और नीचे की ओर
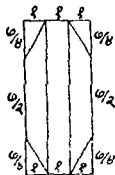
इस तरह मिलाओ

ऊर्ध्वलोक के उक्त नये आकार को अधोलोक के नये आकार के साथ मिला देने पर सात राजू चौडा, सात राजू ऊचा और सात राजू मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अत ऊँचाई, चौडाई और मोटाई तीनो सात सात राजू होने के कारण लोक सात राजू का घनरूप सिद्ध होता है। जो इस प्रकार है—

यद्यपि लोक वृत्त है और यह घन समचतुरस्र होता है। अत इसका वृत्त करने के लिये उसे १६ मे गुणा करके २२ से भाग देना चाहिये। तब वह कुछ कम सात राज लम्बा, चौडा, गोल सिद्ध होता है। लेकिन व्यवहार मे सात राजू का समचतुरस्रघन लोक समझना चाहिये।
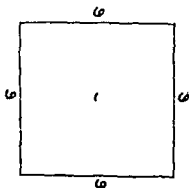
इस प्रकार से लोक का स्वरूप बतलाने के बाद अब श्रेणि और

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते है । सात राजू[1] लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि[2] कहते है । जहां कही भी श्रेणि के असंख्यातवें भाग का कथन किया जाये, वहा इसी श्रेणि को लेना चाहिये ।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते है अर्थात् श्रेणि मे जितने प्रदेश हैं, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है । समान दो संख्याओ का आपस मे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है । जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है । अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौडी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते है ।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर मे गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है । अर्थात् समान तीन संख्याओ का परस्पर गुणा करने पर घन होता है । जैसे ७×७×७=३४३, यह ७ का घन होता है ।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये ।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं धुवबंधा' आदि पहली गाथा मे उल्लिखित विषयो का वर्णन किया जा चुका है । अब उसी गाथा मे 'य' (च) शब्द से जिन उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अब उनका वर्णन करते हैं । सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है ।

---

१ त्रिलोकसार गाथा ७ मे राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवें भाग बतलाया है— 'जगसेढिसत्तभागो रज्जु ।' तथा द्रव्यलोकप्रकाश मे प्रमाणागुल से निष्पन्न असंख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू बतलाया है—प्रमाणांगुल-निष्पन्नयोजनानां प्रमाणत. । असंख्यकोटीकोटीभिरेकारज्जु प्रकीर्तिता ॥ सर्ग १।६४ ।

२ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टाना पंक्ति श्रेणि. ।

—सर्वार्थसिद्धि

वहा से गिरे तो दूसरे और उससे पहले गुणस्थान को भी प्राप्त करता है।

उपशमश्रेणि के दो भाग है—(१) उपशम भाव का सम्यक्त्व और (२) उपशम भाव का चारित्र। इनमें से चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के पहले उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवे गुणस्थान मे ही प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सातो प्रकृतियो को सातवे मे ही उपशमित किया जाता है, जिससे उपशमश्रेणि का प्रस्थापक अप्रमत्त संयत ही है। किन्ही-किन्ही आचार्यों का मंतव्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती कोई भी अनंतानुबंधी कपाय का उपशमन करता है और दर्शनत्रिक आदि को तो संयम मे वर्तने वाला अप्रमत्त ही उपशमित करता है। उसमे सबसे पहले अनंतानुबंधी कपाय को उपशान्त किया जाता है और दर्शनत्रिक का उपशमन तो संयमी ही करता है। इस अभिप्राय के अनुसार चौथे गुणस्थान से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अनंतानुबंधी कपाय के उपशमन का वर्णन इस प्रकार है कि चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक मे से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरण मे प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है। जिसके कारण शुभ प्रकृतियो मे अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियो मे अनुभाग की हानि होती है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रम नही होता है, क्योंकि यहा उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नही होते है। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तमुहूर्त है।

उक्त अन्तमुहूर्त काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इस करण मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और

अपूर्व स्थितिबध, ये पाचो कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय मे कर्मों की जो स्थिति होती है, स्थितिघात के द्वारा उसके अंतिम समय मे वह सख्यातगुणी कम कर दी जाती है। रसघात के द्वारा अशुभ प्रकृतियो का रस क्रमश क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणि रचना मे प्रकृतियो की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोडकर ऊपर की स्थिति वाले दलिको मे से प्रति समय कुछ दलिक ले लेकर उदयावली के ऊपर की स्थिति वाले दलिको मे उनका निक्षेप कर दिया जाता है। दलिको का निक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि पहले समय मे जो दलिक लिये जाते है, उनमे से सबसे कम दलिक प्रथम समय मे स्थापित किये जाते है, उससे असख्यातगुणे दलिक दूसरे समय मे, उससे असख्यातगुणे दलिक तीसरे समय मे स्थापित किये जाते है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय पर्यन्त असख्यातगुणे असख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयो मे भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है।

गुणश्रेणि की रचना का क्रम पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि पहले समय मे ग्रहण किये जाने वाले दलिक थोडे होते है और उसके बाद प्रत्येक समय मे उत्तरोत्तर असख्यातगुणे, असख्यातगुणे दलिको का ग्रहण किया जाता है तथा दलिको का निक्षेप अवशिष्ट समयो मे ही होता है, अन्तर्मुहूर्त काल से ऊपर समयो मे निक्षेप नही किया जाता है। इसी दृष्टि और क्रम को यहा भी समझना चाहिये कि पहले समय मे ग्रहीत दलिक अल्प हैं, अनन्तर दूसरे आदि समयो मे वे असख्यातगुणे हैं और उन सबकी रचना अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण समयो मे होती है। काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त से आगे नही बढता है।

गुणसक्रम के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय मे अनतानुबधी आदि अशुभ प्रकृतियो के थोडे दलिको का अन्य प्रकृतियों मे सक्रमण होता है

और उसके बाद प्रत्येक समय मे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियो मे संक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थितिबंध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमे भी प्रथम समय से ही स्थितिघात आदि अपूर्व स्थिति-बंध पर्यन्त पूर्वोक्त पाचो कार्य एक साथ होने लगते हे। इसका काल भी अन्तमुहूर्त प्रमाण है। उसमे से संख्यात भाग बीत जाने पर जब एक भाग शेप रहता है तब अनंतानुबंधी कपाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषेको को छोडकर शेप निषेको का भी पूर्व मे बताये मिथ्यात्व के अन्तरकरण की तरह इनका भी अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्त-मुहूर्त प्रमाण दलिको का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हे वहा से उठाकर बंधने वाली अन्य प्रकृतियो मे स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरण के प्रारंभ होने पर दूसरे समय मे अनन्तानुबन्धी कपाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिको का उपशम किया जाता है। यह उपशम पहले समय मे थोडे दलिको का होता है, दूसरे समय मे उससे असंख्यात-गुणे, तीसरे समय मे उससे असंख्यातगुणे दलिको का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तमुहूर्त काल तक क्रमश: असंख्यातगुणे, असंख्यात-गुणे दलिको का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इतने समयो मे संपूर्ण अनंतानुबंधी कपाय का उपशम हो जाता है और यह उपशम इतना सुदृढ होता है कि उदय, उदीरणा, निधत्ति आदि करणो के अयोग्य हो जाता है। यही अनंतानुबंधी कपाय का उपशम है।

किन्ही-किन्ही आचार्यो का मानना है कि अनंतानुबंधी कपाय का उपशम नही होता है किंतु विसंयोजन होता है। इस मत का उल्लेख कर्मप्रकृति (उपशमकरण) गा० ३१ मे किया गया है—

चउगइया पज्जत्ता तिन्निवि संयोयणा विजोयंति ।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ।

चौथे, पांचवें तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति के पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन करते हैं। किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता और न अनन्तानुबंधी का उपशम ही होता है।

अनंतानुबंधी का उपशम करने के बाद दर्शनमोहनीयत्रिक—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है। इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। किन्तु उपशम श्रेणि में यह प्रथमोशम सम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता लेकिन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है। क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का सम्पूर्णतया उपशम होता है। इसीलिये यहां दर्शनत्रिक का उपशमक वेदक सम्यग्दृष्टि को माना है।[1]

---

१ दर्शनमोह के उपशम के संबंध में कर्मप्रकृति का मन्तव्य इस प्रकार है—

अहवा दंसणमोहं पुव्वं उवसामइत्तु सामन्ने ।
पढमट्ठिइमावलियं करेइ दोण्हं अणुदियाणं ॥३३
अद्धापरिवित्ताओ पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा ।
करणाणि तिन्नि कुणए तइयविसेसे इमं कुणइ ॥३४

यदि वेदक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि करता है तो पहले नियम से [illegible] दर्शनमोहनीयत्रिक का उपशम करता है और इसकी विधि यह है कि [illegible] [illegible] [illegible] मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति को आवलिका प्रमाण और सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति को अंत

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार से अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनत्रिक का उपशमन करने के बाद चारित्रमोहनीय के उपशम का क्रम प्रारंभ होता है।

चारित्रमोहनीय का उपशम करने के लिये पुन यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। लेकिन इतना अंतर है कि सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है, अपूर्वकरण अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान मे तथा अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक नौवे गुणस्थान मे होता है। यहां भी स्थितिघात आदि कार्य होते है, किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते है, उनमे उसी प्रकृति का गुणसंक्रमण होता है जिसके संबन्ध मे वे परिणाम होते है। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान मे संपूर्ण अशुभ प्रकृतियो का गुणसंक्रम होता है।

अपूर्वकरण के काल मे से संख्यातवा भाग बीत जाने पर निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—का बंधविच्छेद होता है। उसके बाद और काल बीतने पर सुरद्विक, पंचेन्द्रियजाति आदि तीस प्रकृतियों का तथा अंतिम समय मे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बंधविच्छेद होता है।[1]

मुहूर्त प्रमाण करता है। उपशमन करके प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान मे हजारो बार आवागमन करके चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। तीसरे अनिवृत्तिकरण की विशेषता का कथन आगे की गाथाओ मे किया गया।

१ अपूर्वकरण गुणस्थान मे बधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतिया इस प्रकार है—

अडबन्न अपुव्वाइमि निद्ददुगतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवगा॥
समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहूचउ छलसि तीसतो।
चरमे छवीसबंधो हासरईकुच्छभयभेओ।

—द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० ९० १०

इमके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमे भी पूववत् स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के असख्यात भाग वीत जाने पर चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतिया का अन्तरकरण करता है। जिन कमप्रकृतिया का उम ममय बन्ध और उदय होता है उसके अन्तरकरण सबधी दलिको को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति मे क्षेपण करता है। जैसे कि पुरुपवेद के उदय से श्रेणि चढने वाला पुरुपवेद का। जिन कर्मों का उस समय केवल उदय ही होता है और बध नही होता है, उनके अतरकरण सबधी दलिका को प्रथम स्थिति मे ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति मे नही। जैसे कि स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढने वाला स्त्रीवेद का। जिन कर्मों का उदय नही होता किन्तु उस समय केवल बध ही होता है, उनके अन्तरकरण सम्बधी दलिका का द्वितीय स्थिति मे क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति मे नही। जैसे कि सज्वलन क्रोध के उदय से श्रेणि चढने वाला शेष सज्वलन कपाया का, किन्तु जिन कर्मो का न तो बध ही होता है और न उदय ही, उनके अतरकरण सबधी दलिका का अन्य प्रकृतिया मे क्षेपण करता है। जैसे कि द्वितीय और तृतीय कपाय का।

उक्त चतुर्भंगी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ जिन कर्मों का उस समय बध और उदय होता है, उनके दलिका को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति मे क्षेपण किया जाता है।

२ जिन कर्मों का उस समय उदय ही होता है, उनको प्रथम स्थिति मे ही क्षेपण किया जाता है।

३ जिन कर्मो का उस समय बध ही होता है उनके दलिको को द्वितीय स्थिति मे क्षेपण किया जाता है।

४ जिन कर्मो का न तो उदय और न बध ही होता है, उनके दलिका को अन्य प्रकृतिया मे क्षेपण किया जाता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त मे नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त मे स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होने से ही पुरुषवेद के बंध-उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र मे सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय मे हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते है और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय मे अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्याना-वरण और संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है और जब संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति मे एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आव-लिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका मे बद्ध दलिको को छोडकर शेष दलिक उपशान्त हो जाते है। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय में संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है। संज्वलन मान की प्रथमस्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिको का संज्वलन मान मे प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया आदि मे किया जाता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन मान के बंध,

उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय मे सज्वलन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका मे बाघे गये ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिका को छोडकर शेष दलिका का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका मे सज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय मे सज्वलन मान के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन माया की द्वितीय स्थिति मे दलिका को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनो माया का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। सज्वलन माया की प्रथम स्थिति मे समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिको का सज्वलन माया मे प्रक्षेप नही करता किन्तु सज्वलन लोभ मे प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय मे सज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिका मे बाघे गये ऊपर की स्थितिगत दलिका को छोडकर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका मे सज्वलन माया का उपशम करता है।

जब सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति मे दलिका को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमे से दो भाग

प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग मे पूर्व स्पर्धको मे से दलिको को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है अर्थात् पहले के स्पर्धको मे से दलिको को ले-लेकर उन्हे अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग मे पूर्वस्पर्धको ओर अपूर्वस्पर्धको से दलिको को लेकर अनन्त कृष्टि करता है अर्थात् उनमे अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हे अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अन्त समय मे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय मे संज्वलन लोभ के वंध का विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अंत हो जाता है।

इसके वाद दसवा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमे आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियो को लेकर सूक्ष्मसंपराय के काल के वरावर प्रथम स्थिति को करता है और एक समय कम दो आवलिका मे वंधे हुए शेप दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्मसंसराय के अंतिम समय मे संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय मे ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियो के वन्ध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय मे ग्यारहवा गुणस्थान उपशान्तकपाय हो जाता है और इस गुणस्थान मे मोहनीय की २८ प्रकृतियो का उपशम रहता है।[1]

---

१ लब्धिसार (दिगम्बर साहित्य) गा० २०५-३९१ मे उक्त वर्णन से मिलता जुलता उपशम का विधान किया गया है। किन्तु उसमे अनन्तानुवधी के उपशम का विधान न करके विसयोजन को माना है—

उवसमचरियाहिमुहा वेदगसम्मो अणं वियोजित्ता ॥ २०५

अर्थात् उपशम चारित्र के अभिमुख वेदक सम्यग्दृष्टि अनन्तानुवधी का विसंयोजन करके ....।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि ग्रथकार विसयोजन का ही पक्षपाती है।

यद्यपि उपशम श्रेणि मे मोहनीय कम की समस्त प्रकृतियो का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परन्तु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो वना ही रहता है। जसे कि गदले पानी मे फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले मे वठ जाती है और पानी निमल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्यो की त्यों वनी रहती है। वस ही उपशम श्रेणि मे जीव के भावो को कलुषित करने वाला प्रधान कम मोहनीय शात कर दिया जाता है। अपूवकरण आदि परिणाम जसे-जैसे ऊपर चढने जाते हैं वैसे वैसे मोहनीय कर्म की धूलि रूपी उत्तर प्रकृतिया के कण एक के वाद एक उत्तरोत्तर शात हो जाते हैं। इस प्रकार से उपशम को गई प्रकृतियो मे न तो स्थिति और अनुभागको कम किया जा सकता है और न वढाया जा सकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो सकती है और न उन्हे अन्य प्रकृति रूप ही किया जा सकता है।[1] किन्तु यह उपशम तो अन्तमुहूर्त काल के लिये किया जाता है। अत दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जव जीव ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँचता है तो कम-से कम एक समय और अधिक से-अधिक अन्तमुहूत के वाद उपशम हुई कपायें अपना उद्रेक कर वठती हैं। जिसका फल यह होता है कि उपशम श्रेणि का आरोहक जीव जिस क्रम से ऊपर चढा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है और उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। उपशात कपाय वाले जीव का पतन अवश्यभावी है। इसी वात को आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११८ में स्पष्ट किया है कि—

---

१ अन्यत्राप्युक्त—'उवसत कम्म ज न तओ कढेइ न दइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइ न चेव उक्कडढए त तु ॥
—पचम कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १०१

उवसामं उवणीया गुणमहया जिणचरित्तसरिसंपि ।
पडिवार्यति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थ ॥

गुणवान पुरुष के द्वारा उपशांत की गई कषायें जिन भगवान सरीखे चारित्र वाले व्यक्ति का भी पतन करा देती है, फिर अन्य सरागी पुरुषों का तो कहना ही क्या है ?

अत ज्यों-ज्यों नीचे उतरता जाता है, वैसे-वैसे चढते समय जिस-जिस गुणस्थान मे जिन-जिन प्रकृतियों का बंधविच्छेद किया था, उस-उस गुणस्थान मे आने पर वे प्रकृतिया पुनः बंधने लगती है ।

उतरते-उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थान मे ठहरता है और यदि वहा भी अपने को संभाल नही पाता है तो पाचवें और चौथे गुणस्थान मे पहुँचता है। यदि अनंतानुबंधी का उदय आ जाता है तो सासादन सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व मे पहुँच जाता है। और इस तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है ।

लेकिन यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि यदि पतनोन्मुखी उपशम श्रेणि का आरोहक छठे गुणस्थान मे आकर संभल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ सकता है। क्योंकि एक भव मे दो बार उपशम श्रेणि चढने का उल्लेख पाया जाता है।[2] परन्तु जो जीव दो बार

---

१ अद्धाखये पडतो अधापवत्तोत्ति पडदि हु कमेण ।
सुज्झतो आरोहदि पडदि हु सो संकिलिस्संतो ॥
—लब्धिसार गा० ३१०

जीव उपशम श्रेणि मे अधःकरण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है। यदि उसके बाद विशुद्ध परिणाम होते हैं तो पुन ऊपर के गुणस्थानो मे चढता है और संक्लेश परिणामो के होने पर नीचे के गुणस्थानो मे आता है ।

२ एकभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोह उवसमेज्जा । —कर्मप्रकृति गा० ६४
—पंचसंग्रह गा० ९३ (उपशम)

उपशमश्रेणि चढता ह, वह जीव उसी भव मे क्षपकश्रेणि का आरोहण नही कर सकता। जो एक वार उपशम श्रेणि चढता है वह काम ग्रथिक मतानुसार दूसरी वार क्षपक श्रेणि भी चढ सकता है।[1] सैद्धातिक मतानुसार तो एक भव मे एक जीव एक ही श्रेणि चढता है।[2]

इस प्रकार सामान्य रूप से उपशम श्रेणि का स्वरूप वतलाया गया है। अव तत्सवधी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

गाथा मे उपशमश्रेणि के आरोहण क्रम पुरुपवेद के उदय से श्रेणि चढने वाले जीव की अपेक्षा से वतलाया गया है। यदि स्त्रीवेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढता है तो वह पहले नपुसक वेद का उपशम करता है और फिर क्रम से पुरुपवेद, हास्यादि पटक और स्त्रीवेद का उपशम करता है। यदि नपुसक वेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढता है तो वह पहले स्त्रोवेद का उपशम करता है, उसके वाद क्रमश पुरुपवेद, हास्यादि पट्क का और नपुसक वेद का उपशम करता है। साराश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि चढता है उस वेद का उपशम सवसे पीछे करता है। इसी वात को विशेपावश्यक भाष्य गा० १२८८ मे वताया है कि—

---

१ उक्त च सप्ततिकाचूर्णी—जो दुव वारे उवसमसेढि पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि। जा इक्कसि उवसमसेढि पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्ज त्ति।

—पचम कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टी०, पृ० १३२

२ तम्मि भव निव्वाण न लभइ उक्कोसओ व ससार।
पोग्गलपरियट्टद्ध देसूण कोइ हिडज्जा॥

—विशेपावश्यक भाष्य १३१५

उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नही जा सकता और कोई कोई तो अधिक स अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावत काल तक ससार म परिभ्रमण करते हैं।

तत्तो य दसणतिग तओऽणुइण्णं जहन्नयरवेय ।
ततो वीय छक्क तओ य वेय सयमुदिन्नं ॥

अर्थात् अनन्तानुवंधी की उपशमना के पश्चात् दर्शनत्रिक का उपशम करता है, उसके वाद अनुदीर्ण दो वेदो में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है। उसके वाद दूसरे वेद का उपशम करता है। उसके वाद हास्यादि पट्क का उपशम करता है और तत्पश्चात जिस वेद का उदय होता है, उसका उपशम करता है।

कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० ६५ मे इस क्रम को इस प्रकार वतलाया है कि—

उदय वज्जिय इत्थी इत्थि समयइ अवेयगा सत्त ।
तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समग कमारद्धे ॥

यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढती है तो पहले नपुसकवेद का उपशम करती है, उसके वाद चरम समय मात्र उदय स्थिति को छोडकर स्त्रीवेद के शेप सभी दलिको का उपशम करती है। उसके वाद अवेदक होने पर पुरुपवेद आदि सात प्रकृतियो का उपशम करती है। यदि नपुसक उपशम श्रेणि पर चढता है तो एक उदय स्थिति को छोडकर शेष नपुसक वेद का तथा स्त्रीवेद का एक साथ उपशम करता है। उसके वाद अवेदक होने पर पुरुपवेद आदि सात प्रकृतियो का उपशम करता है।[1]

उपशम श्रेणि का आरंभक सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव है और अनंतानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का उपशम करने पर सातवा गुणस्थान होता है। क्योकि इनके उदय होते हुए सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति नही हो सकती है।

---

१ लब्धिसार मे भी कर्मप्रकृति के अनुरूप ही विधान किया गया है। देखो गाथा ३६१, ३६२।

उपशम श्रेणि म भी अनन्तानुबन्धी आदि का उपशम किया जाता है। अत ऐसी दशा मे पुन उपशम श्रेणि मे उनका उपशम बतलाने का कारण यह हे कि वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियो के क्षयोपशम से होती है। अत उपशम श्रेणि का प्रारभ करने से पहले उक्त प्रकृतिया का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम। इसीलिये उपशम श्रेणि मे अनन्तानुबधी आदि के उपशम को बतलाया है।

उपशम और क्षयोपशम मे अन्तर

इसी प्रसग मे उपशम और क्षयोपशम का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये। क्याकि क्षयोपशम उदय मे आये हुए कर्मदलिका के क्षय और सत्ता मे विद्यमान कर्मो के उपशम से होता है। परन्तु क्षयोपशम की इतनी विशेषता है कि उसमे घातक कमो का प्रदेशोदय रहता है और उपशम मे किसी भी तरह का उदय नही होता है अर्थात् न तो प्रदेशोदय और न रसोदय। क्षयोपशम मे प्रदेशोदय होने पर भी सम्यक्त्व आदि का घात न होने का कारण यह है कि उदय दो प्रकार का है—फलोदय और प्रदेशोदय। लेकिन फलोदय होने से गुण का घात होता है और प्रदेशोदय के अत्यन्त मद होने से गुण का घात नही होता है। इसीलिये उपशम श्रेणि मे अनन्तानुबधी आदि का फलोदय और प्रदेशोदय रूप दोना प्रकार का उपशम माना जाता है।

उपशम श्रेणि का प्रारम्भक माने जाने के सम्बन्ध मे मतान्तर भी है। कई आचार्यो का कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्त विरत और अप्रमत्तविरत मे से कोई एक उपशम श्रेणि चढता है और कोई सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को आरम्भक मानते ह।

इस मतभिन्नता का कारण यह है कि जो आचार्य दर्शनमोहनीय के उपशम से अर्थात् द्वितीय उपशमसम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशम

श्रेणि का प्रारम्भ मानते है वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवो को उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते है। क्योकि उपशम सम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानो मे ही प्राप्त किया जाता है। लेकिन जो आचार्य चारित्रमोहनीय के उपशम से यानी उपशम चारित्र की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्नो से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ मानते है, वे सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव को ही उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते है, क्योंकि सातवें गुणस्थान मे ही यथाप्रवृत्तकरण होता है।[1]

उपशम श्रेणि के आरोहण का क्रम अगले पृष्ठ ३८७ पर देखिये।

इस प्रकार से उपशम श्रेणि का स्वरूप जानना चाहिये। अनन्तर अव क्रमप्राप्त क्षपक श्रेणि का वर्णन करते है।

क्षपक श्रेणि

अणमिच्छमीससम्म तिआउ इगविगलथीणतिगुज्जोवं।
तिरिनिरयथावरदुग साहारायवअडनपुत्थीए ॥९९॥
छगपुंसंजलणादोनिद्दविग्घवरणक्खए नाणी।

शब्दार्थ—**अण**—अनतानुबधी कषाय, **मिच्छ**—मिथ्यात्व मोहनीय, **मीस**—मिश्र मोहनीय, **सम्मं**—सम्यक्त्व मोहनीय, **तिआउ**—तीन आयु, **इगविगल**—एकेन्द्रिय, विकेलेन्द्रिय, **थीणतिग**—स्त्यानर्द्धित्रिक, **उज्जोवं**—उद्योत नाम, **तिरिनिरयथावरदुग**—तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, **साहारायव**—साधारण नाम, आतप नाम, **अड**—आठ कषाय, **नपुत्थीए**—नपुसक वेद और स्त्री-वेद।

छग—हास्यादि षट्क, **पु**—पुरुष वेद, **संजलणा**—सज्वलन कषाय, **दोनिद्द**—दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), **विग्घवरणक्खए**—

---

[1] दिगम्बर सम्प्रदाय मे दूसरे मत को ही स्वीकार किया है।

उपशमन

सज्वलन लोभ २८

अप्रत्याख्यानावरण लोभ २६	प्रत्याख्यानावरण लोभ २७

सज्वलन माया २५

अप्रत्याख्याना० माया २३	प्रत्याख्याना० माया २४

सज्वलन मान २२

अप्रत्याख्याना० मान २०	प्रत्याख्याना० मान २१

सज्वलन क्रोध १९

अप्रत्याख्याना० क्रोध १७	प्रत्याख्याना० क्रोध १८

पुरुष वेद १६

हास्यादि षटक १५

स्त्रीवेद ९

नपुंसक वेद ८

मिथ्यात्व ५ मिश्र ६ सम्यक्त्व मोह० ७

अनन्तानुबंधी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४

पाच अंतराय, पाच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण के क्षय होने पर, नाणी—केवलज्ञानी।

गाथार्थ—(क्षपक श्रेणि वाला) अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योत नाम, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुंसक वेद, स्त्री-वेद तथा—

हास्यादि षट्क, पुरुष वेद, संज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पांच अतराय,पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, इन प्रकृतियो का क्षय करके जीव केवलज्ञानी होता है।

विशेषार्थ—क्षपक श्रेणि का आरोहक जिन प्रकृतियो को क्षय करता है, उनके नाम गाथा मे बतलाये है। उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि मे यह अन्तर है कि इन दोनो श्रेणियो के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते है लेकिन उपशम श्रेणि मे तो प्रकृतियो के उदय को शात किया जाता है, प्रकृतियो की सत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिये अपना फल नही दे सकती है, किन्तु क्षपक श्रेणि मे उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय होने का भय नही रहता है। इसी कारण क्षपक श्रेणि मे पतन नही होता है। उक्त कथन का साराश यह है कि उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि दोनो का केन्द्रबिन्दु मोहनीय कर्म है और उपशम श्रेणि मे मोहनीय कर्म का उपशम होने से पुनः उदय हो जाता है। जिससे पतन होने पर की गई पारिणामिक शुद्धि व्यर्थ हो जाती है। किन्तु क्षपक श्रेणि मे मोहनीय कर्म का समूल क्षय होने से पुन: उदय नही होता है और उदय न होने से पारिणामिक शुद्धि पूर्ण

होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और केवल ज्ञानी हो जाती है।

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि मे दूसरा अन्तर यह है कि उपशम श्रेणि मे सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतिया का ही उपशम होता है लेकिन क्षपक श्रेणि म मोहनीय कर्म की प्रकृतियो के साथ नामकर्म की कुछ प्रकृतिया व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय कर्म की प्रकृतियो का भी क्षय होता है।

क्षपक श्रेणि मे प्रकृतियो के क्षय का क्रम इस प्रकार है—

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम सहनन का धारक, चौथे, पाचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारभ करता है।[1] सबसे पहले वह अनतानुबधी कषाय चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनतवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अश का एक साथ नाश करता है। उसके बाद इस प्रकार क्रमश सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।[2]

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी

---

१ पडिवत्तीए अविरयदसपमत्तापमत्तविरयाण।
अन्नयरा पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३२१

दिगम्बर सप्रदाय मे उपशम श्रेणि के आरोहण की तरह क्षपक श्रेणि के आरोहक को सप्तम गुणस्थानवर्ती माना है। क्योकि चारित्र मोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी है।

२ पढमकसाए समय खवेइ अतोमुहुत्तमत्तेण।
तत्तो च्चिय मिच्छत्त तओ य मीस तओ सम्म॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३२२

रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खण्ड कर-करके खपाता है। जब उसके अंतिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल मे यदि कोई जीव मरता है तो वह चारो गतियो मे से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।[1]

यदि क्षपक श्रेणि का प्रारंभ बद्धायु जीव करता है और अनंतानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण हो तो उस अवस्था मे मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुन अनंतानुबंधी का बंध करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय मे अनंतानुबंधी नियम से बंधती है,[2] किन्तु

---

१ लब्धिसार (दिगम्बर ग्रन्थ) मे दर्शनमोहनीय की क्षपणा के बारे मे लिखा है—

> दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
> तित्थयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥
> णिट्ठवगो तट्ठाणे विमाणभोगावणीसु धम्मे य।
> किदकरणिज्जो चदुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥१११॥

कर्मभूमिज मनुष्य तीर्थंकर, केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है। अधःकरण के प्रथम समय से लेकर जब तक मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय का द्रव्य सम्यक्त्व प्रकृति रूप संक्रमण करता है तब तक के अन्तर्मुहूर्त काल को दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भिक काल कहा जाता है और उस प्रारम्भ काल के अनन्तर समय से लेकर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले समय तक का काल निष्ठापक कहलाता है। निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया था वहा ही अथवा वैमानिक देवो मे अथवा भोगभूमि मे अथवा धर्मा नाम के प्रथम नरक मे होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरण करके चारो गतियो मे उत्पन्न हो सकता है।

२ बद्धाउ पडिवन्नो पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥

— विशेषावश्यक भाष्य १३२३

मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर पुन अनतानुबधी का बध नही होता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नही करता है तो अनतानुबधी कषाय और दशनमोह का क्षपण करने के बाद वह वही ठहर जाता है, चारित्रमोहनीय के क्षपण करने का प्रयत्न नही करता है। यदि अवद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। अत अवद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त करने वाले मनुष्य के तीन आयु—देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु का अभाव तो स्वत ही हो जाता है तथा पूर्वोक्त क्रम से अनतानुबधी चतुष्क और दशनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानो मे कर देता है।

इस प्रकार दशनमोहसप्तक का क्षय करने के पश्चात चारित्र-मोहनीय का क्षय करने के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणो को करता है। अपूर्वकरण म स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्याना वरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतिया का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग बीत जाने पर—स्त्यान द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तियचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक ये चार जातिया, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण, इन सोलह प्रकृतियो की स्थिति उद्वलना सक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है और उसके बाद गुणसक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियो म उनका प्रक्षेप करके उन्हे निर्मूल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्या ख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारभ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वे क्षीण नही होती हैं कि अतराल

मे पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियो का क्षपण किया जाता है और उनके क्षय के पश्चात आठ कषायो का भी अन्तर्मुहूर्त मे ही क्षय कर देता है।[1]

उसके पश्चात नौ नोकषाय और चार संज्वलन कषायो मे अन्तरकरण करता है। फिर क्रमश नपुसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायो का क्षपण करता है और उसके बाद पुरुषवेद के तीन खड करके दो खण्डो का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलन क्रोध मे मिला देता है।

उक्त क्रम पुरुषवेद के उदय मे श्रेणि चढने वाले के लिये बताया है। यदि स्त्री श्रेणि पर आरोहण करती है तो पहले नपुसकवेद का क्षपण करती है, उसके बाद क्रमश. पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्रीवेद का क्षपण करती है यदि नपुसक श्रेणि आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेद का क्षपण करता है, उसके बाद क्रमश पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुसक वेद का क्षपण करता है।[2] साराश यह है कि

---

१ किसी-किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियो के ही क्षय का प्रारम्भ करता है और उनके मध्य मे आठ कषायो का क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियो का क्षय करता है। गो० कर्मकाड मे इस सम्बन्ध मे मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

णत्थि अण उवसमगे खवगापुव्व खवित्तु अट्ठा य।
पच्छा सोलादीण खवण इदि केइ णिद्दिट्ठ ॥३९१॥

उपशम श्रेणी मे अनतानुबधी का सत्व नही होता और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायो का क्षपण करके पश्चात् सोलह आदि प्रकृतियो का क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं।

२ इत्थीउदए नपुंस इत्थीवेय च सत्तग च कमा।
अपुमोदयमि जुगव नपुसइत्थी पुणो सत्त ॥

—पंचसंग्रह ३४६

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जिस वेद के उदय से श्रेणि आरोहण करता है, उसका क्षपण अंत में होता है।

वेद के क्षपण के बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। यानी संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खंडों का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खंड को संज्वलन मान में मिला देता है। इसी प्रकार मान के तीसरे खंड को माया में मिलाता है और माया के तीसरे खण्ड को लोभ में मिलाता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तमुहूर्त है और श्रेणि काल अन्तमुहूर्त है किन्तु वह अन्तमुहूर्त बड़ा है।

संज्वलन लोभ के तीन खंड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके चरम खंड के सिवाय शेष खंडों को भिन्न भिन्न समय में खपाता है और फिर उस चरम खंड के भी असंख्यात खंड करके उन्हें दसवें गुणस्थान में भिन्न भिन्न समय में खपता है। इस प्रकार लोभ कषाय का पूरी तरह क्षय होने पर अनन्तर समय में क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान के काल के संख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय के सिवाय शेष कर्मों में स्थितिघात आदि पूर्ववत् होते हैं। उसमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अन्तराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला) इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीणकषाय के काल के बराबर करता है किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय

स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर पहले नपुंसक वेद का क्षय होता है फिर स्त्रीवेद का और फिर पुरुषवेद व हास्यादि षटक का क्षय होता है। नपुंसक वेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर नपुंसक वेद और स्त्री वेद का एक साथ क्षय होता है उसके बाद पुरुषवेद और हास्यषटक का क्षय होता है।

गो० कर्मकांड गा० ३८८ में भी यही क्रम बताया है।

कम करता है। इनकी स्थिति के वरावर होते ही इनमे स्थितिघात वगैरह कार्य वन्द हो जाते है और शेप प्रकृतियो के होते रहते है। क्षीण-कपाय के उपान्त समय मे निद्राद्विक का क्षय करता है और शेप चौदह प्रकृतियो का अन्तिम समय मे क्षय करता है और उसके अनन्तर समय मे वह सयोगकेवली हो जाता है।

यह सयोगकेवली अवस्था जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल मे भव्य जीवो के प्रतिवोधार्थ देशना, विहार आदि करते है। यदि उनके वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है तो उनके समीकरण के लिये यानी आयुकर्म की स्थिति के वरावर वेदनीय आदि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति को करने के लिये समुद्घात करते है, जिसे केवलीसमुद्घात कहते है और उसके पश्चात योग का निरोध करने के लिये उपक्रम करते है। यदि आयुकर्म के वरावर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नही करते है।

योग के निरोध का उपक्रम इस प्रकार है कि सवसे पहले वादर काययोग के द्वारा वादर मनोयोग को रोकते है, उसके पश्चात वादर वचनयोग को रोकते है और उसके पश्चात सूक्ष्मकाय के द्वारा वादर काययोग को रोकते है, उसके वाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते है। इस प्रकार वादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और वादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते है। उस ध्यान मे स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगि अवस्था के अंतिम समय पर्यन्त आयुकर्म के सिवाय शेप कर्मों का अपवर्तन करते है। ऐसा करने से अन्तिम समय मे सव कर्मों की स्थिति अयोगि अवस्था के काल के वरावर हो जाती है। यहां इतना विशेष समझना चाहिये

कि अयोगि अवस्था में जिन कर्मों का उदय नहीं होता है, उनकी स्थिति एक समय कम होती है।

सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में साता या असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगकेवली हो जाते हैं।

इस अयोगकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते हैं। यहां स्थितिघात आदि नहीं होता है, अतः जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते हैं, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक संक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियों में संक्रम करके अयोगि अवस्था के उपान्त समय तक वेदन करते हैं और उपान्त समय में ७२ का और अंत समय में १३ प्रकृतियों का क्षय करके निराकार, निरंजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[1]

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि का स्वरूप समझना चाहिये। उसका दिग्दर्शन विवरण यह है—

---

[1] क्षपक श्रेणि का विस्तृत विवरण परिशिष्ट में संलग्न।

परिशिष्ट

१ पचम कमग्रन्थ की मूल गाथायें
२ कर्मों की बध, उदय, सत्ता प्रकृतिया की सख्या मे भिन्नता का कारण
३ मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियो मे भूयस्कार आदि बध
४ कम प्रकृतिया का जघन्य स्थितिबध
५ आयुकम के अबाधाकाल का स्पष्टीकरण
६ योगस्थानो का विवेचन
७ ग्रहण किये गये कर्मस्कधो को कम प्रकृतियो मे विभाजित करने की रीति
८ उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गलद्रव्य के वितरण तथा हीनाधिकता का विवेचन
९ पल्या को भरने मे लिए जाने वाले बालाग्रा के बारे मे अनुयोग द्वार सूत्र आदि का कथन
१० दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का वणन
११ दिगम्बर ग्रन्था मे पुद्गल परावर्तो का वर्णन
१२ उत्कृष्ट और जघन्य प्रदशबध के स्वामिया का गो० कर्मकाड मे आगत वणन
१३ गुणश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१४ क्षपक श्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१५ पंचम कमग्रन्थ की गाथाआ की अकाराद्यनुक्रमणिका

परिशिष्ट—१

पचम कमग्र थ की मूल गाथायें

नामय जिण धुवबंधोदयसत्ताधाइपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा वुच्छ बंधविह सामी य ॥१॥

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहु निमणोवधाय भयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा विग्घ धुवबंधि सगचता ॥२॥

तणुवगागिइसघयण जाइगइखगइपुव्विजिणुसाम ।
उज्जोयायवपरघा तसवीसा गोय वेयणिय ॥३॥

हासाइजुयलदुगवेय आउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भगा अणाइमाई अणतसतुत्तरा चउरो ॥४॥

पटमविया धुवउदइसु धुवबंधिसु तइअवज्जभगतिग ।
मिच्छम्मि तिन्नि भगा दुहावि अधुवा तुरिअभगा ॥५॥

निमिण थिर अथिरअगुरुय सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणतराय दसण मिच्छ धुवउदय सगवीसा ॥६॥

थिर-सुभियर विणु अधुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
निद्दोवघाय मीस सम्म पणनवइ अधुवुदया ॥७॥

तसवन्नवीस सगतेय-कम्म धुवबंधि सेस वेयतिग ।
आगिइतिग वेयणिय दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥८॥

खइगतिरिदुग नीय धुवसता सम्म मीस मणुयदुग ।
विउविक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसता ॥९॥

पढमतिगुणेसु मिच्छ नियमा अजयाइअट्ठगे भज्ज ।
सासाणे खलु सम्म सत मिच्छाइदसगे वा ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं मीस मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ।।१२।।

केवलजुयलावरणा पणनिद्दा वारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाइ चउणाणतिदंसणावरणा ।।१३।।

संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ।।१४।।

सुरनरतिगुच्च सायं तसदस तणुवंगवइरचउरंसं ।
परघासग तिरिआऊं वन्नचउ पणिदि सुभखगइ ।।१५।।

वायालपुन्नपगई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगल निरयतिग ।।१६।।

थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय वासीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ।।१७।।

नामधुववंधिनवगं दंसण पणनाणविग्घ परघायं ।
भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ।।१८।।

तणुअट्ठ वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाउ परित्ता खित्तविवागाऽणुपुव्वीओ ।।१९।।

घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ।।२०।।

नामधुवोदय चउतणु वघायसाहारणियर जोयतिगं ।
पुग्गलविवागि वंधो पयइठिइरसपएसत्ति ।।२१।।

मूलपयडीण अट्ठसत्तछेगवंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ।।२२।।

एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ।।२३।।

नव छ चउ दंसे दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ।।२४।।

तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबंधा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२५॥

वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसियर चउसु उदही निरयसुराउम्मि तित्तीसा ॥२६॥

मुत्तुं अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए।
अट्ठट्ठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्त तो ॥२७॥

विग्घावरणअसाए तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे दस दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥२८॥

चालीस कसाएसु मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया ते हालिद्दविलाइण ॥२९॥

दस सुहविहगइउच्चे सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
मिच्छे सत्तरि मणुदुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥३०॥

भयकुच्छअरइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनीए।
तेयपण अथिरछक्के तसचउथावरइगपणिंदी ॥३१॥

नपुकुखगइसासचउगुरुकक्खडरुक्खसीयदुग्गंधे।
वीसं कोडाकोडी एवइयाबाह वाससया ॥३२॥

गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा।
लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥

इगविगलपुव्वकोडिं पलियासंखंस आउ चउ अमणा।
निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥

लहुठिइबंधो संजलणलोहपणविग्घनाणदंसेसु।
भिन्नमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥

दो इगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि।
सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ जं लद्धं ॥३६॥

अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासंखंसहीण लहुबंधो।
कमसो पणवीसाए पन्नासयसहससंगुणिओ ॥३७॥

विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभवं ।।३८।।

सव्वाणवि लहुवंधे भिन्नमुहू अवाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू विंति आहारं ।।३९।।

सत्तरससमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा ।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ।।४०।।

पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा ।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ।।४१।।

अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छद्दिट्ठी वंधइ जिट्ठठिई सेसपयडीणं ।।४२।।

विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिन्दिथावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ।।४३।।

तिरिउरलदुगुज्जोय छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्ठि संजलण पुरिस लहुं ।।४४।।

सायजसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नीवि आउ वायरपज्जेगिंदिउ सेसाणं ।।४५।।

उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ।।४६।।

चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीणं ।।४७।।

साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो ।
वंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसन्निमि ।।४८।।

जइलहुवंधो वायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो ।
एसि अपज्जाण लहू सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ।।४९।।

लहु विय पज्जअपज्जे अपजेयर विय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो वियअमणपज्जे ।।५०।।

तो जइजिट्ठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्सियरो ।
सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥५१॥

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साइसंकिलेसेण ।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥५२॥

सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥

अपजत्त तसुक्कोसो पज्जजहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥

तिरिनरयतिजोयाण नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

अपढमसंघयणागिइखगइ अणमिच्छदुभगथीणतिग ।
निय नपु इत्थि दुतीस पणिदिसु अबंधठिइ परमा ॥५७॥

विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठ ।
पणसीइ सययबंधो पल्लतिग सुरविउव्विदुगे ॥५८॥

समयादसंखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहू ।
उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुव्वकोडूणा ॥५९॥

जलहिसय पणसीय परघुस्सासे पणिदितसचउगे ।
बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरसे ॥६०॥

असुरखगइजाइआगिइ संघयणाहारनरयजोयदुग ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसाय ॥६१॥

समयादंतमुहुत्त मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
तित्तीसयरा परमा अंतमुहू लहू वि आउजिणे ॥६२॥

निव्वा असुहमुहाण संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहि ॥६३॥

चउठाणाई असुहा सुहन्नहा विग्घदेसघाइआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥

निवुच्छरसो सहजो दुतिचउभाग कड्ढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

तिव्वमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिगं ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥६६॥

विउव्विसुराहारदुग सुखगइ वन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदस पणिदिसासुच्च खवगाउ ॥६७॥

तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइर ।
अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा ॰उ सेसाणं ॥६८॥

थीणतिगं अणमिच्छ मंदरस संजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥

अपमाइ हारगदुग दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ ।
वेगुव्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुगं ॥७१॥

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरयविणिगथावरयं ।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुग पणिदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुत्थीसुभगियरति मिच्छा चउगइगा ॥७३॥

चउतेयवन्नवेयणिय नामणुक्कोस सेसधुववधी ।
घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

सेसंमि दुहा इगदुगणुगाइ जा अभवणतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥७५॥

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो ऊणूणंगुलअसखंसो ॥७६॥

इक्किक्कहिया सिद्धाणतसा अतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणतसाहिया जिट्ठा ॥७७॥

अतिमचउफासदुगधपचवन्नरसकम्मखधदल ।
सव्वजियणतगुणरसमणुजुत्तमणतयपएस ॥७८॥

एगपएसोगाढ नियसव्वपएसउ गहेइ जिऊ ।
थेवा आउ तदसो नामे गोए समो अहिउ ॥७९॥

विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवइ ठिईविसेसेण सेसाण ॥८०॥

नियजाइलद्धदलियाणतमो होइ सव्वघाईण ।
बज्झतीण विभज्जइ सेस सेसाण पइसमय ॥८१॥

सम्मदरसव्वविरई अणविसजोयदसखवगे य ।
मोहसमसतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥८२॥

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो असखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥

पलियासखसमुहू सासणइयरगुण अतर हस्स ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी इयरगुणे पुग्गलद्ध तो ॥८४॥

उद्धारअद्धखित्त पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाण ॥८५॥

दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥८६॥

उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥८७॥

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जह तह कममरणेण पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

अप्पयरपयडिबधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय तस्स वच्चासे ॥८९॥

मिच्छ अजयचउ आऊ वितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा वितिकसाए ॥९०॥

पण अनियट्टी सुखगइ नराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरंसमसाय वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥९१॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुग सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥९२॥

सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥९३॥

दंसणछगभयकुच्छावितितुरियकपाय विग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥९४॥

सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥९५॥

तत्तो कम्मपएसा अणतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयिडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥९६॥

चउदसरज्जू लोगो वुद्धिकओ सत्तरज्जुमाणघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥९७॥

अणदंसनपुसित्थीवेयछक्क च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥९८॥

अणमिच्छमीससम्मं तिआउ इगविगलथीणतिगुज्जोवं ।
तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअडनपुत्थीए ॥९९॥

छगपुसंजलणादोनिद्दविग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥१००॥

परिशिष्ट—२

कर्मों की बध उदय, सत्ता प्रकृतियो की सख्या मे भिन्नता का कारण

नानावरण आदि मूल कर्मों की बधयोग्य १२० उदययोग्य १२२ तथा सत्तायोग्य १५८ या १४८ प्रकृतिया है। अर्थात बधयोग्य की अपेक्षा उदययोग्य २ और उदययोग्य की अपेक्षा सत्तायोग्य ३६ या २६ प्रकृतिया अधिक हैं। यहाँ इस भिन्नता के कारण को स्पष्ट करते हैं।

सामान्यतया कर्म प्रकृतियो के बध उदय और सत्ता के सबध म यह नियम है कि जितनी कर्म प्रकृतियो का बध होता है बध होने के पश्चात उतनी ही प्रकृतिया की सत्ता और उदय काल मे उतनी ही प्रकृतियो का उदय होना है। बिना बध के उदय और सत्ता म सख्या अधिक होना भी नही चाहिए। लेकिन इस सामान्य नियम का अपवाद होने से उदय और सत्ता म कम प्रकृतिया की सख्या अधिक मानी जाती है।

बध की अपेक्षा उदय प्रकृतियो म दो की अधिकता का कारण यह है कि दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय। इनम से केवल मिथ्यात्व मोहनीय का बध होता है और शेष दो प्रकृतियाँ बिना बध के उदय मे आती हैं और सत्ता म रहती है। इसका कारण यह है कि जसे कि राख और औषधि विशेष के द्वारा मादक कोदा (धान्य विशेष) को शुद्ध किया जाता है वसे ही मादक कोदा जसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का औषधि समान सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध करके तीन भागो म विभाजित कर दिया जाता है १ - शुद्ध २ अर्धशुद्ध और ३ अशुद्ध। इनम अत्यन्त शुद्ध किये हुए जो कि सम्यक्त्व स्वरूप को प्राप्त हुए हैं अर्थात सम्यक्त्व प्राप्ति म विघातक नही होते हैं, ऐसे पुदगल शुद्ध कहलाते हैं और उनका सम्यक्त्व मोहनीय यह नाम व्यवहार किया जाता है और जो अल्प शुद्धि को प्राप्त हुए हैं वे अर्धविशुद्ध और उनको मिश्र मोहनीय कहते हैं और

जो किंचिन्मात्र भी शुद्धि को प्राप्त नही हुए है परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय रूप ही रहते हैं, वे अशुद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय सम्यक्त्व गुण द्वारा सत्ता मे ही शुद्ध हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल होने से उनका बध नही होता है किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का ही बध होता है, जिससे बध के विचार-प्रसग मे सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के बिना मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियां मानी जाती है।

इसी प्रकार पाँच बन्धन, पाँच सघातन का अपने-अपने शरीर के अन्तर्गत ग्रहण करने से और वर्णादिक के वीस भेदो का वर्णचतुष्क मे ग्रहण होने से उनकी सोलह प्रकृतियो के बिना नामकर्म की सरसठ प्रकृतियाँ बध मे ग्रहण की जाती है और शेष कर्मों की प्रकृतियो मे न्यूनाधिकता नही होने से सम्पूर्ण प्रकृतियो का योग करने पर बध मे एक सौ वीस उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। उदय के विचार के प्रसग मे सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का भी उदय होने से उनकी वृद्धि करने पर एक सौ बाईस उत्तर प्रकृति[illegible] [illegible]नी जाती हैं।

यद्यपि बध और उदय का जब विचार किया जाता है तब बधन और सघातन नामकर्म के पाँच-पाँच भेदो की उन-उन शरीरो के अन्तर्गत विवक्षा कर ली जाती है। किन्तु पाँचो बन्धनो और [illegible]ाँचो सघातनो का बध है और उदय भी है अपने अपने नाम वाले शरीर ना[illegible]कर्म के साथ, इसीलिये उनकी बध और उदय मे अलग से विवक्षा नही की है किन्तु सत्ता मे अलग-अलग बताये हैं और बताना ही चाहिए। क्योकि यदि सत्ता मे उनको न बताया जाये तो मूल वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। बन्धन और सघातन नामक कोई कर्म ही नही रहेगे।

पाँच बन्धन और पांच सघातन नामकर्मो की शरीर नामकर्म के पाँच भेदो मे इस प्रकार विवक्षा की जाती है—औदारिकबधन और औदारिक सघातन की औदारिक शरीर के अन्तर्गत, वैक्रियबन्धन और वैक्रिय सघातन की वैक्रिय शरीर के अन्तर्गत, आहारकबन्धन और आहारक सघातन की आहारक शरीर के अन्तर्गत, तैजसबन्धन और तैजस संघातन की तैजस शरीर के अन्तर्गत और कार्मणबन्धन व कार्मण

संघातन को कार्मण शरीर के अंतर्गत। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नामकर्म के अनुक्रम से पांच, दो, पांच और आठ उत्तर भेद होते हैं। उनकी बंध और उदय में विवक्षा नहीं की है परन्तु सामान्य से वर्णादि चार ही मान हैं क्योंकि इन बीस का साथ ही बंध और उदय होता है एक भी प्रकृति पहले या बाद में बंध या उदय में से कम नहीं होती है। इसीलिये बंध और उदय में वर्णादि चतुष्क को माना है।

इस प्रकार बंध और उदय में अविवक्षित पांच बंधन पांच संघातन और वर्णादि सोलह प्रकृतियों का सत्ता में ग्रहण होने से कुल मिलाकर एकसौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियां सत्ता में मानी जाती हैं और जब बंधन नामकर्म के पांच की बजाय पन्द्रह भेद करते हैं तो सत्ता में एकसौ अट्ठावन प्रकृतियां समझना चाहिये।

संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा बंध उदय और सत्ता में प्रकृतियों की भिन्नता मानी जाती है।

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंध

कर्मग्रन्थ में मोहनीयकर्म के दस बंधस्थान तथा उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध माने हैं। लेकिन गो० कर्मकांड में बीस भुजाकार ग्यारह अल्पतर तैंतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध बतलाये हैं जो निम्नलिखित गाथा में स्पष्ट किये हैं—

> दस वीसं एक्कारस तेत्तीसं मोहबंधठाणाणि।
> भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि य सामण्णे ॥४६८

मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों में बीस भुजाकार (भूयस्कार) ग्यारह अल्पतर, तैंतीस अवस्थित और दो अवक्तव्यबंध सामान्य से होते हैं।

कर्मग्रन्थ और कर्मकांड के इस विवेचन में अंतर पड़ने का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में भूयस्कार आदि बंधों का विचार केवल गुणस्थानों से उतरने और चढ़ने की अपेक्षा से किया गया है किन्तु कर्मकांड में उक्त दृष्टि के साथ साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि गुणस्थान आरोहण के समय जीव किस गुणस्थान से किस किस गुणस्थान में जा सकता है और अवरोहण के

समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान मे आ सकता है तथा मरण की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि बंध गिनाये है।

कर्मग्रन्थ मे एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बंध बतलाकर दस बंधस्थानो मे नौ भूयस्कार बंध बतलाये हैं, लेकिन कर्मकाड मे उनके सिवाय ग्यारह भूयस्कार और भी बतलाये हैं। वे इस प्रकार है—मरण की अपेक्षा से जीव एक को बाधकर सत्रह का, तीन को बाधकर सत्रह का, चार को बाध कर सत्रह का और पाच को बाध कर सत्रह का बंध करता है। अत ये पाच भूयस्कार तो मरण की अपेक्षा से होते हैं तथा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान म नौ प्रकृतियो का बन्ध करके कोई जीव पाचवें गुणस्थान मे आकर तेरह का बंध करता है, कोई जीव चौथे गुणस्थान मे आकर सत्रह का बंध करता है और कोई जीव दूसरे गुणस्थान मे आकर इक्कीस का बंध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थान मे आकर बाईस का बंध करता है। क्योंकि छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान से च्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अत नौ के चार भूयस्कार बंध होते है। इसी प्रकार पाचवें गुणस्थान मे तेरह का बंध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है, अत तेरह के तीन भूयस्कार बंध होते है। सत्रह को बाधकर इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है, अत सत्रह के दो भूयस्कार होते हैं। इस प्रकार नौ के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कार बंध होते है।

लेकिन कर्मग्रन्थ मे प्रत्येक बंधस्थान का एक-एक, इस प्रकार तीन ही भूयस्कार बतलाये हैं। अत शेष छह रह जाते है तथा मरण की अपेक्षा से पाँच भूयस्कार पहले बतला चुके है। इस प्रकार गो० कर्मकाड मे ५+६=११ भूयस्कार अधिक बतलाये हैं।

कर्मग्रन्थ मे अल्पतर बंध आठ बतलाये है किन्तु कर्मकाड मे उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है। वे इस प्रकार है—कर्मग्रन्थ मे बाईस को बाधकर सत्रह का बंध रूप केवल एक ही अल्पतर बंध बतलाया है लेकिन पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान के सिवाय सभी गुणस्थानो मे जा सकता है। अतः बाईस को बाधकर सत्रह, तेरह और नौ का बंध कर सकने के कारण बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के तीन अल्पतर होते है तथा सत्रह का

बध करके तरह और नौ का बध कर सकने के कारण सत्रह के बधस्थान के दो अल्पतर बध होते हैं। इस प्रकार बाईस के तीन और सत्रह के दो अल्पतर बधो मे से कर्मग्रन्थ मे केवल एक एक ही अल्पतर बध बतलाया है। अत शेष तीन रहते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकाड मे अधिक है।

भूयस्कार अल्पतर और अवक्तव्य बध के द्वितीय समय मे भी यदि उतनी ही प्रकृतियो का बध होता है जितनी प्रकृतियो का बध पहले समय मे हुआ था तो उसे अवस्थित बध कहते हैं। अत कर्मकाड मे भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बधो की सख्या के बराबर ही अवस्थित बधो की सख्या बतलाई है। यदि दूसरे समय मे होने वाले बध के ऊपर से भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवक्तव्य पदो को अलग करके उनकी वास्तविक स्थिति को देखें तो मूल अवस्थित बध उतने ही ठहर सकते हैं जितने बधस्थान होते हैं। जैसे किसी जीव ने इक्कीस का बध करके प्रथम समय मे बाईस का बध किया और दूसरे समय मे भी बाईस का ही बध किया तो यहा प्रथम समय का बध भूयस्कार बध है और दूसरे समय का अवस्थित। जिस प्रकार भूयस्कार आदि बधो का निरूपण है यदि उसी प्रकार अवस्थित बध का निरूपण किया जाय तो बाईस का बध करके बाईस का बध करना इक्कीस का बध करके इक्कीस का बध करना, सत्रह का बध करके सत्रह का बध करना आदि अवस्थित बध ही है। इसका सारांश यह है कि मूल अवस्थित बध उतने ही होते हैं जितने कि बधस्थान होते हैं इसीलिए कर्मग्रन्थ मे दस ही अवस्थित बध मोहनीय कर्म के बतलाये हैं। किंतु भूयस्कार अल्पतर और अवक्तव्य बध के द्वितीय समय मे प्राय अवस्थित बध होता है अत इन उपपन्न पूर्वक होने वाले अवस्थित बध भी उतने ही होते है जितने कि तीनो बधो के होते हैं। इसी से कर्मकाड मे उक्त तीनो प्रकार के बधों के बराबर ही अवस्थित बध का परिमाण बतलाया है। अवक्तव्य बध कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकाड मे समान है।

गो० कर्मकाड मे विशेषरूप से भी भूयस्कार आदि को गिनाया है जिनकी सख्या निम्न प्रकार है—

> सत्तावीसाहियसय पण्दाल पचहत्तरिहियसय।
> भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणिवि विसेसेण ॥४७१

विशेषपने से अर्थात् भंगो की अपेक्षा से एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते है, पैंतालीस अल्पतर होते है और एकसौ पचहत्तर अवक्तव्य बंध होते हैं।

एक ही बंधस्थान मे प्रकृतियो के परिवर्तन से जो विकल्प होते हैं, उन्हे भंग कहते हैं। जैसे बाईस प्रकृतिक बंधस्थानो मे तीन वेदो मे से एक वेद का और हास्य-रति और शोक-अरति के युगलो मे से एक युगल का बंध होता है। अत उसके ३×२=६ भंग होते हैं। अर्थात् बाईस प्रकृतिक बंधस्थान को कोई जीव हास्य, रति और पुरुषवेद के साथ बाधता है, कोई शोक, अरति और पुरुषवेद के साथ बाधता है। कोई हास्य, रति और स्त्रीवेद के साथ बाधता है, कोई शोक, अरति और स्त्रीवेद के साथ बाधता है। इसी तरह नपुंसक वेद के लिये भी समझना चाहिये। इस प्रकार बाईस प्रकृतिक बंधस्थान भिन्न-भिन्न जीवो के छह प्रकार से होता है। इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान मे चार भंग होते है, क्योकि उसमे एक जीव के एक समय मे दो वेदो मे से किसी एक वेद का और दो युगलो म से किसी एक युगल का बंध होता है। इसका साराश यह है कि अपने-अपने बंधस्थान मे संभवित वेदो को और युगलो को परस्पर मे गुणा करने पर अपने-अपने बंधस्थान के भंग होते हैं। उन भंगस्थानो की संख्या इस प्रकार है—

> छव्वावीसे चदु इगिवीसे दो द्दो हवंति छट्ठो ति।
> एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥४६७

मोहनीय कर्म के बंधस्थानो मे से बाईस के छह, इक्कीस के चार, इसके आगे प्रमत्त गुणस्थान तक संभवित बंधस्थानो के दो-दो और उसके आगे संभवित बंधस्थानो के एक-एक भंग होते हैं। इन भंगो की अपेक्षा से एकसौ सत्ताईस भुजाकार निम्न प्रकार हैं—

> णभ चउवीसं बारस वीसं चउरट्ठवीस दो द्दो य।
> थूले पणगादीणं तियतिय मिच्छादिभुजगारा ॥४७२

पहले गुणस्थान मे एक भी भुजाकार बंध नही होता है क्योकि बाईस प्रकृतिक बंधस्थान से अधिक प्रकृतियो वाला कोई बंधस्थान ही नही है, जिसके बाधने से यहाँ भुजाकार बंध संभव हो। दूसरे गुणस्थान मे चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योकि इक्कीस को बाधकर बाईस का बंध करने पर इक्कीस के चार

भगो को और बाईस के छह भगो को परस्पर गुणा करने पर ४ × ६ = २४ भुजाकार होते हैं। तीसरे गुणस्थान म बारह भजाकार होते हैं। क्योकि सत्रह को बाधकर बाईस का बध करने पर २ × ६ = १२ भग होते हैं। चौथे म बीस भुजाकार होते हैं, क्योकि सत्रह का बध करके इक्कीस का बध होने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बध होने पर २ × ६ = १२, इस प्रकार १२ + ८ = २० भग होते है। पाचवें गुणस्थान म चौबीस भुजाकार होते हैं क्योकि तेरह का बध करके सत्रह का बध होने पर २ × २ = ४ इक्कीस का बध होने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बध होने पर २ × ६ = १२ इस प्रकार ४ + ८ + १२ = २४ भग होते हैं। छठे म अट्ठाईस भुजाकार होते हैं क्योकि नौ का बध करके तेरह का बध करने पर २ × २ = ४, सत्रह का बध करने पर २ × २ = ४, इक्कीस का बध करने पर २ × ४ = ८ और बाईस का बध करने पर २ × ६ = १२ इस प्रकार ४ + ४ + ८ + १२ = २८ भग होते है। सातवें म दो भुजाकार होते है क्योकि सातवें म एक भग सहित नौ का बध करके मरण होने पर दो भग सहित सत्रह का बध होता है। आठवें गुणस्थान मे भी सातवें के समान ही दो भुजाकार होते हैं। नौवें गुणस्थान मे पाच, चार आदि पाच बधस्थानो मे से प्रत्येक के तीन तीन भुजाकार होते हैं, जो एक एक गिरने की अपेक्षा से और दो-दो मरने की अपेक्षा से। इस प्रकार एकसौ सत्ताईस भुजाकार बध होते हैं।

पतालीस अल्पतर बध इस प्रकार हैं—

> अप्पदरा पुण तीस णभ णभ छद्दोण्णि दोण्णि णभ एक्क।
> थूले पणगादीण एक्केक्क अतिमे सुण्ण ॥ ४७३

पहले गुणस्थान मे तीस अल्पतर बध होते हैं, उसके आगे दूसरे गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य, शून्य, ६ २, २ शून्य १ प्रकृति रूप अल्पतर बध हैं। नौवें गुणस्थान म पाच आदि प्रकृति रूप का एक, एक ही अल्पतर बध होता है किन्तु अत के पाचवे भाग म शून्य अर्थात अल्पतर बध नही होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान म तीस अल्पतर बध होते हैं क्योकि बाइस को बाधकर सत्रह का बध करनेपर ६ × २ = १२, तेरह का बध करने पर ६ × २

=१२ और नौ का बध करने पर ६ × १=६, इस प्रकार १२+१२+६=३० भग होते है। दूसरे गुणस्थान मे एक भी अल्पतर बंध नही होता है, क्योंकि दूसरे के बाद पहला ही गुणस्थान होता है और उस अवस्था मे इक्कीस का बध करके बाईस का बध करता है जो कि भुजाकार बध है। तीसरे गुणस्थान मे भी कोई अल्पतर नही होता है, क्योकि तीसरे से पहले गुणस्थान मे आने पर भुजाकार बध होता है और चौथे मे जाने पर अवस्थित बध होता है। क्योकि तीसरे मे भी सत्रह का बधस्थान है और चौथे मे भी सत्रह का बध होता है। चौथे मे छह अल्पतर होते है, क्योकि सत्रह का बध करके तेरह का बध करने पर २ × २=४ और नौ का बध करने पर २ × १=२, इस प्रकार ४+२=६ अल्पतर बध होते है। पाचवें गुणस्थान मे तेरह का बध करके सातवें मे जाने पर नौ का बध करता है अत वहाँ २ × १=२ अल्पतर बध होते हैं। छठे गुणस्थान मे भी दो अल्पतर होते है, क्योकि छठे मे नीचे के गुणस्थानो मे आने पर तो भुजाकार बध ही होता है किन्तु ऊपर सातवें मे जाने पर दो अल्प-तर बध होते हैं। यद्यपि छठे और सातवें गुणस्थान मे नौ-नौ प्रकृतियो का ही बध होता है किन्तु छठे के नौ प्रकृतियो वाले बधस्थान मे दो भग होते हैं, क्यो यहाँ दोनो युगल का बध सभव है और सातवें के नौ प्रकृतिक बधस्थान का एक ही भग होता है, क्योकि वहाँ एक ही युगल का बध होता है। जिससे प्रकृतियो की सख्या बराबर होने पर भी भगो की न्यूनाधिकता के कारण २×१=२ अल्पतर बध माने गये हैं। सातवे गुणस्थान मे एक भी अल्पतर बध नही होता है, क्योकि जब जीव सातवें से आठवें गुणस्थान मे जाता है तो वहाँ भी नौ प्रकृतियो का ही बध करता है, कम का नही करता है। आठवें मे नौ का बध करके नौवे गुणस्थान मे पाच का बध करने पर १×१=१ ही अल्पतर बध होता है। नौवें गुणस्थान मे पाच का बध करके चार का बध करने पर एक, चार का बध करके तीन का बध करने पर एक, तीन का बंध करके दो का बध करने पर एक और दो का बध करके एक का बध करने पर एक, इस प्रकार चार अल्पतर बध होते है। इस प्रकार पैतालीस अल्पतर बध समझना चाहिए। अवक्तव्य बध इस प्रकार हैं—

भेदेण अवत्तव्वा ओदरमाणम्मि एक्कयं मरणे।
दो चेव होंति एत्थवि तिण्णेव अवट्ठिदा भंगा ॥ ४७४

मग की विवक्षा के विशेष मे अवक्तव्य वध सूक्ष्मसपराय गुणस्थान से उतरने म एक होता है। अर्थात दसवें गुणस्थान म उतर कर जब नौवें गुणस्थान म एक प्रकृति का वध करता है तब एक अवक्तव्य होता है और दसवें म मरण करके देवगति म जन्म लेकर जब सत्रह का वध करता है तब दो अवक्तव्य बध होते हैं। इस प्रकार तीन अवक्तव्य वध जानना चाहिए। अर्थात दसवें मे उतर के जब नौवें म आता है तब सज्वलन लाभ का वध करता है अत एक अवक्तव्य वध हुआ तथा उसी दसवें म मरण कर देव असयत हुआ तब दो अवक्तव्य बध होते हैं क्योकि देव होकर १७ प्रकृतियो को दो प्रकार से बाधता है। इस तरह तीन अवक्तव्य वध हुए।

१२७ भुजाकार ४५ अल्पतर और ३ अवक्तव्य वध मिलकर १७५ होते हैं और इतने ही अवस्थित वध हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के सामान्य व विशेष रूप से भुजाकार आदि वध समझना चाहिए।

कर्मप्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध

कर्मग्रन्थ म नामोल्लेखपूर्वक बताई गई कर्म प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध के बारे म कर्मप्रकृति, गो० कर्मकाड और कर्मग्रन्थ के मतव्य म समानता है। शेष पचासी प्रकृतियों के सम्बन्ध म कुछ विचारणीय यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

गो० कर्मकाड म उसके बारे म लिखा है कि—

सेसाण पज्जत्तो बादरएइदियो विसुद्धो य।
बधदि सव्वजहण्ण सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥१४३

शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थितियो को बादर पर्याप्त विशुद्ध परिणाम वाला एकेन्द्रिय जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग म बाधता है।

इस गाथा म जिस प्रतिभाग का उल्लेख किया है उसको गाथा १४५ म स्पष्ट किया है। एकेन्द्रियादिक जीवो की अपेक्षा से उक्त प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के लिए अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति म मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने म प्राप्त लब्ध एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमे पल्य का असख्यातवा भाग न्यून करने से जघन्य स्थिति होती है। अत जघन्य स्थितिबध का एकेन्द्रिय जीव म करने से शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबध कर्मकाड म अलग से नहीं बतलाया है।

कर्मप्रकृति मे शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बतलाने के लिए वर्ग बना कर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने का पहले सकेत किया गया है और एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से प्रकृतियो की स्थिति का परिमाण बतलाते हुए आगे लिखा है—

एसेगिंदियडहरे सव्वासि ऊणसंजुओ जेट्ठो ।

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध मे से पल्य के असख्यातवें भाग को कम करने मे जो अपनी-अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए। कम किये गये पल्य के असख्यातवें भाग को उस जघन्य स्थिति मे जोड़ने पर उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण होता है।

कर्मग्रन्थ मे पचासी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का विवेचन पचसग्रह और कर्मप्रकृति दोनो के अभिप्रायानुसार किया है। इन दोनो विवेचनो मे यह अतर है कि पचसग्रह मे तो अपनी-अपनी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर जघन्य स्थिति बतलाई है और कर्मप्रकृति मे अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर और उसके लब्ध मे से पल्य का असख्यातवा भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है।

गो० कर्मकाड प्रकृतियो की स्थिति मे भाग देने तक तो पचसंग्रह के मत से सहमत है लेकिन आगे वह कर्मप्रकृति के मत से सहमत हो जाता है। पचसग्रह का मत है कि प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह तो एकेन्द्रिय की अपेक्षा से जघन्य स्थिति होती है और उसमे पल्य का असंख्यातवा भाग जोडने से उसकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है। लेकिन गो० कर्मकाड और कर्मप्रकृति के मतानुसार मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उत्कृष्ट स्थिति होती है और उसमे पल्य का असख्यातवा भाग कम देने पर जघन्य स्थिति होती है। पच-सग्रह मे तो अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग नही दिया जाता है किन्तु अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर प्राप्त लब्ध जघन्य स्थिति का परिमाण है।

नारक की आयु का बंध करे। इस प्रकार अबाधा के विषय में आयुकर्म की यह चौभंगी है। इस तरह अबाधा अनिश्चित होने से आयु के साथ इसे जोड़ा नहीं है तथा अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मों के स्थानों को अपने बंध के द्वारा पुष्ट करते हैं और यदि उनका उदय हो तो उसी जाति के बंधे हुए नये कर्मों की सभी आवलिका जाने के बाद उदीरणा द्वारा उसका उदय भी होता है, लेकिन आयुकर्म के बारे में यह नियम नहीं है। बंधने वाली आयु भोगी जाने वाली आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नहीं करती है तथा मनुष्य आयु को भोगते हुए यदि स्वजातीय मनुष्य आयु का बंध करे तो वह बंधी हुई आयु अन्य मनुष्य जन्म में जाकर ही भोगी जाती है। यहाँ उसके किसी दलिक का उदय या उदीरणा नहीं होने से भी आयु के साथ अबाधा काल नहीं जोड़ा है।

योगस्थानों का विवेचन

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकांड गा० २१८ से २४२ तक योगस्थानों का विवेचन स्वरूप, संख्या तथा स्वामी की अपेक्षा से किया गया है। उसका उपयोगी अंश यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

गो० कर्मकांड में योगस्थान के तीन भेद किये हैं और इन तीन भेदों के भी १४ जीवसमासों की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद हैं तथा ये १४ भेद भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-तीन प्रकार के हैं। उनमें से सामान्य की अपेक्षा १४ भेद, सामान्य और जघन्य की अपेक्षा २८ भेद तथा सामान्य-जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा ४२ भेद होते हैं। कुल मिलाकर ये ८४ भेद हैं। जिनके नाम आदि इस प्रकार हैं—

> जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयंतवड्ढिपरिणामा।
> भेदा एक्केक्कंपि चोद्दसभेदा पुणो तिविहा ॥२१८

उपपाद योगस्थान, एकांतवृद्धि योगस्थान और परिणाम योगस्थान, इस प्रकार योगस्थान तीन प्रकार के हैं और ये तीनों भेद भी जीवसमास की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद वाले हैं तथा उनके भी तीन-तीन भेद होते हैं।

विग्रहगति में जो योग होता है उसे उपपाद योगस्थान कहते हैं। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक जो योगस्थान होता है उसे एकांतानुवृद्धि और शरीर

पर्याप्ति के पूण हाने के समय से लेकर आयु के अ त तक होन वाल याग को परिणाम योगस्थान कहते हैं। परिणाम यागस्थान उत्कृष्ट भी होत हैं और जघ य भी। लब्ध्यपर्याप्तक के भी अपनी स्थिति क सब भदो म दाना परिणाम योगस्थान सम्भव हैं। सो य सब परिणाम योगस्थान घाटमान योग समझना। क्योंकि ये घटते भी हैं, बढते भी हैं और जस के तैस भी रहते हैं।

उपपाद योगस्थान और एका तानुवद्धि योगस्थानो क प्रवतन का काल जघ य और उत्कृष्ट एक समय ही है। क्याकि उपपादस्थान ज म क प्रथम समय म ही होता है और एकातानुवद्धि स्थान भी समय समय प्रतिवद्धि रूप जुदा-जुदा ही होता है और इन दोनो स भिन्न जो परिणाम योगस्थान हैं उनके निर तर प्रवतन का काल दो समय से लकर आठ समय तक है। आठ समय निर तर प्रवतन वाले योगस्थान सवसे थोडे हैं और सात को आदि लेकर चार समय तक प्रवतने वाले ऊपर नीचे के दोनो जगह स्थान असख्यात गुणे हैं किन्तु तीन समय और दो समय तक प्रवतन वाले योगस्थान एक जगह—ऊपर की ओर ही रहते हैं और उनका प्रमाण क्रम से असख्यात असख्यात गुणा है।

सब योगस्थान जगत श्रेणि क असख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनम एक एक स्थान के १ अविभाग प्रतिच्छेद २ वग, ३ वगणा, ४ स्पद्धक ५ गुण हानि, ये पाच भद होत हैं।

जिसका दूसरा भाग न हो एसे शक्ति क अश को अविभाग प्रतिच्छेद कहत हैं। अविभाग प्रतिच्छेद का समूह वग वग का समूह वगणा, वगणा का समूह स्पद्धक और स्पद्धक का समूह गुणहानि कहलाता है और गुणहानि क समूह को स्थान कहते हैं।

एक योगस्थान म गुणहानि की सख्याए पल्य क असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और एक गुणहानि म स्पद्धक जगतश्रेणि क असख्यातवें भाग प्रमाण हैं। एक एक स्पद्धक म वगणाओ की सख्या जगच्छ्रेणि क असख्यातवें भाग प्रमाण है और एक-एक वगणा म असख्यात जगत्प्रतर प्रमाण वग है और एक एक वग म असख्यात लोकप्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।

एक योगस्थान मे सब स्पर्द्धको, सब वर्गणाओ की संख्या और असख्यात प्रदेशो मे गुणहानि का आयाम (काल) का प्रमाण सामान्य से जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र है। क्योकि असख्यात के बहुत भेद हैं। एक योगस्थान मे अविभाग प्रतिच्छेद असख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

ऊपर जो योगस्थान कहे है, उनमे चौदह जीवसमासो के जघन्य और उत्कृप्ट की अपेक्षा तथा उपपादादिक तीन प्रकार के योगो की अपेक्षा चौरासी स्थानो मे अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

सुहुमगलद्धिजहण्ण तिण्णिव्वत्तीजहण्णयं तत्तो।
लद्धिअपुण्णुक्कस्सं वादरलद्धिस्स अवरमदो॥ २३३

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान सबसे थोडा है, उसमे सूक्ष्म निगोदिया निर्वृत्यपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान पल्य के असख्यातवें भाग गुणा है, उससे अधिक सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान और उससे भी अधिक वादर लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य उपपादयोगस्थान जानना चाहिये।

णिव्वत्तिसुहुमजेट्ठं वादरणिव्वत्तियस्स अवरं तु।
वादरलद्धिस्स वरं वीइंदियलद्धिगजहण्णं॥ २३४

फिर उससे अधिक सूक्ष्म निर्वृत्यपर्याप्तक जीव का उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान है। उससे अधिक वादर निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है, उससे वादर लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान अधिक है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है।

वादरणिव्वत्तिवरं णिव्वत्तिविइंदियस्स अवरमदो।
एव वितिवितितिचतिच चउविमणो होदि चउविमणो॥ २३५

उसके वाद उससे भी अधिक वादर एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान और इसी तरह द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट तथा त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य उपपाद स्थान, द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, त्रीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य, त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट,

चतुरिन्द्रिय लब्धि अपर्याप्तक का जघन्य त्रीन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, चतुरिन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का जघन्य चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट असनी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य, चतुरिन्द्रिय निवृत्य पर्याप्तक का उत्कृष्ट और असज्ञी पचेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का जघन्य उपपाद योगस्थान क्रम क्रम से अधिक अधिक जानना।

तह य असण्णीसण्णी असण्णिसण्णिस्स सण्णिउववाद।
सुहुमेइ वियलद्धिगअवर एयतवड्ढिस्स ॥ २३६

इसी प्रकार उससे अधिक असज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थान और सनी लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान उससे अधिक असनी निवृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट और सनी निवृत्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान उससे सनी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असख्यातवें भाग गुणा है और उससे अधिक गुणा सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य एकाता नुवद्धि योगस्थान जानना चाहिये।

सण्णिस्सुववादवर णिव्वत्तिगवस्स सुहुमजीवस्स।
एयतवड्ढिअवर लद्धिदरे थूलथूले य ॥ २३७

उससे अधिक सनी पचेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपाद योग स्थान उससे अधिक सूक्ष्म एकेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का जघन्य एकातानुवृद्धि योगस्थान है, उससे अधिक बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का और बादर (स्थूल) एकेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का जघन्य एकान्तानुवृद्धि योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग कर गुणा है।

तह सुहुमसुहुमजेट्ठ तो बायरबादरे वर होदि।
अतरमवर लद्धिगसुहुमिदरवरपि परिणामे ॥ २३८

इसी प्रकार उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और सूक्ष्म एकेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक इन दोनो के उत्कृष्ट योगस्थान क्रम से अधिक हैं। उससे अधिक बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और बादर एकेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक इन दोनो के उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योगस्थान हैं, उसके बाद अतर है। अर्थात बादर एकेन्द्रिय निवृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट एकातानुवृद्धि योगस्थान और सूक्ष्म

एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य परिणाम योगस्थान, इन दोनो के बीच मे जगत्श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थानो का पहला अतर है। इस अतर के स्थानो का कोई स्वामी नही है। क्योकि ये स्थान किसी जीव के नही होते हैं, इसी कारण यह अतर पड जाता है। इन स्थानो को छोडकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक इन दोनो के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम-योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग कर गुणे जानना चाहिये।

अंतरमुवरीयि पुणो तप्पुण्णाण च उवरि अतरिय।
एयतवड्ढिठाणा तसपणलद्धिस्स अवरवरा॥ २३९

इसके ऊपर दूसरा अतर है। अर्थात् बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान के आगे जगत्श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान स्वामीरहित है। इनको छोडकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तको के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग से गुणे हैं। फिर इस बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान के आगे तीसरा अतर है। उसको छोडकर पाँच त्रसो के अर्थात् द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक आदि पाच के जघन्य और उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योगस्थान क्रम से पल्य के असख्यातवें भाग से गुणे है।

लद्धीणिव्वत्तीणं परिणामेयतवड्ढिठाणाओ।
परिणामट्ठाणाओ अन्तरअन्तरिय उवरुवरिं॥ २४०

इसके आगे चौथा अन्तर है। इसके बाद लब्धि-अपर्याप्तक और निर्वृत्ति अपर्याप्तक पाँच त्रसजीवो के परिणामयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योगस्थान और परिणामयोगस्थान तथा इनके ऊपर बीच-बीच मे अन्तर सहित स्थान हैं। ये तीनो स्थान उत्कृष्ट और जघन्य पने को लिये हुए पहली रीति से क्रम पूर्वक पल्य के असख्यातवें भाग से गुणित जानना।

इस तरह ८४ स्थान योगो के है। इन स्थानो मे अविभाग प्रतिच्छेद एक के बाद दूसरे मे आगे-आगे पल्य के असख्यातवें भाग गुणे है।

कर्मग्रन्थ मे योग के उपपाद योगस्थान आदि तीन भेद नही किये है, इसीलिये जघन्य और उत्कृष्ट, इन दो भेदो को लेकर जीवस्थानो के २८ भेद

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, इन तीन घातिया कर्मों का भाग आपस मे समान है लेकिन नाम, गोत्र के भाग मे अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। जहा जितने कर्मों का वध हो वहा उतने ही कर्मों मे विभाग कर लेना चाहिये। विभाग करने की रीति यह है—

वहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि।
उत्तकमो तत्थवि वहुभागो वहुगस्स देओ दु ॥ १६५

वहुभाग के समान भाग करके आठो कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिए। शेप एक भाग मे पुन वहुभाग करना चाहिए और वह वहुभाग वहुत हिस्से वाले कर्म को देना चाहिए।

इस रीति के अनुसार एक समय मे जितने पुदगल द्रव्य का वध होता है, उसमे आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखना चाहिए और वहुभाग के आठ समान भाग करके आठो कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखकर वहुभाग वेदनीय कर्म को देना चाहिए, क्योंकि सबसे अधिक भाग का स्वामी वही है। शेष भाग मे पुनः आवली के असख्यातवें भाग मे भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर वहुभाग मोहनीय कर्म को उसकी स्थिति अधिक होने से देना चाहिए। शेप एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को जुदा रख वहुभाग के तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय कर्म को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग मे पुन आवली के असख्यातवे भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख वहुभाग के दो समान भाग करके नाम और गोत्र कर्म को एक, एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग आयुकर्म को देना चाहिए। इस प्रकार पहले वटवारे मे और दूसरे वटवारे मे प्राप्त अपने-अपने द्रव्य का सकलन करने से अपने-अपने भाग का परिमाण आता है। यानी ग्रहण किये हुए द्रव्य मे से उतने परमाणु उस उस कर्म रूप होते है।

पूर्वोक्त कथन को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि एक समय मे जितने पुद्गल द्रव्य का वध होता है, उसका परिमाण २५६०० है और आवली के

असंख्यातवें भाग का प्रमाण ४ है। अत २५६०० को ४ से भाग देने पर लब्ध ६४०० आता है, यह एक भाग है। इस प्रकार एक भाग को २५६०० म से घटाने पर १९२०० बहुभाग आता है। इस बहुभाग के आठ समान भाग करने पर एक एक भाग का प्रमाण २४००, २४०० होता है अत प्रत्येक कर्म के हिस्से म २४०० २४०० प्रमाण द्रव्य आता है। शेष एक भाग ६४०० को ४ स भाग देने पर लब्ध १६०० आता है। इस १६०० को ६४०० म स घटाने पर ४८०० बहुभाग हुआ। यह बहुभाग वेदनीय कर्म का है। शेष १६०० म ४ का भाग देने पर लब्ध ४०० आता है। १६०० म स ४०० घटाने पर बहुभाग १२०० हुआ, जो मोहनीय कर्म का हुआ। शेष एक भाग ४०० म ४ का भाग देने पर लब्ध १०० आता है। ४०० म स १०० को घटाने पर बहुभाग ३०० आता है। इस बहुभाग ३०० के तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को १००, १०० देना चाहिए। शेष १०० म ४ का भाग देने स लब्ध २५ आया। इस २५ को १०० म से घटाने पर बहुभाग ७५ आता है। इस बहुभाग के दो समान भाग कर नाम और गोत्र कर्म को बाट दिया और शेष एक भाग २५ आयुकर्म को दे देना चाहिए। अत प्रत्येक कर्म के हिस्से म निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	अंतराय
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००

नाम	गोत्र	आयु
२४००	२४००	२४००
३७½	३७½	२५
२४३७½	२४३७½	२४२५

इस प्रकार २५६०० म इतना इतना द्रव्य उस उस कर्म रूप परिणत होता है। यह उदाहरण केवल विभाजन की व्यवस्था समझाने के लिए है किन्तु वास्त

विक नही समझ लेना चाहिए। यानी यह नही समझ लेना चाहिए कि वेदनीय का द्रव्य मोहनीय से ठीक दुगना है, वैसे ही वास्तव मे भी दुगना द्रव्य होता है।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मस्कन्धो के विभाजन मे श्वेताम्वर और दिगम्वर कर्मसाहित्य मे समानता है। कर्मग्रथ मे लाघव की दृष्टि मे ही विभाग करने की रीति नही वतलाई जा सकी है।

उत्तर प्रकृतियों मे पुद्गल द्रव्य के वितरण व हीनाधिकता का विवेचन

गो० कर्मकाड मे गाथा १९९ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियो मे पुद्गल द्रव्य के विभाजन का वर्णन किया गया है। कर्मग्रन्थ के समान ही घातिकर्मों को जो भाग मिलता है, उसमे से अनन्तवा भाग सर्वघाती द्रव्य होता है और शेष वहुभाग देशघाती द्रव्य होता है—

सव्वावरणं दव्वं अणंतभागो दु मूलपयडीण।
सेसा अणंतभागा देसावरण हवे दव्व ॥ १९७

गो० कर्मकाड के मत से सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती प्रकृतियो को भी मिलता है और देशघाती प्रकृतियो को भी मिलता है—

सव्वावरणं दव्वं विभजणिज्ज तु उभयपयडीसु।
देसावरणं दव्व देसावरणेसु णेविदरे ॥ १९९

सर्वघाती द्रव्य का विभाग दोनो तरह की प्रकृतियो मे करना चाहिए। किन्तु देशघानी द्रव्य का विभाग देशघाती प्रकृतियो मे ही करना चाहिए। अर्थात् सर्वघाती द्रव्य सर्वघाती और देशघाती दोनो प्रकार की प्रकृतियो को मिलता है किन्तु देशघाती द्रव्य सिर्फ देशघाती प्रकृतियो मे ही विभाजित होता है।

प्राप्त द्रव्य को उत्तर प्रकृतियो मे विभाजित करने के लिए एक सामान्य नियम यह है कि—

उत्तरपयडीसु पुणो मोहावरणा हवंति हीणकमा।
अहियकमा पुण णामाविग्घा य ण भंजग सेसे ॥ १९६

उत्तर प्रकृतिया म मोहनीय नानावरण, दशनावरण के भन्गा म क्रम स हीन हीन द्रव्य है और नाम, अन्तराय कम के भेदा म क्रम से अधिक अधिक द्रव्य है तथा वाकी बचे वेदनीय गोत्र आयु कम, इन तीना के भेदा म बटवारा नही होता है। क्योकि इनकी एक ही प्रकृति एक काल म बधती है। जस वेदनीय म साता वेदनीय का बध हो या असाता वदनीय का परन्तु दाना का एक साथ बध नही होता है। इसीलिए मूल प्रकृति के द्रव्य के प्रमाण ही इन तीना के द्रव्य का समझना चाहिए।

विभाग की रीति निम्न प्रकार है—

ज्ञानावरण—सवघाती द्रव्य म आवली क असख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग के पाच समान भाग करके पाच प्रकृतियो को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग म आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर बहु भाग मतिज्ञानावरण का शेष एक भाग म पुन आवली के असख्यातवें भाग का भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरण को शेष भाग म पुन आवली के असख्यातवें भाग का भाग दकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरण को इसी तरह चौथा बहुभाग मनपर्यायज्ञानावरण को और शेष एक भाग केवलज्ञाना वरण को दना चाहिए। पहले के भाग म अपन अपन बहुभाग को मिलाने स मतिज्ञानावरण आदि का सवघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भाग क सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरण क सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियो को मिलता है। विभाग की रीति पूव अनुसार है। अर्थात देशघाती द्रव्य म आवली के असख्यातवें भाग का भाग दकर एक भाग को जुदा रखकर शेष बहुभाग के चार समान भाग करक चारा प्रकृतिया को एक एक भाग दना चाहिए। शेष एक भाग म आवली क असख्यातवें भाग का भाग दकर बहुभाग निकालते हुए क्रमश वह बहुभाग मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण को क्रमवार देना चाहिए। अपन अपन सवघाती और देशघाती द्रव्य का मिलाने स अपन अपने सव द्रव्य का परिमाण होता है।

दशनावरण—सवघाती द्रव्य मे आवली के असख्यातवें भाग का भाग दकर एक भाग का अलग रखकर शेष बहुभाग के नौ भाग करक दशनावरण की नौ

भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग हास्य और शोक में से जिसका बंध हो, उसे देना चाहिये। शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग भय को देना चाहिए और शेष एक भाग जुगुप्सा को देना चाहिये। अपने-अपने एक भाग में पीछे का बहुभाग मिलाने से अपना-अपना द्रव्य होता है।

नामकर्म—तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर, हुंड संस्थान, वर्णचतुष्क, तिर्यंचानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश-कीर्ति और निर्माण, इन तेईस प्रकृतियों का एक साथ बंध मनुष्य अथवा तिर्यंच मिथ्यादृष्टि करता है। नामकर्म को जो द्रव्य मिलता है उसमें आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रख बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक-एक प्रकृति को एक-एक भाग देना चाहिये। क्योंकि ऊपर लिखी तेईस प्रकृतियों में औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों प्रकृतियां एक शरीर नाम पिंड प्रकृति के ही अवान्तर भेद हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् द्रव्य न मिलकर एक शरीर नामकर्म को ही हिस्सा मिलता है। इसीलिये इक्कीस ही भाग किये जाते हैं।

शेष एक बहुभाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर अंत से आदि की ओर के क्रम के अनुसार बहुभाग को देना चाहिये। जैसे कि शेष एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अंत की निर्माण प्रकृति को देना चाहिये। शेष भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अयशःकीर्ति को देना। शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अनादेय को देना चाहिए। इसी प्रकार जो-जो एक भाग शेष रहे उसमें प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग दुर्भग, अशुभ आदि को क्रम से देना चाहिये। अंत में जो एक भाग रहे, वह तिर्यंचगति को देना चाहिये।

पहले के अपने-अपने समान भाग में पीछे का भाग मिलाने से अपना-अपना द्रव्य होता है। जहां पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस प्रकृतियों का एक साथ बंध होता है, वहां भी इसी प्रकार से बटवारे का क्रम जानना चाहिये। किन्तु जहां केवल एक यशःकीर्ति का ही बंध होता है, वहां नामकर्म का सब द्रव्य इस एक ही प्रकृति को मिलता है।

नामकर्म के उक्त बंधस्थानों में जो पिंडप्रकृतियां हैं, उनके द्रव्य का बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे ऊपर के बंधस्थानों में शरीर नाम पिंडप्रकृति के तीन भेद हैं अतः बटवारे में शरीर नामकर्म को जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभाग का भाग देकर, बहुभाग के तीन समान भाग करके तीनों को एक एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग कार्मण शरीर को देना चाहिये। शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तैजस को देना चाहिये और शेष एक भाग औदारिक को देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिंडप्रकृतियों में भी समझना चाहिये। जहाँ पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियों में से एक ही प्रकृति का बंध होता हो वहाँ पिंडप्रकृति का सब द्रव्य उस एक ही प्रकृति को देना चाहिये।

अंतराय और नाम कर्म के बटवारे में उत्तरोत्तर अधिक अधिक द्रव्य प्रकृतियों को देने का कारण प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों में क्रम से हीन हीन द्रव्य बांटा जाता है और अंतराय व नाम कर्म की प्रकृतियों में क्रम से अधिक अधिक द्रव्य।

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक समय में एक ही उत्तर प्रकृति बंधती है अतः मूल प्रकृति को जो द्रव्य मिलता है वह उस एक ही प्रकृति को मिल जाता है। उसमें बटवारा नहीं होता है।

इस प्रकार से गो० कर्मकांड के अनुसार कर्म प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य का बटवारा जानना चाहिये। अब कर्मप्रकृति (प्रदेशबंध गा० २८) में बतायी गई उत्तर प्रकृतियों में कर्मदलिकों के विभाग की हीनाधिकता का कथन करते हैं। जिससे यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है तथा किस प्रकृति को अधिक भाग मिलता है और किस प्रकृति को कम।

पहले उत्कृष्ट पद की अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

ज्ञानावरण—१ केवलज्ञानावरण का भाग सबसे कम २ मनपर्याय ज्ञानावरण का उससे अनंत गुणा ३ अवधिज्ञानावरण का मनपर्यायज्ञाना-

वरण से अधिक, ४ श्रुतज्ञानावरण का उससे अधिक और ५ मतिज्ञानावरण का उससे अधिक भाग है।

दर्शनावरण—१ प्रचला का सबसे कम भाग है, २ निद्रा का उससे अधिक, ३ प्रचला-प्रचला का उससे अधिक, ४ निद्रा-निद्रा का उससे अधिक, ५. स्त्यानर्द्धि का उससे अधिक, ६ केवलदर्शनावरण का उससे अधिक, ७ अवधिज्ञानावरण का उससे अनन्तगुणा, ८ अचक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक और ९ चक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक भाग होता है।

वेदनीय—असाता वेदनीय का सबसे कम और साता वेदनीय का उससे अधिक द्रव्य होता है।

मोहनीय—१. अप्रत्याख्यानावरण मान का सबसे कम, २. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का उससे अधिक, ३ अप्रत्याख्यानावरण माया का उससे अधिक और ४. अप्रत्याख्यानावरण लोभ का उससे अधिक भाग है। इसी प्रकार ५-८. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का (मान, क्रोध, माया और लोभ के क्रम से) उत्तरोत्तर भाग अधिक है। उससे ९-१२. अनन्तानुबंधी चतुष्क का उत्तरोत्तर भाग अधिक है। उससे १३ मिथ्यात्व का भाग अधिक है। मिथ्यात्व से १४. जुगुप्सा का भाग अनन्तगुणा है, उससे १५ भय का भाग अधिक है, १६, १७ हास्य और शोक का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, १८, १९. रति और अरति का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, २०, २१ स्त्री और नपुंसकवेद का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, २२. संज्वलन क्रोध का उससे अधिक २३. संज्वलन मान का उससे अधिक, २४. पुरुषवेद का उससे अधिक, २५ संज्वलन माया का उससे अधिक और २६. संज्वलन लोभ का उससे असंख्यात गुणा भाग है।

आयुकर्म—चारों प्रकृतियों का समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बंधती है।

नामकर्म—गति नामकर्म में देवगति और नरकगति का सबसे कम किन्तु परस्पर में बराबर, मनुष्यगति का उससे अधिक और तिर्यंचगति का उससे अधिक भाग है।

जाति नामकर्म में—द्वीन्द्रिय आदि चार जातियों का सबसे कम किन्तु आपस में बराबर और एकेन्द्रिय जाति का उससे अधिक भाग है।

शरीर नामकर्म में—आहारक शरीर का सबसे कम, वैक्रिय शरीर का उससे अधिक, औदारिक शरीर का उससे अधिक, तैजस शरीर का उससे अधिक और कार्मण शरीर का उससे अधिक भाग है।

इसी तरह पांच संघातों का भी समझना चाहिये।

अंगोपांग नामकर्म में—आहारक अंगोपांग का सबसे कम, वैक्रिय का उससे अधिक औदारिक का उससे अधिक भाग है।

बंधन नामकर्म में—आहारक-आहारक बंधन का सबसे कम, आहारक-तैजस बंधन का उससे अधिक, आहारक-कार्मण बंधन का उससे अधिक, आहारक-तैजस-कार्मण बंधन का उससे अधिक, वैक्रिय-वैक्रिय बंधन का उससे अधिक, वैक्रिय तैजस बंधन का उससे अधिक, वैक्रिय कार्मण बंधन का उससे अधिक, वैक्रिय-तैजस कार्मण बंधन का उससे अधिक। इसी प्रकार औदारिक-औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक कार्मण बंधन, औदारिक तैजस कार्मण बंधन, तैजस-तैजस बंधन, तैजस-कार्मण बंधन और कार्मण-कार्मण बंधन का भाग उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक अधिक होता है।

संस्थान नामकर्म में—मध्य के चार संस्थानों का सबसे कम किन्तु आपस में बराबर बराबर भाग होता है। उससे समचतुरस्र और उससे हुंड संस्थान का भाग उत्तरोत्तर अधिक है।

संहनन नामकर्म में—आदि के पांच संहननों का द्रव्य बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है। उससे सेवार्त का अधिक है।

वर्ण नामकर्म में—कृष्ण का सबसे कम और नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल का एक से दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

गंध में—सुगंध का कम और दुर्गंध का उससे अधिक भाग है।

रस में—कटुक रस का सबसे कम और तिक्त, कषाय, खट्टा और मधुर रस का उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक अधिक भाग है।

स्पर्श में—कर्कश और गुरु स्पर्श का सबसे कम, मृदु और लघु स्पर्श का उससे अधिक, रूक्ष और शीत का उससे अधिक तथा स्निग्ध और उष्ण का

उसमे अधिक भाग है। चारो युगलो मे जो दो-दो स्पर्श है, उनका आपस मे बरा-बर-बराबर भाग है।

आनुपूर्वी मे—देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी का भाग सबसे कम किन्तु आपस मे बराबर होता है। उससे मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी का क्रम से अधिक-अधिक भाग है।

विहायोगति मे—प्रशस्त विहायोगति का कम और अप्रशस्त विहायोगति का उससे अधिक।

त्रसादि बीस मे—त्रस का कम, स्थावर का उससे अधिक। पर्याप्त का कम, अपर्याप्त का उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुगम-दुर्भग, सूक्ष्म-बादर और आदेय-अनादेय का भी समझना चाहिए तथा अयश कीर्ति का सबसे कम और यश कीर्ति का उससे अधिक भाग है। आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुस्वर का परस्पर मे बराबर भाग है।

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थंकर नाम का अल्पबहुत्व नही होता है। क्योकि अल्पबहुत्व का विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियो मे ही किया जाता है। जैसे कृष्ण नामकर्म के लिए वर्णनाम-कर्म के शेष भेद सजातीय हैं तथा सुभग और दुर्भग परस्पर मे विरोधी हैं। किन्तु उक्त प्रकृतियाँ न तो सजातीय हैं क्योकि किसी एक पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियाँ नही हैं तथा विरोधी भी नही हैं, क्योकि उनका बध एक साथ भी हो सकता है।

गोत्रकर्म - नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का अधिक है।

अन्तरायकर्म—दानान्तराय का सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

उत्कृष्ट पद की अपेक्षा से उक्त अल्पबहुत्व समझना चाहिए और जघन्य-पद की अपेक्षा से—

ज्ञानावरण और वेदनीय का अल्पबहुत्व पूर्ववत् है।

दर्शनावरण मे निद्रा का सबसे कम, प्रचला का उससे अधिक, निद्रा-निद्रा

का उमस अधिक । प्रचला प्रचला का उसम अधिक स्त्यानर्द्धि का उससे अधिक है। शप पूववत भाग है।

माहनीय म केवल इतना अतर है कि तीनों वेदो का भाग परस्पर म तुल्य है और रति अरति से विशेषाधिक है। उसस सज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभ का उत्तरोत्तर अधिक है।

आयु मे तियचायु और मनुष्यायु का सबसे कम है और दवायु, नरकायु का उससे असख्यात गुणा है।

नामकम म तियचगति का सबस कम मनुष्यगति का उसस अधिक, दव गति का उसस असख्यात गुणा और नरकगति का उसस असख्यात गुणा भाग है। जाति का पूववत है। शरीरों म औदारिक का सबसे कम, तजस का उससे अधिक, कामण का उससे अधिक वक्रिय का उससे असख्यात गुणा, आहारक का उससे असख्यात गुणा भाग है। सघात और बधन म भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए। अगोपाग मे औदारिक का सबसे कम वक्रिय का उससे असख्यात गुणा, आहारक का उससे असख्यात गुणा भाग है। आनुपूर्वी का पूववत है। शेष प्रकृतियो का भी पूववत जानना चाहिए।

गोत्र और अतराय कम का भी पूववत् है। यानी नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का उससे अधिक। दानान्तराय का कम, लाभान्तराय का उससे अधिक भोगान्तराय का उससे अधिक उपभोगान्तराय का उसस अधिक और वीर्यान्तराय का उसस अधिक भाग है।

इस प्रकार गो० कमकाड और कमप्रकृति के अनुसार कम प्रकृतियो म कमदलिकों के विभाजन व अल्पबहुत्व को समझना चाहिये।

*

परिशिष्ट-२

पल्य को भरने में लिये जाने वाले वालाग्रों सम्बन्धी अनुयोगद्वार-सूत्र आदि का कथन

पल्योपम का प्रमाण बतलाने के लिए एक योजन लंबे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे पल्य-गड्ढे को एक से लेकर सात दिन तक के वालाग्रों से भरने का विधान किया है। इस संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों को यहाँ स्पष्ट करते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'एगाहिअ, बेआहिअ, तेआहिअ जाव उक्कोसेण सत्तरत्तरूढाण 'वालग्गकोडीण' लिखा है और प्रवचनसारोद्धार में भी इसी से मिलता-जुलता पाठ है। दोनों की टीका में इसका अर्थ किया गया है कि सिर के मुंडा देने पर एक दिन में जितने बड़े वाल निकलते हैं, वे एकाहिक्य कहलाते हैं, दो दिन के निकले वाल द्व्याहिक्य, तीन दिन के निकले वाल त्र्याहिक्य, इसी तरह सात दिन के उगे हुए वाल लेना चाहिये।

द्रव्यलोकप्रकाश में इसके बारे में लिखा है कि उत्तरकुरु के मनुष्यों का सिर मुंडा देने पर एक से सात दिन तक के अन्दर जो केशाग्रराशि उत्पन्न हो, वह लेना चाहिये। उसके आगे लिखा है कि—

क्षेत्रसमासवृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम्, प्रवचनसारोद्धारवृत्तिसंग्रहणीवृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि वालाग्राणि इत्यादि सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुनरवालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम्। 'वीरञ्जय सेहर' क्षेत्रविचार सत्कस्वोपज्ञवृत्तौ तु देवकुरूत्तरकुरूद्भवसप्तदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गुलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रैकशतद्विपञ्चाशतप्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशैः रोमखण्डैरेष पल्यो भ्रियत इत्यादिरर्थतः संप्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम्।

अर्थात क्षेत्रसमास की बृहदवत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वत्ति का यह अभिप्राय है कि उत्तरकुरु के मनुष्य के केशाग्र लेना चाहिये। किंतु प्रवचनसारोद्धार की वत्ति और सग्रहणी की वहृदवत्ति मे सामान्य स सिर मुडा दने पर एक से लकर सात दिन तक के उगे हुए बालो का उल्लेख किया है, उत्तरकुरु क मनुष्य के बालाग्रा का ग्रहण नही किया है। क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवत्ति म लिखा है कि देवकुरु-उत्तरकुरु मे जन्मे सात दिन के मप (मेंड) क उत्सधागुलप्रमाण रोम को लेकर उसके सात बार आठ-आठ खड करना चाहिय। अर्थात् उम रोम के आठ खड करके पुन एक एक खड के आठ आठ खड करना चाहिए। ऐसा करने पर उस रोम के बीस लाख सत्तानव हजार एकसौ बावन २०९७१५२ खड होते हैं। इस प्रकार के खडा म उम पल्य को भरना चाहिए।

जबूद्वीपप्रज्ञप्ति म भी एगाहिअ बेहिअ तहिअ उक्कोसेण सत्तरत्तपरूढाण बालग्गकोडीण ही पाठ है। जिसका टीकाकार ने यह अथ किया है — बालपु अग्राणि श्रेष्ठाणि बालाग्राणि कुरुनररोमाणि तेपा कोटय अनेका कोटीकोटीप्रमुखा सख्या। जिसका आशय है कि बालो म अग्र श्रेष्ठ जो उत्तरकुरु देवकुरु के मनुष्यो के बाल उनकी कोटिकोटि। इस प्रकार टीकाकार न बाल सामान्य से कुरुभूमि (देवकुरु उत्तरकुरु) के मनुष्यो के बालो का ग्रहण किया है।

दिगम्बर साहित्य मे 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविबालाग्राणि' लिखकर एक दिन स सात दिन तक जन्मे हुए मप (मेंड) के बालाग्र ही ग्रहण किय हैं।

दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का वणन

उपमा प्रमाण क द्वारा काल की गणना करन क लिए पल्योपम, सागरोपम का उपयोग श्वेताम्बर और दिगम्बर दानो सप्रदायो के साहित्य म समान रूप म किया गया है। लकिन उनके वणन म भिन्नता है। श्वेताम्बर साहित्य म पाय जान वाल पल्योपम क स्वरूप आदि का वणन गा० ८५ म किया जा चुका है लकिन दिगम्बर साहित्य म पल्योपम का जो वणन मिलता है वह उस वणन स कुछ भिन्न है। उसम क्षेत्र-पल्योपम नाम का कोई भेद नहा है

और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद ही किये गये है। सक्षेप मे पल्योपम का वर्णन इस प्रकार है—

पल्य के तीन प्रकार है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनो नाम सार्थक है और उद्धार व अद्धा पल्यो के व्यवहार का मूल होने के कारण पहले पल्य को व्यवहारपल्य कहते है। अर्थात् व्यवहारपल्य का इतना ही उपयोग है कि वह उद्धारपल्य और अद्धापल्य का आधार बनता है। इसके द्वारा कुछ मापा नही जाता है।

उद्धारपल्य मे उद्धृत रोमो के द्वारा द्वीप और समुद्रो की सख्या जानी जाती है, इसीलिये उसे उद्धारपल्य कहते है और अद्धापल्य के द्वारा जीवो की आयु आदि जानी जाती है, इसीलिये उसे अद्धापल्य कहते हैं। इन तीनो पल्यो का प्रमाण निम्न प्रकार है—

प्रमाणागुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौडे और एक योजन गहरे तीन गड्डे बनाओ। एक दिन से लेकर सात दिन तक के भेड़ के रोमो के अग्रभागो को काटकर उनके इतने छोटे-छोटे खण्ड करो कि फिर वे कैंची से न काटे जा सकें। इस प्रकार के रोमखण्डो से पहले पल्य को खूब ठसाठस भर देना चाहिए। उस पल्य को व्यवहारपल्य कहते है।

उस व्यवहारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक रोमखण्ड निकालते-निकालते जितने काल मे वह पल्य खाली हो, उसे व्यवहार पल्योपम कहते है। व्यवहारपल्य के एक-एक रोमखण्ड के कल्पना के द्वारा उतने खण्ड करो जितने असख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्य मे भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं।

उस उद्धारपल्य मे से प्रति समय एक खण्ड निकालते-निकालते जितने समय में वह पल्य खाली हो, उसे उद्धारपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटा-कोटी उद्धारपल्योपम का एक उद्धार-सागरोपम होता है। अढाई उद्धार-सागरोपम मे जितने रोमखड होते हैं, उतने ही द्वीप, समुद्र जानना चाहिए।

उद्धारपल्य के रोमखडो मे से प्रत्येक रोमखड के कल्पना के द्वारा पुन उतने खंड करो जितने सौ वर्ष के समय के होते हैं और उन खडो को तीसरे पल्य मे भर दो। उसे अद्धापल्य कहते हैं। उसमे से प्रति समय एक-एक रोम-

एक नियमित निकालते जितने समय में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा पल्योपम कहते हैं और दस कोटाकोटी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। दसकोटि अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धा पल्योपम से नारक, तिर्यंच मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्‌गल परावर्तों का वर्णन

दिगम्बर साहित्य में पुद्गल परावर्तों के पांच भेद हैं और पंच परिवर्तनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। द्रव्य परिवर्तन के दो भेद हैं—नोकर्मद्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन। इनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

नोकर्मद्रव्य परिवर्तन—एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया और दूसरे आदि समय में उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनंतबार अग्रहीत पुद्गलों को ग्रहण करके अनन्तबार मिश्र पुद्गलों का ग्रहण करके और अनन्तबार ग्रहीत पुद्गलों का ग्रहण करके छोड़ दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समय में ग्रहण किये थे, उन्हीं भावों में उतने ही रूप, रस, गंध और स्पर्श को लेकर जब उसी जीव के द्वारा पुनः नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं तो उतने काल के परिमाण को नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्य-परिवर्तन—इसी प्रकार एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्म रूप होने के योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली के बाद उनकी निर्जरा कर दी। पूर्वोक्त क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से जब उसी जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तो उतने काल को कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन को मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गल परिवर्तन होता है और दोनों में से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव

लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। वही जीव उसी अवगाहना को लेकर वहाँ दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहना को लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को अपना जन्मक्षेत्र बना लेता है तो उतने काल को एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं।

काल-परिवर्तन—एक जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी हो जाने के बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इस प्रकार वह उत्सर्पिणी काल के समस्त समयों में उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में उत्पन्न हुआ। उत्पत्ति की तरह मृत्यु का भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणी के पहले समय में मरा, दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरा, इसी प्रकार पहली अवसर्पिणी के पहले समय में मरा, दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा। इस प्रकार जितने समय में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों को अपने जन्म और मृत्यु से स्पृष्ट कर लेता है, उतने समय का नाम कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन - नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उतनी आयु लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। मरने के बाद नरक से निकलकर पुनः उसी आयु को लेकर दुबारा नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयु को लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरक-गति की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्यंचगति को लिया। तिर्यंचगति में अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयु को लेकर पुनः तिर्यंचगति में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अन्त-र्मुहूर्त में जितने समय होते हैं उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यंचगति

की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तियचगति की ही तरह मनुष्यगति का काल पूरा किया और नरकगति की तरह देवगति का काल पूरा किया। लेकिन दवगति म इतना अतर समझना चाहिए कि दवगति म ३१ सागर की आयु पूरी करने पर ही भवपरिवतन पूरा हो जाता है। क्योंकि ३१ सागर से अधिक आयु वाले देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं और वे एक या दो मनुष्य भव धारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारो गति की आयु को भोगने मे जितना काल लगता है, उसे भवपरिवतन कहते हैं।

भावपरिवतन—कर्मों के एक स्थितिबध के कारण असख्यात लोक प्रमाण कषाय-अध्यवसायस्थान हैं और एक एक कषायस्थान के कारण असख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान हैं। किसी पचेंद्रिय सनी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव ने ज्ञानावरण कम का अत कोटाकोटी सागर प्रमाण जघय स्थितिबध किया, उसके उस समय सबसे जघय कषायस्थान और सबसे जघय अनुभागस्थान तथा सबसे जघय योगस्थान था। दूसरे समय म वही स्थितिबध वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा किन्तु योगस्थान दूसरे नवर का हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबध को कषायस्थान और अनुभागस्थान के साथ श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानों को पूण किया। योगस्थानो की समाप्ति के बाद स्थितिबध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूववत समस्त योगस्थान पूण किये। इस प्रकार अनुभाग अध्यवसायस्थानो के समाप्त होने पर उसी स्थितिबध के साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान भी पूववत समाप्त किये। पुन तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूववत समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जाने पर उस जीव ने एक समय अधिक अत कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिबध किया। उसके भी कषायस्थान अनुभागस्थान और योगस्थान पूववत पूण किये। इस प्रकार एक एक समय बढाते बढाते ज्ञानावरण की तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पूण की। इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियो और उत्तर प्रकृतियो की स्थिति पूरी कर लेता है तब उतने काल को भावपरिवतन कहते हैं।

इन सभी परिवतनों म क्रम का ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् अक्रम से

जो क्रिया होती है, वह गणना मे नही ली जाती है । सूक्ष्म पुद्गल परावर्तो की जो व्यवस्था है, वही व्यवस्था यहाँ समझना चाहिये ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का गोम्मटसार कर्मकांड में आगत वर्णन

दिगम्बर साहित्य गो० कर्मकाड मे भी प्रदेशवध के स्वामियो का वर्णन किया गया है । जो प्राय कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलता-जुलता है । तुलनात्मक अध्ययन मे उपयोगी होने से सबधित अश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबध के स्वामियो के बारे मे यह सामान्य नियम है कि उत्कृष्ट योगो सहित, सज्ञी पर्याप्त और थोडी प्रकृतियों का वध करने वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशवध तथा जघन्य योग वाला असज्ञी और अधिक प्रकृतियो का वध करने वाला जघन्य प्रदेशवध करता है ।

सर्वप्रथम मूल प्रकृतियो के उत्कृष्ट वध का स्वामित्व गुणस्थानो मे कहते हैं—

आउक्कस्स पदेस छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाण तणुकसाओ वधदि उक्कस्सजोगेण ॥ २११

आयुकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशवध छह गुणस्थानो के अनन्तर सातवे गुणस्थान मे रहने वाला करता है । मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशवध नौवें गुणस्थानवर्ती करता है और आयु व मोहनीय के सिवाय शेप ज्ञानावरण आदि छह कर्मो का उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध उत्कृष्ट योग का धारक दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थानवाला जीव करता है । यहाँ सभी स्थानो पर उत्कृष्ट योग द्वारा ही बन्ध जानना चाहिए ।

उत्तर प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशवध का स्वामित्व इस प्रकार है—

सत्तर सुहुमसरागे पंचऽणियट्टिम्हि देसगे तदिय ।
अयदे विदियकसायं होदि हु उक्कस्सदव्वं तु ॥२१२
छण्णोकसायणिद्दापयलातित्थ च सम्मगो य जदी ।
सम्मो वामो तेर णरसुरआउ असादं तु ॥२१३
देवचउक्क वज्ज समचउर सत्थगमणसुभगतिय ।
आहारमप्पमत्तो सेसपदेसुक्कडो मिच्छो ॥२१४

मतिज्ञानावरण आदि पाच, दशनावरण चार, अतराय पाच यश कीर्ति उच्चगोत्र और साता वेदनीय इन सत्रह प्रकृतियो का दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान म उत्कृष्ट प्रदेशब ध होता है। नौवें अनिवत्तिबादर गुणस्थान मे पुरुषवेदादि पाच का, तीसरा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का देशविरति नामक पाचवें गुणस्थान मे, दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का चौथे अविरत गुणस्थान म उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। छह नोकषाय निद्रा, प्रचला और तीर्थकर इन नौ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है तथा मनुष्यायु, देवायु असाता वेदनीय, देवगति आदि देवचतुष्क, वज्रऋषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगत्रिक, इन तरह प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशब ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि दानो ही करते हैं। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशब ध अप्रमत्त गुणस्थान वाला करता है। इन चौवन प्रकृतियो के सिवाय शेष रही छियासठ प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट योगो स करता है।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के स्वामियो का कथन करने के बाद अब जघन्य प्रदेशबन्ध के स्वामियो को बतलाते हैं। मूल प्रकृतियो के बन्धक के बारे म बताया है कि—

सुहुमणिगोवअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णये जोगे।
सत्तण्ह तु जहण्ण आउगबधवि आउस्स ॥२१५

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने पर्याय क पहले समय म जघन्य योगो स आयु क सिवाय सात मूल प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। आयु का बन्ध होने पर उसी जीव क आयु का भी जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। आयुकर्म का बन्ध सर्वदा नहीं होता रहता है इसलिये आयुकर्म का अलग स कथन किया है। अर्थात आठो कर्मों का जघन्य प्रदेशब ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव करता है।

मूल प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाने के बाद उत्तर प्रकृति के लिए कहते हैं कि—

घोलणजोगो सण्णी णिरयदुसुरणिरयआउगजहण्णं।
अपमत्तो आहार अयदो तित्थ च देवचऊ ॥ २१६

घोटमान योगो (परावर्तमान योगो) का धारक असंज्ञी जाव नरकद्विक, देवायु तथा नरकायु का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। आहारकद्विक का अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती तथा चौथे अविरत गुणस्थान वाला (पर्याय के प्रथम समय मे जघन्य उपपाद योग का धारक) तीर्थंकर प्रकृति और देवचतुष्क, कुल पाँच प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इन ग्यारह प्रकृतियो मे शेष बची हुई १०९ प्रकृतियो के जघन्य प्रदेशबन्धक की विशेषता को बतलाते है—

> चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्मि ठिओ।
>
> सुहमणिगोदो बंधदि सेसाण अवरबंधं तु ॥ २१७

लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवो मे से अन्त के भव को धारण करने वाला और विग्रहगति के तीन मोडो मे से पहले मोड मे स्थित सूक्ष्म निगोदिया जीव शेष रही १०९ प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकाड, दोनो मे १०९ प्रकृतियो का जघन्य प्रदेशबन्धक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव माना है। कर्मग्रन्थ मे जन्म के प्रथम समय मे उसको बन्धक बतलाया, लेकिन गो० कर्मकाड मे लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवो मे से अन्तिम भव को धारण करने वाले को बतलाया है।

गुणश्रेणि की रचना का स्पष्टीकरण

उदयक्षण से लेकर प्रतिसमय असख्यातगुणे-असख्यातगुणे कर्मदलिको की रचना को गुणश्रेणि कहते हैं। इस गुणश्रेणि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कर्मप्रकृति गा० १५ की टीका मे उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—

अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाह—यत्स्थितिकण्डक घातयति तन्मध्याद्दलिक गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमय यावत् प्रतिसमयमसख्येयगुणनया निक्षिपति। उक्त च—

> उवरिल्लठिईहितो घित्तण पुग्गले उ सो खिवइ।
>
> उदयसमयम्मि थोवे तत्तो अ असंखगुणिए उ॥
>
> बीयम्मि खिवइ समए तइए तत्तो असंखगुणिए उ।
>
> एवं समए समए अन्तमुहुत्तं तु जा पुन्नं॥

एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधि। एवमेव द्वितीयादिसमय

गृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपविधिद्रष्टव्य । किञ्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमयादारभ्य गुणश्रेणिचरमसमय यावत् गृह्यमाण दलिक यथोत्तर मसख्येय गुण द्रष्टव्यम। उक्त च—

> दलिय तु गिण्हमाणो पढमे समयम्मि थोवय गिण्हे।
> उवरिल्लठिईहिंतो बियम्मि असखगुणिय तु ॥
> गिण्हइ समए दलिय तइए समए असखगुणिय तु।
> एव समए समए जा चरिमो अतसमओत्ति ॥

इहान्तमुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चा पूर्वकरणानिवृत्तिकरणाद्धाद्विकात किञ्चिदधिको द्रष्टव्य तावत्कालमध्य चाधस्तनोदयक्षण वेदनत क्षीण शेषक्षणपु दलिक रचयति न पुनरुपरि गुण श्रेणि वर्धयति। उक्त च—

> सेढीइ कालमाण दुण्णयकरणाणसमहिय जाण ।
> खिज्जइ सा उदएण ज सेस तम्मि णिक्खेओ ॥

अर्थात अब गुणश्रेणि का स्वरूप कहते हैं—जिस स्थितिकण्डक का घात करता है, उसमे से दलिको को लेकर उदयकाल से लेकर अन्तमुहूर्त के अतिम समय तक के प्रत्येक समय मे असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है। कहा भी है—

ऊपर की स्थिति से पुद्गलो को लेकर उदयकाल मे थोडे स्थापन करता है, दूसरे समय मे उससे असख्यातगुणे स्थापन करता है तीसरे समय मे उससे असख्यातगुण स्थापन करता है। इस प्रकार अन्तमुहूर्त काल की समाप्ति के समयो मे असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है।

यह प्रथम समय मे ग्रहण किये गये दलिको के निक्षेपण की विधि है। इसी तरह दूसरे आदि समयो मे ग्रहण किये गये दलिको के निक्षेपण की विधि जाननी चाहिए तथा गुणश्रेणि रचना के लिये प्रथम समय से लेकर गुणश्रेणि के अतिम समय तक उत्तरोत्तर असख्यातगुणे-असख्यातगुणे दलिक ग्रहण किये जाते हैं। कहा भी है —

ऊपर की स्थिति से दलिको का ग्रहण करते हुए प्रथम समय मे थोडे

दलिको को ग्रहण करता है, दूसरे समय मे उससे असख्यातगुणे दलिको का ग्रहण करता है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक असख्यात-गुणे असख्यातगुणे दलिको का ग्रहण करता है ।

यह निक्षेपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और दलिको की रचना रूप गुणश्रेणि का काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालो से कुछ अधिक जानना चाहिए । इस काल से नीचे-नीचे के उदयक्षण का अनुभव करने के वाद क्षय हो जाने पर वाकी के क्षणो मे दलिको की रचना करता है, किन्तु गुणश्रेणि को ऊपर की ओर नही वढाता है । कहा है—

'गुणश्रेणि का काल दोनो करणो के काल मे कुछ अधिक जानना चाहिए । उदय के द्वारा उसका काल क्षीण हो जाता है, अत जो शेष काल रहता है, उसी मे दलिको का निक्षेपण किया जाता है ।

पचसग्रह मे भी गुणश्रेणि का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार वतलाया है । तत्-सवधी गाथा इस प्रकार है—

घाइयठिइओ दलियं घेत्तु घेत्तु असंखगुणणाए ।
साहियदुकरणकाले उदयाइ रयइ गुणसेढि ॥७४६

अव लब्धिसार (दिगम्बर ग्रन्थ) के अनुसार गुणश्रेणि का स्वरूप वतलाते है—

उदयाणमावलिम्हि य उभयाण वाहिरम्मि खिवणट्ठं ।
लोयाणमसंखेज्जो कमसो उक्कट्टणो हारो ॥६८

जिन प्रकृतियो का उदय पाया जाता है, उन्ही के द्रव्य का उदयावलि मे निक्षेपण होता है । उसके लिए असंख्यात लोक का भागाहार जानना और जिनका उदय और अनुदय है, उन दोनो के द्रव्य का उदयावलि से वाह्य गुणश्रेणि मे अथवा ऊपर की स्थिति मे निक्षेपण होता है, उसके लिए अपकर्पण भागा-हार (पल्य का असख्यातवा भाग) जानना चाहिए ।

उक्कट्ठिद इगिभागे पल्लासखेण भाजिदे तत्थ ।
वहुभागमिद दव्व उव्वरिल्लठिदीसु णिक्खवदि ॥ ६९

अपकर्पण भागाहार का भाग देने पर एक भाग मे पल्य के असख्यातवें

भाग का भाग दिया, उसम से बहुभाग ऊपर की स्थिति में निक्षेपण करता है।

सेसगभागे भजिदे असखलोगेण तत्थ बहुभाग।
गुणसेढिए सिंचदि सेसेग चेव उदयम्हि ॥७०

अवशेष एक भाग को असख्यात लोक का भाग देकर जो बहुभाग आय, उसको गुणश्रेणि आयाम म और शेष एक भाग को उदयावलि म देना चाहिए।

उदयावलिस्स दव्व आवलिभजिदे दु होदि मज्झधण।
रूउणद्धाणूणण णिसेय हारेण ॥७१
मज्झिमधणमवहरिदे पचय पचय णिसेय हारेण।
गुणिदे आदि णिसेय विसेसहीण कम तत्तो ॥७२

उदयावलि म दिये गये द्रव्य म आवली के समय प्रमाण का भाग देने पर मध्यधन होता है और उस मध्यधन को एक कम आवली प्रमाण गच्छ के आधे कम निषेकहार का भाग देने म चय का प्रमाण होता है। उस चय को निषेकहार म (दो गुणहानि से) गुणा करने पर आवली क प्रथम निषेक के द्रव्य का प्रमाण आता है। उसम द्वितीयादि निषेको म दिये क्रम से एक एक चय घटता प्रमाण लिये जानना चाहिये। वहाँ एक कम आवली मात्र चय घटने पर अतनिषेक म दिये द्रव्य का प्रमाण होता है।

उवरिटिठदम्हि देहि हु असखसमयप्पबघमादिम्हि।
सखातीदगुणक्कम मसखहाणं विसेसहीणक्कम ॥ ७३

गुणश्रेणि म दिये अपकर्षण किये द्रव्य को प्रथम समय की एक शलाका, उसम दूसरे समय की असख्यात गुणा, इस तरह अत समय तक असख्यातगुणा क्रम लिए हुए जो शलाका उनको जोड उसका भाग देने से जो प्रमाण आय उसको अपनी अपनी शलाकाओ म गुणा करने म गुणश्रेणि आयाम क प्रथम निषेक म दिया द्रव्य असख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण आता है। उससे द्वितीयादि निषेको म द्रव्य क्रम म असख्यातगुणा अत समय तक जानना। प्रथम निषेक म द्रव्य गुणश्रेणि क अत निषेक म दिये द्रव्य क असख्यातवें भाग प्रमाण है। प्रथम गुणहानि का द्वितीयादि निषेको म दिया द्रव्य चय घटता द्रव्य लिये हुए है।

गुणश्रेणी करने द्वितीयादि अंत पर्यन्त समयों में समय-समय के प्रति असंख्यातगुणा क्रम लिये द्रव्य को अपकर्षण करता है और संचित अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उदयावलि आदि में उसे निक्षेपण करता है। ऐसे आयु के बिना सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान समय-समय में होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि गुणश्रेणि रचना जो प्रकृतियाँ उदय में आ रही हैं उनमें भी होती है और जो उदय में नहीं आ रही हैं उनमें भी होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि उदयागत प्रकृतियों के द्रव्य का निक्षेपण तो उदयावली, गुणश्रेणी और ऊपर की स्थिति, इन तीनों में ही होता है, किन्तु जो प्रकृतियाँ उदय में नहीं होती हैं उनके द्रव्य का स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपर की स्थिति में ही होता है, उदयावली में उनका स्थापन नहीं होता है। आशय यह है कि वर्तमान समय से लेकर एक आवली तक के समय में जो निषेक उदय आने के योग्य हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदयावली में दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। उदयावली के ऊपर गुणश्रेणि के समयों के बराबर जो निषेक हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि में दिया गया समझना चाहिये। गुणश्रेणि से ऊपर के अंत के कुछ निषेकों को छोड़कर शेष कर्मनिषेकों में जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपर की स्थिति में दिया गया द्रव्य समझना चाहिये। इसको मिथ्यात्व के उदाहरण द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्व के द्रव्य में अपकर्षक भागाहार का भाग देकर, एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है, शेष एक भाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग का स्थापन ऊपर की स्थिति में करता है। शेष एक भाग में असंख्यात लोक का भाग देकर गुणश्रेणि आयाम में देता है, शेष एक भाग उदयावली में देना है। इस प्रकार गुणश्रेणि रचना के लिये गुणाकाल के अंतिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधान के अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि-आयाम और ऊपर की स्थिति में उस द्रव्य की स्थापना करता है। इस प्रकार आयु के सिवाय शेष सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान जानना चाहिये।

गुणश्रेणि में उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे हीन-हीन समय में

उत्तरोत्तर परिणामो की विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निजरा असख्यातगुणी असख्यातगुणी अधिक अधिक होती है अर्थात जस-जस मोहकर्म निशेष होता जाता है वसे-वसे निजरा भी बढती जाती है और उसका द्रव्यप्रमाण असख्यातगुणा असख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलत वह जीव मोक्ष क अधिक-अधिक निकट पहुचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप स गुणित निजरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उनको गुणश्रेणि कहा जाता है और उन स्थानो म होने वाली निजरा गुणश्रेणि निजरा कही जाती है।

गो० जीवकाड गा० ६६ ६७ म उक्त दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर गुण श्रेणि का वणन किया है। यह वणन कमप्रकृति पचसग्रह और कमग्रथ म मिलता जुलता है। लकिन इतना अतर है कि कमग्रन्थ आदि म सम्यक्त्व दशविरति सवविरति अनन्तानुबधी का विसयोजन दशनमोह का क्षपक चारित्रमोह का उपशमक उपशातमोह, क्षपक क्षीणमोह सयोग केवली और अयोग केवली ये ग्यारहगुणश्रेणि स्थान बतलाये हैं। लकिन गो० जीवकाड, तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि तत्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रन्थो म सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दोनो को अलग अलग न मानकर जिन पद से दोनो का ग्रहण कर लिया है।

गो० जीवकाड की मूल गाथाओ म गुणश्रेणि निजरा के दस स्थान गिनाये हैं लकिन टीकाकार न ग्यारह स्थानो का उल्लेख करते हुये स्पष्ट किया है कि या तो सम्यक्त्वोत्पत्ति इस एक नाम से सातिशय मिथ्यादृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि, इस तरह दो का ग्रहण करके ग्यारह स्थानो की पूर्ति की जा सकती है अथवा एसा न करक सम्यक्त्वोत्पत्ति शब्द से तो एक ही स्थान लेना किन्तु अन्तिम जिन शब्द से – स्वस्थानस्थित केवली और समुद्घातगत केवली इन दो स्थानो का ग्रहण कर लेना चाहिये और स्वस्थान-केवली की अपेक्षा समुद्घात गत केवली के निजरा द्रव्य का प्रमाण असख्यात गुणा होता है।

इस प्रकार ग्यारह और दस गुणश्रेणि स्थान मानने में विवक्षा भेद है।

क्षपकश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण

क्षपकश्रेणि मे क्षय होने वाली प्रकृतियो के नाम कर्मग्रन्थ के अनुरूप आवश्यक निर्युक्ति गा० १२१-१२३ मे बतलाये है। गो० कर्मकाड मे क्षपकश्रेणि का विधान इस प्रकार है—

> णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा।
> अयदचउक्क तु अण अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥ ३३५
> जुगव सजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरणबहुभाग।
> वोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्म खवेदि कमे ॥ ३३६

अर्थात्—नरक, तिर्यंच और देवायु के सत्व होने पर क्रम से देशव्रत, महाव्रत और क्षपक श्रेणि नही होती, यानी नरकायु का सत्व रहते देशव्रत नही होते, तिर्यचायु के सत्व मे महाव्रत नही होते और देवायु के सत्व मे क्षपकश्रेणि नही होती है। अत क्षपक श्रेणि के आरोहक मनुष्य के नरकायु, तिर्यचायु और देवायु का सत्त्व नही होता है तथा असयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त सयत अथवा अप्रमत्त सयत मनुष्य पहले की तरह अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय मे अनतानुवन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ विसयोजन करता है, उन्हे अप्रत्याख्यानावरण आदि वारह कपायो और नौ नोकषाय रूप परिणमाता है और उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोह का क्षपण करने के लिये पुन अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण के काल मे से जब एक भाग काल बाकी रह जाता है और बहुभाग बीत जाता है, तब क्रमश मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षपण करता है और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

इसके बाद चारित्रमोह का क्षपण करने के लिये क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है। सबसे पहले सातवें गुणस्थान मे अध करण करता है और उसके बाद आठवें गुणस्थान मे पहुँच कर पहले की ही तरह स्थितिखडन, अनुभागखडन आदि कार्य करता है। उसके बाद नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे पहुँच कर—

सोलटठक्किग छक्क चदुमेक्क बादर अदो एक्क ।
खोणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवसत ॥९७

उसके नौ भागो म स पाँच भागो म क्रम स सोलह आठ, एक, एक, छह प्रकृतिया का क्षय होता है अथवा सत्ता स व्युच्छिन्न होती है तथा शेष चार भागो म एक एक ही की सत्ता व्युच्छिन्न होती है। अन तर दसवें सूक्ष्म सपराय गुणस्थान म एक प्रकृति की व्युच्छित्ति होती है । ग्यारहवें गुणस्थान म योग्यता रही होन स किसी भी प्रकृति का विच्छेद नही होता है और उसके बाद बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के अत समय म सोलह प्रकृतिया की सत्ता व्युच्छिन्न होती है। सयोगी केवली गुणस्थान म किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नही होती और अयोगी केवली—चौदहवें गुणस्थान क अन्त क दो समयों म स पहल समय म ७२ तथा दूसर समय म १३ प्रकृतिया का विच्छेद होता है।

प्रकृतियो के विच्छेद होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये कि नौवें गुणस्थान क नौ भागो म स पहल भाग म नामकम की १८ प्रकृतिया | नरकद्विक तियचद्विक विकलत्रिक आतप, उद्योत एकेन्द्रिय साधारण, सूक्ष्म स्थावर तथा दशनावरण की ३ प्रकृतियाँ—स्त्यानर्द्धित्रिक, कुल १६ प्रकृतिया क्षपण होती हैं । दूसरे भाग म अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क प्रत्याख्यानावरण चतुष्क—कुल आठ प्रकृतिया का, तीसर भाग म नपु सक वद चौथ भाग म स्त्रीवद पाचवें भाग म हास्यादि षटक तथा छटे सातवें आठवें और नौवें भाग म क्रमश पुरुषवद सज्वलन क्रोध मान माया का क्षपण होता है। इस प्रकार नौवें गुणस्थान में ३६ प्रकृतिया व्युच्छिन्न होता है। दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान म सज्वलन लोभ, बारहवें गुणस्थान म ज्ञानावरण पाच दशनावरण चार अतराय पाच और निद्रा व प्रचला, इस प्रकार सोलह प्रकृतिया क्षय होती हैं फिर सयोगिकेवली होकर चौदहवां गुणस्थान प्राप्त होता है और उसके उपान्त्य समय म नाम गोत्र वेदनीय की ७२ प्रकृतियों का क्षय होता है और अन्त समय म १३ प्रकृतिया का क्षय हो जान पर मुक्त दशा प्राप्त हो जाती है। जो क्षपक श्रेणि का प्राप्तव्य है।

अयोग केवली गुणस्थान क अत समय मे किन्ही किन्हीं आचार्यों का मत

है कि १३ प्रकृतिया क्षय होती हैं और किन्हीं का मत है कि १२ प्रकृतिया क्षय होती है। १३ प्रकृतियो का क्षय मानने वाले अपने मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि तद्‌भवमोक्षगामी के अतिम समय मे आनुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियो की सत्ता उत्कृष्ट रूप मे रहती है और जघन्य मे तीर्थंकर प्रकृति के सिवाय शेष वारह प्रकृतियो की सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली भवविपाकी मनुष्यायु क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेष नौ प्रकृतिया तथा साता या असाता मे से कोई एक वेदनीय, उच्च गोत्र, ये तेरह प्रकृतियाँ तद्‌भवमोक्षगामी जीव के अतिम समय मे क्षय को प्राप्त होती है, द्विचरम समय मे नष्ट नही होती हैं। अत तद्‌भव मोक्षगामी के अतिम समय मे उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियो की और जघन्य बारह प्रकृतियो की सत्ता रहती है।

लेकिन चौदहवें गुणस्थान के अतिम समय मे बारह प्रकृतियो का क्षय मानने वालो का कहना है कि मनुष्यानुपूर्वी का क्षय द्विचरम समय मे ही हो जाता है, क्योकि उसके उदय का अभाव है। जिन प्रकृतियो का उदय होता है, उनमे स्तिवुकसक्रम न होने से अत समय मे अपने-अपने स्वरूप से उनके दलिक पाये जाते है जिससे उनका चरम समय मे सत्ताविच्छेद होना युक्त है। किन्तु चारो ही आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी होने के कारण दूसरे भव के लिये गति करते समय ही उदय मे आती हैं अत भव मे जीव को उनका उदय नही हो सकता है और उदय न हो सकने से अयोगि अवस्था के द्विचरम समय मे ही मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार के मतान्तर मे अधिकतर अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे ७२ और अत समय मे १३ प्रकृतियो के क्षय को प्रमुख माना है। पचम कर्मग्रन्थ की टीका मे ७२ + १३ का ही विधान किया है और गो० कर्मकांड गा० ३४१ मे भी ऐसा ही लिखा है—'उदयगवार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा' अर्थात् उदयगत १२ प्रकृतियाँ और एक मनुष्यानुपूर्वी, इस प्रकार तेरह प्रकृतियाँ अयोगी केवली के अत के समय मे अपनी सत्ता से छूटती हैं।

सक्षेप मे क्षपक श्रेणि का यह विधान समझना चाहिये।

पचम कर्मग्रन्थ की गाथाओ की अकारादि-अनुक्रमणिका

————

४ शा० चम्पालाल जी दूगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावडिया)
६ शा० चादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावडिया)
७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू)
८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, व्यावर
९ शा० वालचद जी रूपचद जी वाफना,
११८/१२० जवेरी वाजार वम्बई-२ (मादडी निवासी)
१० शा० वालावगस जी चपालाल जी वोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचद जी मोहनलाल जी वोहरा राणीवाल
१२ शा० अमोलकचद जी धर्मीचद जी आच्छा, वडाकाचीपुरम्, मद्रास
(सोजत रोड)
१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)
१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)
१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)
१६ शा० सिमरतमल जी सखलेचा, मद्रास (वीजाजी का गुडा)
१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)
१८ शा० गूदडमल जी शातिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास
१९ शा० चपालाल जी नेमीचद, जवलपुर, (जैतारण)
२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, व्यावर
२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड-मादलिया)
२२ शा० हीराचद जी लालचद जी धोका, नक्शावाजार, मद्रास
२३ शा० नेमीचद जी धर्मीचद जी आच्छा, चगलपेट, मद्रास
२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T.
(वगडी-नगर)
२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्रास
२६ शा० अमोलकचंद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास
२७ शा० पी० वीजराज नेमीचद जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचद जी माणकचद जी वोरा, वुगी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, वुगी
३० शा० पारसमल जी मोहनलाल जी सुराणा कु भकोणम्, मद्रास

३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, पाटमार्केट सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० बच्छराज जी जोधराज जी सुराणा सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचंद जी जसराज जी गोलेछा बेंगलोर सिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी बब, बेंगलोर सिटी
३६ शा० एम० मंगलचंद जी कटारिया मद्रास
३७ शा० मंगलचंद जी दरडा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी, शिवराम पठ, मसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल, N क्राम रोड, राबर्टसन पेठ K G F
३९ शा० चम्पालालजी प्रकाशचन्द जी छलाणी न० ५७ नगरथ पठ बेंगलोर-२
४० शा० आर विजयराज जागडा, न० १ क्राम रोड, राबर्टसन पेट K G F
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी ११८३, रविवार पेठ पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पाट मार्केट, सिकन्द्राबाद—A P
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा, वालाजाबाद, मद्रास
४४ श्री कानूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गाँधीचौक रायपुर
४५ श्री हस्तीमल जी बोहरा C/o सीरेमल जी पुलाजी गाणो की गली उदय पुरिया बाजार पाली
४६ श्री सुकनराज जी गोपालचन्द जी पगारिया, चिकपेट बेंगलार
४७ श्री बिरदीचंद जी ताराचंद जी मरलेचा मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचंद जी बोहरा, मद्रास (वर)
४९ श्री भवरलाल जी जसराज जी दूगड, गुरडारा
५० शा० मदनचंद जी देवराज जी दरडा १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५१ शा० सोहनलाल जी दूगड, ३७ कालाती पील स्ट्रीट गाहवार पेट मद्रास १
५२ शा० धनराज जी केवलचन्द जी, ५ पुडुपट स्ट्रीट आनन्द, मद्रास १६
५३ शा० जेठमल जी चारडिया C/o महावीर ड्रग हाउस न १४ वानेश्वरा टम्पल स्ट्रीट ५ वा क्रास आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, पो० ७६४४, बंगलोर ५३
५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचन्द जी गोठी मु० पो० घाटी जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीलाल जी उत्तमचन्द जी ४२४/३ चीकपेट-बैंगलोर २ A
५६ शा० एच० एम० कांकरिया २६६, OPH रोड, बैंगलोर १
५७ शा० सन्तोषचद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)
५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर, नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५९ मदनलाल जी राका (वकील), ब्यावर
६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका, ब्यावर
६१ शा० वनराज जी पन्नालाल जी जागडा नयामोंडा, जालना (महाराष्ट्र)
६२ शा० एम० जवाहरलाल जी बोहरा ६६ स्वामी पण्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधरपेट, मद्रास २
६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A P.)
६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी चोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट, पुडुपेट मद्रास २
६५ चैनराज जी सुराणा गाधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)
६६ पी० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण), राबर्टसन पेठ (K G F.)
६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)
६८ चपाराम जी मीठालाल जी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)
६९ पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत, मद्रास
७० सपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास
७१ चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी जवाली, मद्रास
७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, सिकन्दराबाद (रायपुर वाले)
७३ श्रीमान् शा० चेनराजी सुराना वर्धमान क्लोथ स्टोर, गाधी बाजार, सीमोगा (कर्नाटक)
७४ शा० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा जाडण No 1, क्रासरोड राबर्टसन पेट (K G F)
७५ श्रीमान् शा० सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा, जोधपुर

७६ शा० चपालाल जी मीठालाल जी मरलेचा (बदूना) ट्रासपोर्ट प्रा० लि० जालना, महाराष्ट्र
७७ शा० पुखराज जी नानचद जी मुथान C/o F, पुखराज जैन No 168 वेलावरी रोड ताम्बरम मद्रास 59
७८ शा० सपनराज जी प्यारेलाल जी जैन No 3 वासुस्वामी स्ट्रीट नगनतुर, मद्रास 61
७९ शा० C चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी (जगाली) ज्वेलरी मर्चेंट No C 114 T H रोड मद्रास
८० शा० पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पान मार्केट सिकन्द्राबाद A P
८१ शा० लालचद जी भवरलाल जी सचेती जुरोसावास, पाली, (राजस्थान)
८२ शा० जी० सुगालाल जी महावीरचद जी करणावट, जसनगर (केकिन्द)
८३ शा० सुगनराजी चान्मल जी गुगलीया, जसनगर (केकिन्द)
८४ श्रीमान् शा० सुगनचद जी गणेशमल जी भडारी (निम्बाज) बेंगलोर
८५ श्री डी० धवरलाल जी करणावट अचरापाकम, मद्रास
८६ श्री जवरीलाल जी पारसमल जी बालिया मु० पाली (राजस्थान)
८७ श्री चुन्नीलाल जी कन्हैयालाल जी दुधरिया भुवनगिरि, मद्रास

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचद जी श्री श्रीमाल, ब्यावर
२ श्री सूरजमल जी हस्तीचद जी गवाचा जोधपुर
३ श्री सुगनचन्द जी प्रतापचद जी नम्बरिया चौधरी चौक, कटक
४ श्री भेवरचद जी रातन्पिया, रावटसापेठ
५ श्री बगतावरमल जी अचलचद जी सीवगरा ताम्बरम् मद्रास
६ श्री धनमल जी गावरचद जी सीवगरा, जोतारी
७ श्री गणेशमल जी मन्नालाल जी भडारी नीमली
८ श्री माणकचद जी गुगलिया ब्यावर
९ श्री पुखराज जी बोहरा रानीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कला
१० श्री धर्मीचद जी बोहरा जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कला
११ श्री नथमल जी माडनलाल जी मूणिया, पडायस
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी तनवाणी बिनादा

१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड जंकशन
१४ श्री रतनचद जी शान्तीलाल जी मेहता, मादडी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भडारी, बिलाडा
१६ श्री चपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, बिलाडा
१७ श्री गुलावचद जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भवरलाल जी गौतमचद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचद जी राका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री सतोकचद जी जवरीलाल जी जामड,
१४६ वाजार रोड, मदरान्तकम्
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचंद जी ज्ञानचद जी मूथा, वगडानगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, विलाडा
२५ श्री दुलराज इन्दरचद जी कोठारी
११४ तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१
२७ श्री सायरचद जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जवरचद जी चौरडिया, मेडतासिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचद जी गादिया १६२ कोयम्वतूर, मद्रास
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली
३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक
३२ श्री मोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर
३३ श्री चपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना
३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२
३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ वाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४
३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, व्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलवर—केसरीसिंह जी का गुडा
३९ शा० सपनराज जी चौरडिया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी काठारी मद्रास
४१ शा० मीकमचन्द जी चौरडिया, मद्रास
४२ शा० शांतिलाल जी कोठारी, उतशेट
४३ शा० जब्बरचद जी गोकुलचद जी कोठारी, ब्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचद जी गादिया, लाम्बिया
४५ श्री सैंसमल जी बारीवाल बगडीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतमल जी बाहरा १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मसूर १
४७ उदयचद जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी गिरधीचद जी मूथा, मवाडी बाजार ब्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जाधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी गुणावत ४१ बाजार रोड मद्रास
५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, बम्बई ३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पारवाल, बैंगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजड मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी सिनायसिया, मद्रास ११
५४ श्री घासमल जी लालचद जी ललवाणी, मद्रास १४
५५ श्री लालचद जी तजराज जी नलवाणी, त्रिवयोलूर
५६ श्री सुगनराज जी गीनमचद जी जन, तमिलनाडु
५७ श्री मे० मागीलाल जा काठारी मद्रास १६
५८ श्री एम० जवरीलाल जी जन मद्रास ५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, बगलूर-१
६० श्री सुगराज जी शान्तिलाल जी सालेला, तीरवल्लुर
६१ श्री पुखराज जी जुगराज जी काठारी मु० पो० चावडिया
६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचद जी बागाणी मद्रास
६३ श्री रूपचद जा बापणा चड्डावल
६४ श्री पुखराज जी रिखबचन्द जी गागा, मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचद जी चौरडिया, पीचियावरम
६६ श्री मीठमचन्द जी गोतमचन्द जी नुंगिया, पीचियावरम

६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचंद जी बाफणा, बेंगलोर (कुशालपुरा)
६८ श्री धेवरचंद जी मानीराम जी बागोडिया, मु० इमाली
६९ शा० नेमीचंद जी कोठारी नं० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मागीलाल जी मोहनलाल जी रानटीआ C/o नरेन्द्र एवटेरी कम स्टोर, चीक्पेट, बेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लूमचंद जी मंगलचंद जी तातेड़ अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हंसराजजी जसवंतराजजी सुराणा मु० पो० मोजनसिटी
७४ शा० हरकचंदजी नेमीचंदजी सनमाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी चौदरी फलो का वास मु० पो० जालोर
७६ शा० वी० मजनराजजी गोपाटा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्द० कुन्टे नं० ४५८९७७/१४१ भवानी शंकर रोड, बीमाबा बिल्डिंग, दादर, बोम्बे नं० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० गायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचंदजी चांदमलजी मोतकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53.
८० शा० निरमलकुमारजी मागीलालजी खीवसरा ७२, धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३
८१ श्रीमती मोरमबाई, धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (बोपारी) मु० पो० खरतावाद, हैदराबाद ५००००४
८३ शा० सुगालचंदजी उत्तमचंदजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लूंकड़ (कोटड़ी) C/o धमडीराम मोहनराज एण्ड कं० ४८६/२ रेवड़ी बाजार अहमदाबाद-२
८५ शा० गीनमचंदजी नाहटा (पीपलिया) नं० ८, वाडु पलीयार कोयल स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) बस स्टेण्ड रोड यहलंका बेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड मोती ट्रेडम १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्बतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्दराबाद (A P)

८९ शा० एम० पुखराजजी एण्ड कम्पनी मास बाजार दूकान न० ६, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचदजी नागोतरा सोलकी मु० पोस्ट—राणा वायापाली (राजस्थान)

९१ शा० बम्नीमनजी सम्पतराजजी सारीवाल (पाली)
C/o लक्ष्मी इलक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभाषचद रोड, मद्रास १

९२ माणकचदजी ललवानी (मडतासिटी) मद्रास

९३ मागीलालजी टीपरावत (टाकरवास) मद्रास

९४ सायरचदजी गाधी पाली (मारवाड)

९५ मागीलालजी लुणावन, उन्यपुर (राज०)

९६ मरन्गरचदजी अजिनचन्जी मडारी त्रिपोलीया बाजार (जोधपुर)

९७ सुगालचन्जी अनराजजी मूथा मद्रास

९८ लालचदजी सपतराजजी कोठारी वगनार

९९ माणकचन्जी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल बेंगलोर

१०० वक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जनारण) रावटसन पट K G F

१०१ शा० माणकचदजी ललवाणी मेडतासिटी (मद्रास)

१०२ शा० मागीलालजी टपरावत ठाकरवास (मद्राम)

१०३ शा० सायरचदजी गाधी पाली (मारवाड)

१०४ शा० मागीलालजी नूणावन उन्यपुर (मारवाड)

१०५ शा० मडारी सरदारचन्जी अजीतचन्जी जोधपुर

१०६ शा० सुगानचदजी अनराजो मूथा मद्रास, (परमपुर)

१०७ शा० लालचदजी सपनराजजी कोठारी बेंगलोर

१०८ माणकचन्जी महेन्द्रकुमार ओस्तवाल बेंगलार

१०९ B अनराजजी छलाणी रावटसन पट K G F

११० शा० मदनलालजी रीखबचन्जी चोरडीया मेरठ

१११ शा० धनराजजी महावीरचन्जी नूणावत बेंगलोर

११२ शा० बुधराजी रूपचदजी ज्ञामड मेडतासीटी
११३ शा० भवरलालजी गीवराजी मेहता पाली, मारवाड
११४ शा० माणकचदजी लाभचदजी गुलेछा, पाली
११५ शा० घीसुलालजी सम्पतराजजी चोपडा, पाली
११६ शा० उदयराजजी पारसमलजी तिलेसरा, पाली
११७ शा० जसराजी धनराजी घारोलीया, पाली
११८ शा० धनराजी भीकमचदजी पगारीया, पाली
११९ शा० फुलचदजी महावीरचदजी वोरुन्दीया जमनगर, केकिन्द
१२० शा० चतुरभुजी सम्पतराजी गादीया जसनगर, केकिन्द (मदुरीन्तरम)
१२१ शा० सेममलजी महावीरचदजी सेठीया बेंगलोर
१२२ सेसमलजी सीरेमलजी वोहरा पीसागन (सीरकाली)
१२३ श्रीमान मोतीलालजी वोरुन्दिया, मदुरान्तकम् मद्रास
१२४ श्रीमान शुकलचदजी मुन्नालालजी लोढा, पाली (राज०)
१२५ श्रीमान सूरजकरणजी माणकचदजी आँचलिया, जसनगर (राज०)
१२६ श्रीमान घीसूलालजी धर्मीचंदजी गादिया, हैद्राबाद
१२७ श्रीमान वी० रामचद्रजी वस्तीमलजी पटवा, पुदुपेट, मद्रास

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचद जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी बोहरा, ब्यावर
४ श्री लालचद जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गाधी, सिरियारी
६ श्री जवरचद जी बम्ब, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, ब्यावर
८ श्री जुगराज जी भवरलाल जी राका, ब्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धौका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी वोहरा, ब्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खीवसरा, मु० वोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी ललवाणी, बिलाडा

१३ श्री अनराज जी लखमीचद जी ललवाणी आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गान्धिया, आगवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचद जी जागड, रिनाडा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचद जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जबरचद जी शान्तिलाल जी वोहरा कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचदजी गुन्दचा, राजतरोड
१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी सावरिया, साडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी सावरिया, साडराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचद जी वरनोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी साहनराज जी राठाड, मोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गाधी, केसरसिंह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी ममाली जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोकडिया, पाली
२६ श्री पारसमल जी हीरालाल जी बोहरा ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा पाली
२८ श्री नमीचन्द जी भवरलाल जी डग, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, सान्देराव
३० श्री सिहानचद जी कपूरचन्द जी साडेराव
३१ श्री नमीचन्द जी शान्तिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३३ श्री नूनकरण जी पुखराज जी नूगड बिग बाजार कोयम्बतूर
३४ श्री रिखबचन्द जी गुराणा, कानेजरोड कटक (उडीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी राठोडी बाजार स्ट्रीट, मण्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कांकरिया, मद्रास (मद्रासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गांधी केसरसिंह जी का गुडा
३९ श्री अमराज जी धन्नराज जी कोठारी, सवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचन्द जी बाफणा सवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दौलतराम जी कोठारी, सवासपुरा
४२ डा० सालमसिंह जी डावरिया, गुलाबपुरा

४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचंद जी काठेड, ब्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचंद जी खीवसरा, बैंगलोर-२०
४६ शा० पी० एम० चौरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचंद जी नेमीचंद जी पारसमल जी नागोरी, मद्रास
४८ शा० बनेचंद जी हीराचंद जी जैन, सोजतरोड (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मांगीलाल जी गूदेचा, सोजनरोड (पाली)
५० श्री जयंतीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादडी
५१ श्री गजराज जी भंडारी एडवोकेट, बाली
५२ श्री मांगीलाल जी रेड, जोधपुर
५३ श्री ताराचंद जी बम्ब, ब्यावर
५४ श्री फतेहचंद जी कावडिया, ब्यावर
५५ श्री गुलाबचंद जी चौरडिया, विजयनगर
५६ श्री सिंधराज जी नाहर, ब्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, महबाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकंवर जी कटारिया, सहबाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, बिलाड़ा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचंद जी मकाणा, ब्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री बकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादडी (मारवाड़)
६४ श्री मैं० चन्दनमल पगारिया, औरंगाबाद
६५ श्री जसवंतराज जी सज्जनराज जी दुगड, कुरडाया
६६ श्री बी० भंवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकला
६८ श्री आर० प्रसन्नचंद चोरडिया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्राबाद
७० श्री सुकनचंद जी चांदमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कांतीलाल जी बोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी जैन (पाली) बैंगलूर

७३ शा० जी० एम० मङ्गलचद जी जैन (सोजतसिटी)
C/o मङ्गल टेक्सटाईल्स २६/७८ फस्ट फ्लोर मूलचद मारकेट
गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती रतनकवर बाई धमपत्नी गातीलालजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी
प्रकाशचद जी फतेपुरिया की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचद खीवसरा C/o रूपचद विमलकुमार
पो० पेरमपालम, जिला चगलपेट

७६ शा० माणकचन्द जी भवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचद मोहनलाल जैन
१७ बिन्नी मिल रोड, बेंगलोर ५३

७७ शा० ताराचन्द जी जवरीलाल जी जन कदोर्ई बाजार जोधपुर (महामदिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचद जी पोकरणा २८ गोडाउन स्ट्रीट मद्रास १

८० शा० चम्पालाल जी रतनचन्दजी जन (ब्यावर)
C/o सी० रतनचन्द जन—४०३/७ बाजार रोड, रेडीलस मद्रास ५२

८१ शा० मगराज जी माधोलाल जी कोठारी मु० पो० वार ना वाया पीपाड
सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराज जी चम्पालाल जी नाहर C/o मदन इलक्ट्रीकल ६६८
चीकपेट, बेंगलोर ५३

८३ शा० नथमल जी पुखराज जी मीठालाल जी नाहर C/o हीराचन्द नथमल
जन No ८६ मनरोड मुदीरडी पालीयम बेंगलोर ६

८४ शा० पच० मोतीलाल जी शान्तीलाल जी समदरिया मामराज पेट नं०
६८/७ क्रोस रोड बेंगलोर १८

८५ शा० मंगलचद जी रमीरचन्दजी बाहरा C/o नाथीराम गणगमल एण्ड सन्स
No ५६ मसाल पालीयम बेंगलोर २

८६ शा० धनराज जी चम्पालाल जी समदरिया जी० १२६ मीलरोड
बेंगलोर ५३

८७ शा० गिरधारीलाल जी पुखराज जी मेहता C/o मदनलाल मोतीलाल जैन,
गीवरामपट, मसूर

८८ शा० चम्पालाल जी हीराचन्दजी सींगी (सींगीवागी) C/o दीपक स्टोर
हैदरगुडा ३/६/२६८/२/३ हैदराबाद (A P)

८९ शा० जे० वीजेराज जी कोठारी C/o कीत्रयालेन काटन पेट, बेंगलोर-५३

९० शा० वी० पारसमल जी सोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९१ शा० कुशालचद जी रीखवचद जी सुराणा ७२९ सदर बाजार, बोलारम (आ० प्र०)

९२ शा० प्रेमराज जी भीकमचद जी गीवसरा मु० पो० वोपारी वाया, राणावास

९३ शा० पारसमल जी डक (सारन) C/o मायवचद जी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्राबाद (A. P)

९४ शा० सोभाचद जी प्रकाशचद जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचद एण्ड क० मण्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९५ श्रीमती सोभारानी जी राका C/o भवरलाल जी राका मु० पो० व्यावर

९६ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलाल जी राका मु० पो० व्यावर

९७ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील, भैरो बाजार, वेलनगज, आगरा-४

९८ शा० सोहनलाल जी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

९९ भवरलाल जी श्यामलाल जी वोरा, व्यावर

१०० चम्पालाल जी काटेड, पाली (मारवाड)

१०१ सम्पतराज जी जयचद जी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०२ हीरालाल जी खावीया पाली मारवाड

१०३ B. चैनराज जी तातेड अलसुर, वेगलोर (वीलाडा)

१०४ रतनलाल जी घीसुलाल जी समदडीया, खडकी पूना

१०५ मी० नितन्द्र कुमार जी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

१०६ श्रीमान भवरलाल जी श्यामलाल जी वोहरा व्यावर

१०७ श्रीमान चपालाल जी खाँटेर (दलाल) पाली

१०८ श्रीमान सपतराज जी जयचद जी सुराणा (सोजत) पाली

१०९ श्रीमान हीरालाल जी खावीया पाली

११० श्रीमान B चेनराज पाँन ब्रोकर, वेगलोर

१११ श्रीमान रतनलाल जी घीसुलाल जी समदडीया (केलवाज) पूना

११२ श्रीमान निलेन्द्र कुमार सराफ धार M P
११३ श्रीमान सीरेमल जी पारसमल जी पगारिया निमार खेडी
११४ श्रीमान पुखराज जी मुथा, पाली (मारवाड)
११५ श्रीमान मुकनराज जी भवरलाल जी (पच) सुराणा, पाली
११६ श्रीमान सोहनराज जी हेमावसवाला, पाली
११७ श्रीमान बागमल जी धनराज जी कोठेड, पाली
११८ श्रीमान भेरुमल जी तलसरा पाली
११६ श्रीमान बस्तीमल जी कान्तीलाल जी धोका, पाली
१२० श्रीमान जुगराज जी नानराज जी मुथा, पाली
१२१ श्रीमान ताराचद जी हुक्मीचद जी तातेड पाली
१२२ श्रीमान सोहनराज जी बग्डीया पाली
१२३ श्रीमान बस्तीमल जी डोसी पाली
१२४ श्रीमान K बस्तीमल जी राजेन्द्रकुमार बोहरा जसनगर (मद्रास)
१२५ श्रीमान बस्तीमल जी जुगराज जी रोशदिया जसनगर (मद्रास)
१२६ श्रीमान नो० सज्जनराम जी मडलेचा मुनाई वरथलम, (मद्रास)

□ □

हमारा महत्त्वपूर्ण साहित्य

१ प्रवचन-सुधा	५)
२ प्रवचन-प्रभा	५)
३ धवल ज्ञान धारा	५)
४ साधना के पथ पर	५)
५ जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेषण	१०)
६ दशवैकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
७ तकदीर की तस्वीर	—
८ कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
९ कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
१० कर्मग्रन्थ [तृतीय—बन्ध-स्वामित्व]	१०)
११ कर्मग्रन्थ (चतुर्थ-षडशीति)	१५)
१२ कर्मग्रन्थ (पचम-शतक)	१५)
१३ कर्मग्रन्थ (षष्ठ-सप्ततिका प्रकरण)	१५)
१४ तीर्थंकर महावीर	१०)
१५ विश्वबन्धु वर्धमान	१)
१६ सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०] [दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तके]	६)

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

पीपलिया बाजार, ब्यावर